प्र बं ध पू र्णि मा

आलोचना व निबन्ध

* * *

डा० रामरतन भटनागर

आलोचना व निबन्ध

प्रबन्धपूर्णिमा

[उच्च कक्षाओं के लिये ६८ निबन्ध]

लेखक
रामरतन भटनागर

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

निवेदन

१६३६ में मैंने प्रारम्भिक निबन्ध-शिक्षा पर एक पुस्तक लिखी थी जो उसी वर्ष "निबंध-प्रबोध" नाम से प्रकाशित हुई। १६४६ में इस पुस्तक का पाँचवाँ संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ है जिससे यह स्पष्ट है कि पुस्तक उपयोगी सिद्ध हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है जो प्रारम्भिक निबंध-शिक्षा की ड्योढ़ी पार कर चुके हैं और जिनसे आशा की जाती है कि वे विभिन्न विषयों पर उच्चश्रेणी के विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंध लिख सकेंगे। इस श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए बड़ी कठिनाई सामग्री की होती है। जिन विषयों पर उनसे निबंध लिखाये जाते हैं उनकी सामग्री इतिहासों, साहित्य-समीक्षा-ग्रंथों, अधिकारियों द्वारा लिखे गये निबंधों और सामयिक पत्रों में इस तरह बिखरी पड़ी रहती है कि विद्यार्थी सभी विषयों पर लिखने के लिए तैयार नहीं हो सकते। मैंने जहाँ यह प्रयत्न किया है कि एक ओर मैं उन्हें विचारात्मक निबंधों के सुन्दर मॉडिल दूँ, वहाँ दूसरी ओर यह प्रयत्न भी किया है कि विद्यार्थियों का परिश्रम भी बच जाये और उन्हें बिखरी हुई सामग्री एक स्थान पर मिले। इसीलिए मैंने परीक्षापत्रों में पूछे जाने वाले निबंधों में अपने अध्ययन का सार उनके सामने उपयोग के लिए उपस्थित कर दिया है। कुछ

ऐसे निबंध भी मिलेंगे जो साधारणतः परीक्षापत्रों में नहीं दिखलाई पड़ते, परन्तु उन्हें रखने का कारण यह है कि मैं विद्यार्थियों के ज्ञान का विस्तार करना चाहता हूँ और उनके विचार तथा चिंतन के क्षेत्र को संकीर्ण रहने देना नहीं चाहता। मैं समझता हूँ, यह संग्रह जहाँ उन्हें निबंध-लेखन में सहायता देगा, वहाँ विविध विषयों, विशेषकर साहित्य, के सम्बन्ध में उनकी ज्ञान-वृद्धि भी करेगा। इसी विचार से साहित्य-सम्बन्धी-निबन्धों में ऐसा क्रम रखा गया है जिससे विद्यार्थी के ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय और उसे साहित्य की व्यापक समस्याओं और हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों का पूर्ण परिचय हो जाय।

एक बात निबंधों की सामग्री के सम्बन्ध में भी। इस संग्रह के निबंधों की बहुत-सी सामग्री मौलिक है। उसके लिए लेखक ही उत्तरदायी है। परन्तु मौलिकता पर उसका आग्रह अधिक नहीं रहा है क्योंकि वह यह नहीं चाहता कि पाठक पूर्व परम्परा से एकदम हट जाय अथवा उसकी मौलिक वस्तु को ग्रहण ही नहीं कर सके।

इन निबंधों में उद्धरणों की संख्या बहुत कम है, परन्तु जिन विद्वानों के उद्धरणों का मैंने प्रयोग किया, उनका मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग,
१२ नवम्बर १९४६

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
आमुख			१

(क) कला और साहित्य

(ख) हिन्दी साहित्य

विषय | पृष्ठ

(ग) दर्शन और धर्म

(घ) राजनीति और राष्ट्र नीति

(ङ) समाज

(फुटकर)

आमुख

आशा की जाती है कि यह पुस्तक जिसके हाथ में होगी उसने प्रारम्भिक निबन्ध-लेखन का अभ्यास कर लिया होगा। हमें उसे यह नहीं बताना है कि वह निबन्ध किस प्रकार आरम्भ करे, उसे किस तरह आगे बढ़ाये, और अन्त किस प्रकार करे। निबन्धों के भिन्न-भिन्न भेदों और उनकी विशेषताओं के सम्बन्ध में भी वह जानता होगा। हमें इस पुस्तक की भूमिका में एक ही प्रकार के निबन्ध पर विचार करना है—विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध। ऊँची कक्षावाले विद्यार्थियों का सम्बन्ध इसी श्रेणी के निबन्धों से है।

विवेचनात्मक निबन्ध का अर्थ है कि लेखक किसी विषय पर अपना मत प्रकट करे और उस मत को तर्क और दृष्टान्तों से पुष्ट करे। यदि विषय ऐसा हो जिस पर मतभेद है या मतभेद हो सकता है तो लेखक अपना जो मत स्थिर करे उसका विरोधी मत भी दे दे और उसकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना भी कर दे। जहाँ तक संभव हो विषय को स्पष्ट करने के लिए जो दृष्टान्त दिये जायें वे ऐसे हों जिनसे पाठक परिचित हो। साहित्यिकता का थोड़ा बहुत अंश होना आवश्यक है, नहीं तो तर्क और विवेचना की नीरसता में पाठक के खो जाने की आशंका है। विवेचनात्मक निबन्ध में आवश्यक बात यही है कि उसमें किसी भी विषय पर

संक्षेप में गंभीर विवेचन हो और इस विवेचन में तर्क और भावना की मात्रा भी, जितनी जरूरत हो, रहे। फिर चाहे विषय की दृष्टि से वह तर्क किसी सिद्धान्त को पुष्ट करता हो या किसी ऐतिहासिक या वैज्ञानिक जिज्ञासा की तृप्ति। ध्यान देने की बात यह है कि विचारावली का विकास स्पष्ट हो; उसमें साहित्य का रंग रहे परन्तु वह विषय-प्रतिपादन में बाधक न हो; विषय के अनुसार भाषा बदलती रहे परन्तु साधारणतः सरल, सुबोध और अलंकारहीन हो। निबन्ध के लिखने के ढंग मुख्यतः इतिवृत्तात्मक रहेगा, परन्तु आवश्यकतानुसार कोई-कोई पद वर्णनात्मक या कथात्मक हो सकता है।

विषय की विभिन्नता के अनुसार विवेचनात्मक निबन्ध कई भागों में बाँटे जा सकते हैं:—

(क) मनोविज्ञान के आधार पर लिखे निबन्ध।

विषय भेद के अनुसार वर्गीकरण

ये निबन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं—ऐसे निबन्ध जो रूपकों के सहारे लिखे गये हों, मानसिक प्रवृत्तियों पर अथवा उनके आधार पर लिखे निबन्ध, मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक निबन्ध। विद्यार्थियों को इन सभी प्रकारों के निबन्धों में दक्ष नहीं होना है। क्रोध, दया, परोपकार जैसे विषयों पर साधारण निबन्ध लिखने का उन्हें अभ्यास होना चाहिये, परन्तु इन विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखने का अभ्यास उन्हें हो, इससे पहले उन्हें विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है। हमारे साहित्यकारों में से केवल पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार के कुछ निबन्ध लिखे हैं जो "चिन्तामणि" के नाम से संग्रहीत हैं। मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे निबन्धों के लिए विद्यार्थी को उसी पुस्तक के पहले दस निबन्ध देखना चाहिये। ऐसे निबन्ध इस पुस्तक में नहीं मिलेंगे।

(ख) दर्शन सम्बन्धी निबन्ध ।

इस संग्रह का "ज्ञान प्राप्ति के साधन" शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य है। इस श्रेणी के निबन्ध भी साधारण परीक्षा की परिधि के बाहर है क्योंकि परीक्षक प्रत्येक विद्यार्थी से दर्शन-ज्ञान की आशा नहीं रखता।

(ग) साहित्य सम्बन्धी निबन्ध ।

साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे जाते हैं। विषय और दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रकार के निबन्ध के कई भेद हो जाते हैं—विवरणात्मक, ऐतिहासिक, कलात्मक, विश्लेषणात्मक, भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी, तर्क-प्रधान विचारात्मक। इनमें से कलात्मक और भाषाविज्ञान सम्बन्धी निबन्ध क्रमशः साहित्यकारों और भाषा-तत्त्ववेत्ताओं की चीज है। इस पुस्तक में शेष भेदों पर निबन्ध मिलेंगे।

(घ) सामाजिक निबन्ध ।

समाज-सम्बन्धी सुधार-आन्दोलनों कुरीतियों, रीति-रिवाजों, विशेष सामाजिक संस्थाओं पर लिखे निबन्ध इसी श्रेणी में आते हैं। इस पुस्तक में समाज सम्बन्धी कुछ निबन्धों को स्थान मिला है।

(ङ) वैज्ञानिक निबन्ध ।

शुद्ध विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, इतिहास जैसे विषयों पर लिखे निबन्ध अनुसंधानात्मक होने के कारण वैज्ञानिक कहे जायेंगे। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ही वैज्ञानिक निबन्ध दिये जा सके हैं।

ऊपर के विभाजन को देखकर भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विभाजन कृत्रिम है। कारण कि विषय हज़ार हो सकते हैं। यह अवश्य है कि शैली में भी थोड़ा भेद

रहता है। ऐतिहासिक विचारात्मक निबन्ध में साहित्यिकता की रक्षा कुछ अधिक हो सकती है, वैज्ञानिक निबन्ध में कुछ कम। यह भी आवश्यक नहीं कि सभी निबन्धों में साहित्यिकता का पुट रहे भी।

शैली के सम्बन्ध में कुछ विशदता से विचार करेंगे यद्यपि विचारात्मक निबन्ध में शैली मुख्यतः विचारों का वाहन होती है और निबन्ध की सामग्री और उसके विकास का ही अधिक महत्त्व होता है।

शैली

शैली स्वयम् एक बहुत उलझी वस्तु है। उसका प्रयोग कई दृष्टियों से होता है। इस कारण शैली के भेद करने और उसका विवरण करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। लेखक जब कोई रचना करने बैठता है तो उसके तीन उद्देश्य होते हैं (१) वह कोई विचार उपस्थित करना चाहता है और उसकी चेष्टा सदैव यह रहा करती है कि उसके विचार बहुत सुलझे रूप में पाठक के सामने रखे जायें (२) वह इस विचार को अपने एक विशेष ढंग से गढ़ना और उपस्थित करना चाहता है (३) वह इस विचार की अभिव्यक्ति के ढंग में सौन्दर्य देखना चाहता है। इस प्रकार गद्यशैली की स्थापना में बौद्धिकतत्त्व, व्यक्तित्व; रचनाकला का आधार होता है। ये तीनों तत्त्व शैली के ऐसे अंग नहीं हैं जो एक दूसरे से अलग समानान्तर रेखाओं पर चलें। इनमें से प्रत्येक तत्त्व दूसरे का सहारा लेता है। प्रत्येक तत्त्व की दूसरे तत्त्व पर प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार शैली की विवेचना करते हुए हमें एक ऐसे क्षेत्र में काम करना पड़ता है जिसमें कई धाराएँ एक दूसरे में मिल जाती है। इसी से यह विवेचन कठिन काम है।

पहले हम शैली के बौद्धिक तत्त्व पर विचार करेंगे। प्रत्येक

लेखक के सामने कुछ अर्थ विशेष या विचार होता है जिसे वह पाठक के सामने रखना चाहता है। उसका उद्देश्य सूचना या शिक्षा देना होता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि सूचित वस्तु और शैली में कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु कुछ अन्य आलोचकों का यह मत है कि शैली पर विचार किए बिना सूचित वस्तु पर विचार नहीं किया जा सकता। इन पिछले लोगों का यह कहना है कि विचार लेखक के मस्तिष्क में भी भाषा और शैली के द्वारा ही स्पष्ट होता है। भाषा और शैली का आधार पाये बिना विचार कोई भी रूप ग्रहण नहीं कर सकता। वह केवल एक अस्पष्ट, सांकेतिक, उद्भावना-मात्र रह जाता है। इस प्रकार शैली रचनाकार की प्रारम्भिक समस्या है। इसके अतिरिक्त जिस शैली में लेखक सोचता है उसी शैली में वह विचार को पाठक के सामने रखता है। जब कोई विचार पहले-पहल मन में उठता है तो वह बहुत धुँधला होता है। वह कुछ चित्रों व ध्वनियों (शब्दों) के रूप में सामने आता है। उससे लेखक की तुष्टि नहीं होती और वह धीरे-धीरे उसका विकास करना चाहता है। उसके सामने नवीन शब्दावली तथा उसका नवीन संगठन आते हैं। इनमें से वह उनको चुन लेता है जो उसके मौलिक भाव या विचार को विकसित करते हैं और उनको लेकर वह आगे बढ़ता है। इस समय उसके मन में जो शैलियाँ आती हैं उनका प्रभाव भी बीज विचार पर पड़ता है। अन्त में वह एक वाक्यांश या पद को गढ़ता है। जब वह उसकी समाप्ति कर लेता है तब अनुभव करता है कि उसने विचार को पूर्णरूप में स्पष्ट कर दिया। अब वह अपने विचार को पूरा-पूरा और स्पष्ट समझ सकता है। इस प्रकार बीज विचार की धुँधली कल्पना और उसकी विकसित पूर्ण अभियोजना के बीच में लेखक को अनेक शैलियों को टटोलना पड़ता है। इसी बीच में लेखक

एक ऐसी शैली का निर्माण कर लेता है जो उस विचार के प्रगट करने के लिए सब से उपयुक्त है।

किसी विचार को विकसित करते हुए लेखक को सामने के धुँधले केन्द्र से भिन्न-भिन्न दिशाओं में परिधि बनाते हुए चलना पड़ता है। धीरे-धीरे वह उस परिधि का विकास करता रहता है और यहां तक कि वह उसका एक निश्चित रूप नियत कर लेता है। इस प्रयास में उसे तर्क का सहारा लेना होता है और उसके द्वारा वह अपने विचार की शृंखला मिलाता चलता है। वह कल्पना द्वारा अपने विचार की कड़ी को अपने उसी प्रकार के अन्य विचारों और अनुभूतियों की ओर बढ़ाता है।

बौद्धिकतत्त्व की दृष्टि से हम शैली के चार भेद कर सकते हैं। तर्क और मनोवेग की सबलता और शिथिलता से शैली के दो भेद होते हैं—सबल विचारात्मक शैली और शिथिल विचारात्मक शैली। इनमें पहली शैली में तर्क संयत, विश्वसनीय और शक्तिशाली होता है। दूसरे में तर्क शिथिल रहता है। कल्पना का प्रयोग उदाहरणों को उपस्थित करने अथवा अलंकारों के प्रयोग में किया जाता है। अनेक प्रकार के अलंकार हैं और उनके स्थान की दृष्टि से शैली के कुछ भेद भी किए जा सकते हैं, परन्तु दो प्रधान भेद तो स्पष्ट ही हैं—अलंकारहीन शैली और अलंकारयुक्त शैली। अकंकारहीन शैली में किसी प्रकार के अलंकार का प्रयोग नहीं होता। लेखक केवल अपने विचारों को प्रकट करके संतोष कर लेता है। वह उनमें न रस उत्पन्न करना चाहता है, न ध्वन्यात्मक सौन्दर्य। शिक्षाप्रद और वैज्ञानिक निबन्धों में यही शैली चलती है। अलंकारयुक्त शैली शुद्ध साहित्यिक शैली है। भावना या विचार को स्पष्ट करने, उसको प्रौढ़ रूप देने और उसमें साहित्यिक सौन्दर्य एवं आकर्षण उपस्थित करने के लिए इसी शैली का प्रयोग होता है।

शैली और व्यक्तित्व का भी अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। शैली कला है। कला जीवन की अभिव्यक्ति का नाम है परन्तु उसमें जीवन व्यक्तित्व-द्वारा ग्रहण किया जाता है और इसी माध्यम से प्रकाशित भी होता है। विचार के अतिरिक्त लेखक की भावना, भाव अथवा रस के प्रकाशन की वाञ्छा भी होती है। वह किसी विचार या भाव को निष्पक्ष देख नहीं सकता। वह उसे अपनाना चाहता है। उसका मन कहता है कि उसमें आत्मीयता प्रकट करे।

प्रत्येक विचार के साथ भावना का एक अंश भी जुड़ा होता है। यह रस की सृष्टि में सहायक होता है। इस प्रकार शैली का संवेदना से निकट का सम्बन्ध है। प्रत्येक मनुष्य एक-जैसा संवेदनशील नहीं होता, इसलिये संवेदना की अभिव्यक्ति या रस-सृष्टि की दृष्टि से भी शैली के अनेक भेद हो जाते हैं। शैली में सब से अधिक विभिन्नता इसी तत्त्व के कारण आती है। व्यक्तिगत प्रयोगों से लेखक के चरित्र का प्रकाशन होता है, व्यक्तित्व सामने आता है। यदि लेखक के चरित्र में उच्छृ-खलता है तो उसकी रचना में भी उसके दर्शन होंगे। इसी प्रकार शैली का एक दूसरा उद्देश्य मनोरंजनता उत्पन्न करना अथवा रचना को आकर्षक बनाना होता है। उत्तेजना, रस, प्रवाह और आत्मीयता व्यक्तिगत शैली के गुण हैं। बौद्धिकतत्त्व जिस तरह शैली को सार्वभौमिक, परव्यंजक और व्यक्तिहीन बनाते हैं, उसी तरह वैयक्तिक तत्त्व उसे आत्म प्रधान और व्यक्तिगत रंग में रंग देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली में एक ऐसा तत्त्व भी सम्मिलित है जिससे लेखक आत्मप्रकाशन करता है, जिसके द्वारा हम एकदम उसके अन्तरतम-प्रदेश को छान सकते हैं, जो इतना ही मिश्रित और उलझा हुआ है जितना स्वयम् लेखक का

व्यक्तित्व। मनुष्य के सभी कामों में व्यक्तित्व का महत्त्व रहता है। कला के क्षेत्र में उसका महत्त्व और भी अधिक है। कोई भी लेखक अपने को धोखा नहीं दे सकता। लेखक के विचारों में भी यदि सनक हुई, असाधारणता हुई उसके राग-विराग, उसके मानसिक विकार—ये सब उसके शब्दों के चुनाव में, उसके वाक्यों के सगठन में उसके संबोधनों और शब्दसमूहों में, उसके अलंकारों के प्रयोग में अथवा उदाहरणों एवं चित्रों में प्रकाशित होंगे। शैली के व्यक्तित्वमूलक तत्त्व से हमें लेखक की मानसिक विशेषता का पता चलेगा। उस विशेष वातावरण का पता चलेगा जिसमें उसके विचार फलते-फूलते और क्रियाशील रहते हैं।

संक्षेप में, शैली की विशेषता भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। प्रत्येक मनुष्य के विचार उसके अपने ढंग पर प्राप्त होते हैं। वह उन्हें एक विशेष ढंग से प्रगट करता है। उसकी शब्दयोजना, वाक्यों की बनावट, उनकी ध्वनि आदि उसके स्वभाव के अनुकूल विशेष ढंग की होगी। इसीलिये हम शैली की परीक्षा करके लेखक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उसके स्वभाव का निरूपण कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से हम शैली को "भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग" कह सकते हैं।

व्यक्तित्व की दृष्टि से शैलियों के कुछ भेद ये हैं—

१—चित्रात्मक शैली।

इसमें शब्द-चित्रों का प्रयोग किया जाता है। यह शैली वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्धों के लिए उपयुक्त है। इस शैली की सफलता इसमें है कि लेखक शब्दों के द्वारा पाठक की मनः चक्षु के आगे चित्र उपस्थित कर दे। इस शैली में रूपक, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। ये अलंकार कल्पना को उत्तेजित करने में सहायक होते हैं।

२—कथात्मक शैली।

यदि लेखक का विचार रस की उत्पत्ति है और उसकी शैली भावना, चित्रमयता और भावोद्रेक से भरी हुई है तो हम उसे काव्यात्मक शैली कहेंगे। कवियों के गद्य में यही शैली मिलती है। वास्तव में जिसे गद्यकाव्य के नाम से पुकारा जाता है, वह गद्य की काव्यात्मक शैली ही है।

३—मनोवैज्ञानिक शैली।

इसमें मन की सूक्ष्म बातों का बड़ा सूक्ष्म, कभी-कभी उकता देने वाला, विवेचन होता है।

शैली में हृदयतत्त्व का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शैली और व्यक्तित्व पर लिखते हुए हमने रस-सृष्टि को शैली का एक अंग माना है, परन्तु रस का सम्बन्ध लेखक की रागात्मिक वृत्ति से है इसलिये इसे असल में हृदयतत्व के अन्तर्गत आना चाहिये। मनुष्य किसी भाव को यों ही ग्रहण नहीं कर लेता, वह उसमें आनन्द लेना चाहता है। इसका प्रभाव शैली पर भी पड़ता है। सच तो यह है कि किसी घटना के वर्णन में विचार का स्थान इतना नहीं होता जितना भावलोक या वातावरण की सृष्टि का। इससे विचार को स्पष्ट करने की शैली में एक विशेष सौन्दर्य आ जाता है। हृदयतत्त्व की दृष्टि से भी शैली के कई भेद कर सकते हैं—

१—भावात्मक शैली।

इस शैली को हम सबल और शिथिल भावात्मक शैलियों में बाँट सकते हैं। यदि भावना को बहुत अधिक उत्तेजित करने का प्रयत्न किया गया हो, चाहे निबन्ध साथ ही विचारात्मक क्यों न हो, तो हम उस शैली को सबल भावात्मक शैली कहेंगे। इसके विपरीत शिथिल भावात्मक शैली वह है जिसमें भावना का अपकर्ष हो, उत्कर्ष नहीं।

२—रसात्मक शैली।

इस शैली में रसपरिपाक का अधिक ध्यान दिया जाता है और रस की विभिन्नता की दृष्टि से लेखक को अपने वाक्य-संगठन और अपनी अभिव्यंजना को अनेक रूप देने पड़ते हैं।

शैली एक प्रकार की रचनाकला भी है। शैली को प्रभावशाली बनाना पड़ता है और कला की एक व्याख्या यह भी है कि उसका लक्ष्य प्रभाव होता है। रचनाकला का उद्देश्य यह होता है कि वह प्रकाशन के ढग में सौन्दर्य उत्पन्न करे, दूसरों के मनोरंजन और आकर्षण का प्रयत्न करे। प्रत्येक निबन्ध के कई अग होते हैं। रचनाकला का सम्बन्ध इन्हीं भिन्न-भिन्न अगों से है। शब्द, वाक्यांश, वाक्य, पद और अनेक पदों के समूह—ये सब रचना के अंग हैं और इनकी योजना अनेक प्रकार से हो सकती है। रचनाकला को ही शैली समझ लेना ठीक नहीं। रचनातत्त्व शैली का केवल एक भाग है और उसे उतना ही महत्त्व मिलना चाहिये जितना उचित है। रचनाकला का लक्ष्य यह होना चाहिये कि उसके द्वारा शैली प्रभावोत्पादक बने, उसमें आनन्द और सौन्दर्य की स्थापना हो और वह अकृत्रिम जान पड़े। उसकी सफलता तभी है जब वह रचना में आकर्षण पैदा करे परन्तु स्वयम् उसकी ओर पाठक आकर्षित न हो। यह भी आवश्यक है कि रचनातत्त्व के लिये विचार या भाव बलिदान न कर दिया जाय।

रचनातत्त्व की दृष्टि से शैली के दो भाग हो सकते हैं—

१—सुष्ठ शैली।

लेखक अपने विचारों को इतने कम शब्दों में प्रकट करता है जितने कम शब्दों में उन्हें प्रगट करना उसके लिये संभव है। वह केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करता है जिनमें भाव के व्यंजना की शक्ति सर्वाधिक है, जो कुछ न कुछ विशेषता अर्थ में अवश्य लाते हैं। एक ही विचार को वह दुहराता नहीं। इस प्रकार की

शैली में अलंकार को अधिक स्थान नहीं मिलता। यदि अलंकार का प्रयोग होता भी है तो वह वाक्य को सुन्दर बनाने की दृष्टि से। लेखक के वाक्य सुसंगठित और बलशाली होते हैं। उनका लयपूर्ण और संगीतमय होना आवश्यक नहीं है। यह तात्पर्य भी नहीं है कि वाक्य सूत्र बनकर रह जाये।

२—सौष्ठव-हीन शैली।

सौष्ठव-हीन शैली में विषय या विचार का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया जाता है। साथ ही विचार की पुष्टि के लिए लेखक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को सामने रखता है। उसे पुनरावृत्तिकरनी होती है। फलतः शैली तथा वाक्य की शक्ति चली जाती है। परन्तु विषय का सूक्ष्म और विस्तारपूर्ण विश्लेषण इस दोष को बहुत कुछ कम कर देता है। वाक्य लंबे होते हैं। उनमें अलंकारों का प्रयोग भी हो सकता है। यदि वाक्य विस्तार अधिक रहा तो शैली में निर्बलता आ जाती है।

वाक्य विन्यास की दृष्टि से भी शैली के दो भाग हो सकते हैं—(१) प्रसादपूर्ण शैली में अलंकार का प्रयोग अधिक नहीं रहता। यह संभव है कि एक दो अलंकार आ जायँ, अधिक नहीं आने चाहिये। शैली में प्रवाह रहता है। वाक्य-रचना सरल और सुगम होती है। वाक्य छोटे और प्रवाहशील होते हैं। इस प्रकार की शैली में चित्रमयता हो सकती है, शक्ति हो सकती है, परन्तु लेखक कल्पना की उड़ान या ध्वन्यात्मक सौन्दर्य द्वारा पाठक को आकर्षित करना नहीं चाहता। फिर भी वह कठोरता और शुष्कता से बचने का प्रयत्न करेगा और शैली को स्निग्ध बनायेगा। (२) प्रयत्नपूर्ण शैली पिछली शैली की बिलकुल विरोधी है। इसमें शब्दों और वाक्यों के अनुक्रम में बहुधा विपर्यय कर दिया जाता है और वाक्यों का संगठन स्वाभाविक परन्तु कलापूर्ण रहता है। यदि प्रयत्न छिप न सके तो वह एक

दोष बन जाता है। संग्रहीत निबधों में सबल विचारात्मक, अलंकारहीन, सुष्ठ, प्रसादपूर्ण शैली का ही अधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु साहित्यिकता की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी प्रयोग हुआ अथवा व्यंग का सहारा लेकर शैली को थोड़ा व्यक्तिगत बनाने की चेष्टा की गई है। विषय के अनुरूप शैली में भी थोड़ा भेद है, जैसा होना आवश्यक था। इन निबन्धों में साहित्यिकता का प्रवेश किस प्रकार हुआ है, यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—

विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं, वर्गहीन चेतना के अंश मात्र हैं, परन्तु समाज और धर्म के नाम पर वर्ग चल रहे हैं। रोमन केथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, हिन्दू, पारसी, मुसलमान, बौद्ध, जैन—ऐसे कितने ही असंख्य सम्प्रदाय अपनी डेढ़-डेढ़ ईंट की मस्जिदें अलग खड़ी किए हैं। विज्ञान मनुष्य-मनुष्य को पास लाता है, पुराने धर्मसंस्कार उन्हें अलग-अलग कर देते हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, हत्याएँ होती हैं। सच बात तो यह है कि ज्ञान आगे बढ़ गया है। हृदय पीछे छूट गया है। उसने न जाने कितने उपद्रव मचा रखे हैं। यह ही कह सकते हैं कि ज्ञान जहाँ पहुँचना चाहिये, वहाँ पहुँचा नहीं। ज्ञान के वितरण में विषमता है। संसार की अस्सी-नब्बे प्रतिशत जनता लगभग "निरक्षर भट्टाचार्य" है। फिर शान्ति कहाँ से हो? विज्ञान ने सांसारिक सुखों के साधनों में वृद्धि कर दी है। उसे धर्म का विरोधी समझा जाता है। प्राचीन विश्वास दूर हो गए हैं। नये विश्वासों ने जन्म नहीं लिया है। यह अनिश्चितता का युग है। अविश्वास का युग है जिन आध्यात्मिक गुणों को हमारे

समय बदल गया है मनुष्य नहीं बदला है

पूर्वज उपादेय समझते थे, ग्राह्य समझते थे, उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है।" (आज अशांति क्यों ?)

"नवीनता और मौलिकता के उत्साह में हम यह भूल जाते हैं कि स्त्री प्रतिष्ठा का मूलाधार मातृत्व है। मातृत्व के नाश से कालांतर में नारीप्रतिष्ठा का नाश हो जायगा। जहाँ नारी का यौवन विषय-विलास की क्रीड़ाभूमि मान लिया गया, जहाँ उसे मातृत्व का भय और मोह नहीं रहा, वहाँ क्या गर्हित दुराचार न हो सकेंगे। मातृत्व की उपेक्षा से स्वर्ग की देवी गृहिणी नरक की वेश्या बन जाती है। आज हिन्दू समाज नारी की सत्ता को ऊपर उठाने चला है, परन्तु पश्चिम के नये सिद्धान्त उसे एक बार फिर गर्त में ढकेल रहे हैं।"

(हिन्दू समाज में नारी का स्थान)

"परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में किले नहीं उठाती। उसका आधार कवि का इंद्रिय-जन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाती है जो आकाश को चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती, परन्तु भित्ति है अवश्य!"

(काव्य में कल्पना)

"इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस की आधार-भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठा कर कथावस्तु से राम-सीता-मंदिर की स्थापना की गई है। छंद, रस, अलंकार, संवाद, वर्णन, स्तुतियों और गीताओं का उपयोग इस विलाश मंदिर की सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अन्तर्कथाओं और कथा-संकेतों के झरोखे लगे हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है।

दोष बन जाता है। संग्रहीत निबधों में सबल विचारात्मक, अलंकारहीन, सुष्ठ, प्रसादपूर्ण शैली का ही अधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु साहित्यिकता की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी प्रयोग हुआ अथवा व्यंग का सहारा लेकर शैली को थोड़ा व्यक्तिगत बनाने की चेष्टा की गई है। विषय के अनुरूप शैली में भी थोड़ा भेद है, जैसा होना आवश्यक था। इन निबन्धों में साहित्यिकता का प्रवेश किस प्रकार हुआ है, यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—

विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं, वर्गहीन चेतना के अंश मात्र हैं, परन्तु समाज और धर्म के नाम पर वर्ग चल रहे हैं। रोमन केथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, हिन्दू, पारसी, मुसलमान, बौद्ध, जैन—ऐसे कितने ही असंख्य सम्प्रदाय अपनी डेढ़-डेढ़ ईंट की मस्जिदें अलग खड़ी किए हैं। विज्ञान मनुष्य-मनुष्य को पास लाता है, पुराने धर्मसंस्कार उन्हें अलग-अलग कर देते हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, हत्याएँ होती हैं। सच बात तो यह है कि ज्ञान आगे बढ़ गया है। हृदय पीछे छूट गया है। उसने न जाने कितने उपद्रव मचा रक्खे हैं। यह ही कह सकते हैं कि ज्ञान जहाँ पहुँचना चाहिये, वहाँ पहुँचा नहीं। ज्ञान के वितरण में विषमता है। संसार की अस्सी-नब्बे प्रतिशत जनता लगभग "निरक्षर भट्टाचार्य" है। फिर शान्ति कहाँ से हो? विज्ञान ने सांसारिक सुखों के साधनों में वृद्धि कर दी है। उसे धर्म का विरोधी समझा जाता है। प्राचीन विश्वास दूर हो गए हैं। नये विश्वासों ने जन्म नहीं लिया है। यह अनिश्चितता का युग है। अविश्वास का युग है जिन अध्यात्मिक गुणों को हमारे

समय बदल गया है मनुष्य नहीं बदला है

पूर्वज उपादेय समझते थे, ग्राह्य समझते थे, उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है।" (आज अशांति क्यों ?)

"नवीनता और मौलिकता के उत्साह में हम यह भूल जाते हैं कि स्त्री प्रतिष्ठा का मूलाधार मातृत्व है। मातृत्व के नाश से कालांतर में नारीप्रतिष्ठा का नाश हो जायगा। जहाँ नारी का यौवन विषय-विलास की क्रीड़ाभूमि मान लिया गया, जहाँ उसे मातृत्व का भय और मोह नहीं रहा, वहाँ क्या गर्हित दुराचार न हो सकेंगे। मातृत्व की उपेक्षा से स्वर्ग की देवी गृहिणी नरक की वेश्या बन जाती है। आज हिन्दू समाज नारी की सत्ता को ऊपर उठाने चला है, परन्तु पश्चिम के नये सिद्धान्त उसे एक बार फिर गर्त में ढकेल रहे हैं।"

(हिन्दू समाज में नारी का स्थान)

"परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में किले नहीं उठाती। उसका आधार कवि का इंद्रिय-जन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाती है जो आकाश को चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती, परन्तु भित्ति है अवश्य !"

(काव्य में कल्पना)

"इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस की आधार-भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठा कर कथावस्तु से राम-सीता-मंदिर की स्थापना की गई है। छंद, रस, अलंकार, संवाद, वर्णन, स्तुतियों और गीताओं का उपयोग इस विलाश मंदिर की सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अन्तर्कथाओं और कथा-संकेतों के झरोखे लगे हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है।

प्रारम्भिक विनय-चौपाइयों से पाठक भीतर प्रवेश करता है और शिवपार्वती विवाह, नारदमोह, भानुप्रताप और स्वयंभूशतरूपा की कथाओं की ड्योढ़ियों को पार करता हुआ रामकथा के मूर्ति-भवन में प्रवेश करता है। यहाँ उसे भगवान राम, भगवती सीता और पारिषद स्वरूप लक्ष्मण-हनुमान की झांकी मिलती है और राम ही के समान प्रभावशाली एक तापसमूर्ति सामने आती है—यह भरत हैं। आदर्श चरित्रों से मंडित तुलसी की रामकथा ने जनता के लिए एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षागृह का निर्माण किया है।"

(रामभक्ति काव्य और तुलसीदास)

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा कि अलंकारों का प्रयोग, व्यंगशैली का प्रयोग, मुहावरों और कहावतों के प्रयोग शैली को साहित्यिक बनाते हैं। इनके अतिरिक्त कई प्रश्नों को एक साथ रख देने, साहित्यिक पद्य या गद्य के उद्धरणों का समावेश कर देने तथा घरेलू, प्रतिदिन के परिचित कार्य व्यापार से सहारा लेने से भी शैली में साहित्यिकता लाने का पयत्न किया गया है।

शैली ही निबन्ध को आकर्षक नहीं बनाती। और बातें भी हैं। इनमें एक स्वयं विचार है। विचार कुछ इस ढंग से रखे जाएँ कि उनमें नवीनता झलके। उनके द्वारा विषय पर ऐसा प्रकाश पड़ता हो जिसकी साधारण मस्तिष्क आशा न करता हो। विचारों का एक अपना आकर्षण होता है। विवेचनात्मक निबन्धों को स्वयम् विषय-प्रतिपादन के ढङ्ग से रोचक और आकर्षक बनाया जाता है और यहीं लेखक को सारी मानसिक शक्तियों के साथ सतर्क होना होता है। वह क्या कहे, समस्या केवल इतनी ही नहीं है। उसे अपने विषय के लिए सामग्री तो अध्ययन और निरीक्षण द्वारा मिल जायगी, परन्तु वह कहे कैसे? थोड़ी-सी साहित्यिकता का प्रयोग करके यह अपने निबन्ध में पाठक की

रुचि कैसे पैदा करे? उसकी उत्सुकता अन्त तक कैसे बनाए रखे?

विवेचनात्मक निबन्ध के इतने अनेक रूप होने के कारण यह असंभव है कि उसके लिए कोई एक रूपरेखा दी जा सके।

रूपरेखा

प्रत्येक निबन्ध के लिये अलग रूपरेखा होगी। उसके बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि विचारों का तारतम्य टूटने न पाये और आपका दृष्टिकोण सुलझा रहे। विषय के उठान के समय यह ध्यान रहे कि वह रोचक ढंग से आरंभ किया गया हो। उसका विकास स्वाभाविक हो। जब निबन्ध समाप्त हो तो ऐसा लगे कि आपने अपने दृष्टिकोण को सफलता से सामने रखा है और आपकी ओर से जो कुछ कहा जा सकता है वह आपने कह दिया।

—:o:—

कला और साहित्य

१. कला का प्रयोजन

(१) कला की परिभाषा (२) कला के कुछ मान्य प्रयोजन (३) समष्टिरूप से कला जीवन के लिये होनी चाहिये (४) कला और "सेवा"—कला किस प्रकार मानवता की सेवा करे (५) कला द्वारा आनन्द, अध्यवसाय और पराक्रम का संदेश (६) कला के मूल की सृजन प्रवृत्ति (७) कला और जीवन का सम्बन्ध (८) सामयिक जीवन के प्रति कला का उत्तरदायित्व ।

आधुनिक समय में "कला" शब्द का प्रयोग नितान्त नूतन परिभाषा में होता है। पुरातन साहित्य में ६४ कलाओं का उल्लेख है; उनमें संगीत और नाट्य है, काव्य और साहित्य नहीं। वहाँ "कला" का अर्थ "कौशल" है। आधुनिक व्याख्या के अनुसार कला के अर्थ बड़े व्यापक हो गए हैं और उसमें साहित्य, काव्य, संगीत, स्थापत्य आदि सब आ जाते हैं। इन सबके लिए एक साथ किसी एक प्रकार का विधान निश्चित करना कठिन है। परन्तु यह नहीं भी हो सके, तब भी एक मूल प्रश्न सामने आता है—इन सब का प्रयोजन क्या है, कला का प्रयोजन क्या है ?

विद्वानों, कवियों और कलाकारों ने समय-समय पर कला के अनेक प्रयोजन बताए हैं। कुछ ये हैं—

कला-कला के लिए।

जीवन कला के लिए।
कला जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए।
जीवन में आनन्द ढूँढ़ने के लिए।
सेवा के लिए।
आत्मप्राप्ति के लिए।
आनन्द के लिए।
विनोद विश्राम के लिए।
सृजन प्रवृत्ति की परितृप्ति के लिए।
"काव्यं व्यवहार विदे"।

और भी कहे जा सकते हैं—"यशसे", "अर्थकृतः"। यदि हम इन प्रयोजनों का विश्लेषण करें तो दो वर्ग हो जाते हैं—कला अपने लिए है ('आत्मने'), फिर चाहे वह "यशसे" हो, "अर्थकृते" हो, विनोद-विश्राम के लिए हो, सृजन-प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए हो, आनन्द के लिए हो। "स्वान्तः सुखाय" या आत्मप्राप्ति के लिए हो, जीवन के आनन्द के लिए हो, जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए हो अथवा कला के लिए हो। या कला दूसरे के लिए है ('परस्मै'), चाहे वह व्यवहार सिखाने के लिए हो या सेवा के लिए हो या जीवन के लिए। इन दोनों वर्गों में से कौन ठीक है, उपादेय है, इस विषय पर तर्क-कुतर्क चलते रहते हैं। दोनों वर्गों के लोग हठ करते हैं—हमारा ही मत ठीक है।

सच तो यह है कि कला ऊपर की सब चीजों के लिए है और इनके अतिरिक्त और भी बहुत चीजों के लिए है। जब हम अमूर्त्त भावों को मूर्त्त करते हैं तो हमें कला के दर्शन होते हैं। हमारे भाव निरर्थक नहीं हो सकते; यदि हम पागल नहीं हैं तो विशृंखल भी नहीं हो सकते। अतः उनका स्वयम् हमसे या हमारे आसपास के समाज या राष्ट्र से सम्बन्ध तो होगा ही। अनर्गल, निरर्थक विचारों का जिस प्रकार कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार सुन्दर परन्तु

अर्थहीन कलाकृति ही क्या होगी ? अतः यह स्पष्ट है कि कला हमारे अपने लिए होगी या किसी दूसरे के लिए चाहे अन्य व्यक्ति हो, समाज हो, राष्ट्र हो। यदि हम अपने को भी तटस्थ रख कर देख सकें तो वह "जीवन के लिए होगी"—समष्टि के साथ व्यक्ति भी तो है।

वास्तव में कला के दोनों पहलू सत्य हैं—वे विरोधात्मक भी नहीं हैं। यदि कला सार्थक है तो वह दोनों वर्गों की हो सकती है। प्रत्येक रचना से सृजनप्रवृत्ति की परितृप्ति तो होती ही है, आनन्द भी आता है, विनोद-विश्राम भी मिलता है, चूंकि उसमें कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रकट होता है इसलिए आत्मप्राप्ति तो होती ही है। यदि कलाकार अपनी रचना से आनन्द लेना चाहता है, जीवन से ऐसे तत्त्व छाँट निकालना चाहता है जो थोड़ी देर के लिए विषमता से उसे हटा दें तो वह बुरा क्या करता है, यदि वह संविधान के चातुर्य को प्रकट करना चाहता है तो हानि भी क्या है ! यदि कलाकार हवा में नहीं रहता तो उसकी वस्तु जीवन के लिए ही होगी। उससे "सेवा" भी होगी, चाहे वह सेवा इतनी ही हो कि पाठक की संवेदना विकसित हो या उसकी सौन्दर्यवृत्ति को उत्तेजना मिले।

यहाँ तक तो सब ठीक है परन्तु बात कठिन तब हो जाती है जब एक आलोचक वर्ग कहता है—"कला ठोस सेवा करे; धर्मनीति, राजनीति के सम्बन्ध में किसी विशेष धारणा का प्रचार करे या जीवन के नरक को जनता के सामने उठा कर रख दे।" जो कला के शुद्ध रूप के उपासक हैं वे हठ करते हैं—"यह सब हम क्यों करें ? हमें तो आनन्द से ग़रज़ है। हम कला के ऊपर कोई ज़िम्मेवारी नहीं मानते।" जहाँ पहला वर्ग कला से उसी प्रकार काम लेना चाहता है जिस प्रकार वह हड़तालों, अस्त्रशस्त्रों या चीर-फाड़ के औज़ारों से लेता है, वहाँ दूसरा वर्ग उससे

प्रच्छन्न रूप से अपनी एन्द्रियता और विलासिता का पोषण करता है।

कला का उद्गम है आनन्द, अतः आनन्द उसका लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य-प्रचार या हड़ताल आन्दोलन मूलरूप में कला के साथ नहीं जुड़े हैं, इस अर्थ में "कला-कला के लिए है।" कला से मनुष्य को जो आनन्द मिलता है, वही "ब्रह्मानन्द सहोदर" कला का ध्येय है। परन्तु उस आनन्द में और इन्द्रियगत आनन्द में महान अन्तर है। उसके नाम पर वासना को उद्दीप्त करने वाले नग्न चित्रण नहीं हो सकते। कला का आनन्द विलास के आनन्द से कहीं उच्च है। यदि कलाकार "तटस्थता" या "तन्मयता" का आनन्द लेकर बैठना चाहता है तो भी हमें कुछ कहना नहीं है। परन्तु यदि वह एकदम जीवन की सामग्री का उपयोग नहीं करता, हवा में महल बनाता है, तो वह लगभग निरर्थक प्रयास कर रहा है। और हमें उससे न कोई लाभ है, न हानि। अवश्य यह हानि हो सकती है कि वह दूसरों के जीवन को भी आलस्य, निष्कर्मण्यता और अर्थहीन कल्पना से भर देगा जो निःसन्देह राष्ट्र के लिए हानिकारक बात होगी। इतने स्वप्नद्रष्टाओं का राष्ट्र क्या करेगा? यह भी हो सकता है कि वह जिस पलायनशील भावना का पोषण करता है, वह औरों को भी नष्ट कर दे या जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को विकृत कर दे। जिस तरह वह हारा है, वे भी लड़ाई हारी समझें। फिर समाज की अपनी स्थिति क्या रहेगी?

जीवन का दूसरा अर्थ है निरंतर अध्यवसाय और पराक्रम। यदि हम जीना (जीवन बनाए रखना) चाहते हैं तो वह कला दूषित है जो जीवन की लड़ाई को हारी हुई लड़ाई बताकर हमें हथियार डालने को कहती है। यदि हम अपने चारों ओर के जीवन से भाग कर एक काल्पनिक जगत में रहना चाहते हैं,

अपने चारों ओर के जीवन के ही ऐसे पहलू क्यों नहीं ढूँढ़ लेते जिनमें हम आनन्द ले सकें। जीवन में ऐसी क्षमता है कि उसका कोई न कोई पहलू प्रत्येक मनुष्य को आनन्द दे सकता है। फिर हम मृगतृष्णा के पीछे क्यों पड़ें ? जो कलाकार ऐसा करेगा उसका लक्ष्य होगा—" rt as an Escape into Life"। लक्ष्य ठीक होगा।

कलाकृति के मूल में सृजनप्रवृत्ति है, ऐसा हम कह चुके हैं और इस प्रवृत्ति के कारण कलाकार को अपनी कृति से आनन्द भी मिलता है परन्तु यह तो है ही। यह आनन्द, विनोद-विश्राम, आत्मतृप्ति या आत्मसाक्षात्कार (यदि कला में कलाकर अपनी आत्मा के दर्शन पाता है या उसे अध्यात्म बना लेता है) तो अच्छी ही बात है. इससे किसी को लड़ना-झगड़ना नहीं, परन्तु यह तो किसी भी तरह अन्तिम उद्देश्य नहीं हो सकते। मुख्य बात है विषय की। जीवन से विषय लिया जाये या नहीं, दोनों दशाओं में इनकी प्राप्ति तो होगी ही। मुख्य बात तो विषय की ही है।

कला और जीवन का सम्बन्ध क्या हो, मुख्य प्रश्न यही है। यह सम्बन्ध ठीक तरह समझ लेने पर आनन्दवर्ग और उपयोगितावर्ग दोनों में मेल हो सकता है। कलाकार जीवन को स्वीकार कर सकता है, जीवन की निश्चित मान्यताओं में आनन्द ले सकता है और जीवन की निर्णीत धारणाओं का विरोध कर सकता है। कुछ मान्यताएँ चिरन्तन सत्य हैं जैसे सदाचार, धर्म, अहिंसा, जीवनशुद्धता, शुद्ध संस्कारी रसभावना। यदि कलाकार जीवन की निर्णीत धारणाओं को मानता हुआ इन्हें ही प्रश्रय देता है, तो ठीक है। परन्तु यदि वह इनका विरोध करता है, व्यभिचार, अधर्म, हिंसा, पाप-भावना और विकृत रस-भावना (विलासिता) को प्रश्रय देता है, तो यह उचित नहीं। यह कला

के प्रति व्यभिचार होगा। संयम, संस्कारिता, सहयोग—यही वे मूल भावनाएँ हैं जिन पर जीवन टिका है, इनके प्रति विरोध करना जीवन का अपघात करना है। जो कला ऐसा करेगी, वह स्वयम् आत्मघात करेगी।

परन्तु कला सामयिक जीवन के प्रति कहाँ तक उत्तरदायी है, यह कहना कठिन है। आनन्दवादी वर्ग बहुत आगे नहीं बढ़ता। उससे यह ले लो—वह चिरंतन नित्य भावनाओं के प्रति श्रद्धा करेगा, जीवन की सामग्री को शुद्ध रखेगा, परन्तु सामयिक समस्याओं में नहीं पड़ेगा। यदि दृष्टिकोण यही है तो भी हमें कुछ नहीं कहना है। परन्तु यदि वह सामयिक समस्याओं को स्वीकार करके उनके सुलझाने में लगता है और इसमें कला का प्रयोग करता है तो वह विशेष श्रेय का पात्र अवश्य होना चाहिये क्योंकि उस व्यक्ति की अपेक्षा जो वर्तमान के प्रति उदासीन रहता है वह व्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है जो वर्तमान की जिम्मेवारियों को सिर पर ओढ़ता है और उसे भविष्य की ओर प्रगतिशील बनाता है।

२. साहित्य

(१) साहित्य की कुछ परिभाषाएं (२) सर्वग्राही परिभाषा की चेष्टा (३) साहित्य की मूलगत भावनाओं का विश्लेषण (४) शाश्वत साहित्य और जाति-देश-गत साहित्य (५) सब प्रकार के साहित्य में व्यक्तित्व का स्थान (६) साहित्य और विज्ञान (७) साहित्य का विकास।

'साहित्य' किसे कहते हैं, इस पर प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों ने अनेक विचार प्रकट किये हैं। इसीलिये साहित्य की अनेक परिभाषाएँ भी हमारे सामने हैं--

१ परस्पर सापेक्षाणाम् तुल्य रूपाणाम् युगपदेक क्रियान्व-

यित्वम् साहित्यम २ तुल्य वदेक क्रियान्वयित्वम वृद्धि विशेष विषयित्वम व साहित्यम् ३ मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रंथ विशेष: साहित्यम ४ 'सहित' शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है—अतएव, धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, ग्रंथ का ग्रंथ के साथ मिलन है, यही नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग योग साधन है। ५ "Literature, a general term which in default of precise definition, may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race-peculiarities, or of diverse individual temperament or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propagate its ideas and sentiments." "Literature is only one of the many elements is which the energy of an age discharges itself; in its political movements, religious thought, philosophical speculation, art, we have the same energy overflowing into other forms of expressions."

वास्तव में साहित्य की कोई भी एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। जो चीज़ आज बाज़ार में साहित्य के नाम पर चलती है, उसके अनेक रूप हैं—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, जीवन चरित्र, यात्रा, ललित निबन्ध एवं वैज्ञानिक, आर्थिक, औद्योगिक समस्याओं पर वे विचार जो लेख या निबन्ध के रूप में आवद्ध हैं और जिन्हें हम उपयोगी साहित्य कहते हैं।

इस प्रकार का विभाजन स्पष्टतः कृत्रिम है। उसका आधार साहित्य का बाह्य रूप है। मूलतः इनमें भेद वहाँ है? यदि हम उस सब सामग्री का विश्लेषण करें जो इन भिन्न रूपों में हमें हस्तगत होती है तो हमें क्या मिलेगा?—मनुष्य की कल्पना, उसकी इन्द्रिय-द्वारा-प्राप्त अनुभव, उसके विचार, उसकी भावनाएँ एवं भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, उसका ज्ञान, आध्यात्मिक अनुभूति, उसकी सत्यप्रियता जो कहीं सामग्री से अलग है, कहीं उसके साथ-साथ चलती है। यदि हम इस विश्लेषण के आधार पर संक्षेप में साहित्य की परिभाषा देना चाहें तो हम कहेंगे—किसी मनुष्य के इन्द्रियजन्य, विचारजन्य एवं आध्यात्मिक अनुभवों पर उसी मनुष्य के अथवा अन्य संवेदनशील अथवा विचारशील मनुष्य के मन और हृदय की जो प्रतिक्रिया होती है, उससे जो वस्तु भाषा द्वारा प्रकट होती है, वह साहित्य है। यदि हम केवल ललित साहित्य तक ही सीमित रहना चाहें तो "कलाबोध के द्वारा परिचालित" ये शब्द "भाषा द्वारा प्रकट" के आगे जोड़ दे सकते हैं।

परन्तु फिर भी हमें समझ रखना चाहिये कि "साहित्य" अत्यन्त व्यापक शब्द है। उसे एक किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना कठिन है। परन्तु यदि हम जान लें कि साहित्य में क्या चीजें होती हैं, तो यही अलम् है। साहित्य नाम से जो चीज हमारे सामने चलती है वह लिपिबद्ध या अक्षरबद्ध (या शब्द-बद्ध, क्योंकि अक्षर तो संकेत मात्र हैं ध्वनि के) है जो गद्य-पद्य दोनों रूपों में हमारे सामने आती है। इसमें मनुष्य के विचार, उसकी कल्पना उसकी अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं। इसलिये हम एक व्यापक परिभाषा इस प्रकार भी बना सकते हैं—"साहित्य व्यक्ति के अथवा मनुष्य जाति के विचारों, कल्पनाओं और अनुभूतियों का लिपिबद्ध रूप है।"

हम किसी भी वस्तु को तीन प्रकार से देखते हैं:—इन्द्रिय द्वारा, विचार द्वारा और हृदयावेश द्वारा। वास्तव में पहले दोनों प्रकारों का देखना इतना साथ होता है कि जिस वस्तु को हम देखते हैं उसका असली रूप हमारे विचारों में से छन कर ही हमें प्राप्त होता है। यह नहीं कि हम वस्तुओं को केवल वाह्येन्द्रियों द्वारा ही कभी नहीं देखते, ऐसा भी होता है परन्तु उससे ऊँचे साहित्य का निर्माण नहीं होता। तीसरे प्रकार का देखना वह होता है जब हम वाह्य वस्तु या विचार को हृदय की भावनाओं में रँग कर देखते हैं। इससे रस-प्रधान साहित्य की सृष्टि होती है। परन्तु बहुधा तीनों प्रकार का देखना साथ-साथ चलता है। हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाह्य पदार्थ-संसार को देखते हैं, मस्तिष्क का प्रयोग करके उसे अन्य वस्तुओं की वीथिका देकर एक नया रूप देते हैं, उस पर हृदय का प्रयोग करके अपनी "छाप" लगा देते हैं। साहित्य के मूल में यही तीनों प्रकार की दृष्टियाँ हैं।

प्रत्येक देश और जाति के साहित्य में हमें तीन वस्तुएँ मिलेंगी—वह जाति क्या देखती है, क्या सोचती है, उसकी क्या भावनाएँ हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें सब जातियाँ समान रूप से देखती हैं, कुछ विचार ऐसे हैं जिनमें जाति-जाति में भेद नहीं है; अवश्य कुछ किसी विशेष पर अधिक बल देती हैं, कुछ कम। भाव अधिकत: सब जातियों में समान हैं—वही रति, क्रोध, जुगुप्सा, करुणा, हास, उत्साह। जिस साहित्य का आधार ये समानताएँ हैं, उसे हम "शाश्वत साहित्य" कह सकते हैं। इन्हीं समानताओं के कारण कोई भी महान साहित्यिक रचना सहज ही सब जातियों और सब देशों में लोकप्रियता पा जाती है। परन्तु साहित्य का एक बड़ा भाग ऐसा भी है जो जाति-विशेष और देश विशेष का वस्तु होता है क्योंकि उसका आधार होता है जाति-देश-

गत विशेषताएँ। इस विशेष साहित्य में उस जाति का विशेष दृष्टिकोण, उसकी अपनी समस्याएँ, उसका अपना व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।

परन्तु प्रत्येक युग में कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो देश-जाति को पार कर समान रूप से प्रतिम्रित हो जाती हैं। ये विशेष युग की अपनी सम्पत्ति होती हैं। इसी कारण एक युग-विशेष के साहित्य में—चाहे वह किसी जाति का हो—बहुत सी समानताएँ रहती हैं। "So, behind the literature of any period lie the combined forces—personal and impersonal—which made the life of that period, as a whole what it was."

यह सब कुछ है परन्तु साहित्य में व्यक्ति का भी स्थान है। साहित्य का निर्माणकर्त्ता व्यक्ति ही होता है। युगगत, देशगत, जातिगत विशेषताएँ उसी के माध्यम द्वारा साहित्य में प्रवेश करती हैं। कारण कि वह युग, जाति, देश का संस्कृतियों से प्रभावित होता रहता है। स्वयम् उसके व्यक्तित्व के निर्माण में इनका कम हाथ नहीं रहता। शाश्वत गुण भी उसी के द्वारा प्रवेश करते हैं क्योंकि मनुष्य सब जगह समान है। परन्तु जहाँ छोटे साहित्यकारों की रचनाएँ इन प्रभावों के नीचे दब जाती हैं वहाँ बड़े साहित्यकार कुछ ऐसी चीज़ भी दे जाते हैं जो उनकी अपनी होती है। बाद में वही चीज़ उनके साहित्य के द्वारा युग, देश, जाति को प्रभावित करके उनकी भी हो जाती है। तुलसी के साथ में रामभक्ति का उत्साह उनकी वैयक्तिक वस्तु है। वह युग की वस्तु है। वह युग की वस्तु उतनी नहीं है जितनी वह तुलसी के काव्य के माध्यम से युग का प्रभावित करती है।

साहित्य और विज्ञान में क्या भेद हैं? साहित्य का आधार है लौकिक ज्ञान और कल्पना। विज्ञान का आधार है प्रयोग और

प्राप्ति। साहित्य कहता है—चाँद सुन्दर है, रमणी के मुख की तरह, वास्तव में रमणी के मुख से कुछ ही थोड़ा। विज्ञान कहता है—नहीं चाँद उसी तरह कठोर, निर्जीव, धरातल और पहाड़ों का पिंड है जैसे यह हमारी पृथ्वी है। वहाँ सुन्दरता की कोई बात नहीं। साहित्य कहता है—गुलाब फूलों का राजा है। विज्ञान कहता है—नोचो, ये पत्ते हैं, ये पंखुड़ियाँ, ये डिम्ब, यहाँ कहाँ है राजापन। साहित्य कहता है मेरी बात सच है, विज्ञान कहता है मेरी बात। सामञ्जस्य इस प्रकार बिठाया गया है—साहित्य भी सच कहता है, उसका सत्य कल्पना का सत्य है, विज्ञान भी सच कहता है, उसका सत्य वास्तविक सत्य है। देखा यह गया है कि जो कल कल्पना में सत्य था, वह आज वास्तव में सत्य हो गया है; जो आज वास्तव में सत्य है, वह कभी कल्पना में भी सत्यरूप पा सकता है। इसी से विज्ञान और साहित्य के बीच की रेखाएँ खींचना कठिन है। मनुष्य के विकास के प्रारम्भ में विज्ञान और साहित्य एक थे, अब जब कोई आइंस्टाइन विराट सृष्टि की कल्पना करता है तो भी विज्ञान और साहित्य की रेखाएँ मिल जाती हैं।

साहित्य के स्रोत के मूल में आदिम युग का समाज है। इंगितों, भंगिमाओं और चित्रों से शुरू होकर उसने भाषा का रूप पाया और मनुष्य ने उसे सुरक्षित करने के लिए लिपि का आविष्कार किया। तब से लोकगीतों और कंठस्थ काव्य के रूप में चला आता रहा। वर्तमान युग में छापे के आविष्कार ने इसके अनेक रूप कर दिये और काव्य के अतिरिक्त गद्य में भी इसका प्रकाशन संभव हो गया। आज साहित्य अनेक रूपों में इतनी बड़ी मात्रा में हमारे सामने आ रहा है कि हमें उसे अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित करने के लिए बड़े-बड़े पुस्तकालयों की आवश्यकता पड़ी है। इस संचित साहित्यकोष ने हमारी सभ्यता

के विकास की गति में सहस्रशः तीव्रता प्रदान की है। सच तो यह है कि यदि साहित्य आज समुद्र में डुबा दिया जाय तो दो-चार पीढ़ियों के बाद हमें फिर वर्बरता से प्रारम्भ करके अब तक का पाठ नये रूप से सीखना पड़ेगा।

३. साहित्य का उद्देश्य

(१) साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में मतभेद (२) साहित्य के अंग—भाषा, विचार, कल्पना, और भाव (३) दो वर्ग—आनन्दवादी और उपयोगितावादी (४) साहित्य में रस, नीति और बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा (५) साहित्य का उद्देश्य विभिन्न युगों, विचारों और संस्थाओं में कलात्मक समन्वय उपस्थित करना है।

साहित्य के उद्देश्य के विषय में बड़ा मतभेद है। मनोविज्ञान कहता है—प्रत्येक जीवधारी "अहं" की भावना को पुष्ट करना चाहता है। वह "अपने" का प्रकाशन करना चाहता है। इसी आत्मप्रकाशन भावना ने मनुष्य के "साहित्य" को जन्म दिया। आदर्शवादी कहता है—वह ऐसा प्रयत्न है जिसके द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के निकट आता है। नीतिवादी कहता है—उससे मन और आत्मा का परिष्करण होता है। कलावादी कहता है—साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं। वह स्वतः अपना उद्देश्य है। कलाकार या साहित्यकार जब अपने विचार, भाव या कल्पना प्रकट कर देता है तो उसे कुछ और करना धरना नहीं रह जाता।

साहित्य का साधन भाषा है। परन्तु भाषा ही उसका उद्देश्य नहीं हो सकती। जितनी आवश्यकता मूर्तिकार को पत्थर की है, उतनी ही उपयोगिता साहित्य के निर्माता के लिए भाषा की होगी।

जो साहित्यकार भाषा को साहित्य मान लेते हैं, उनके लिए शैली ही सब कुछ हो जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोरे अनगढ़ प्रस्तर में कला का निवास नहीं है। इसी तरह भाषा की कलाबाजी से साहित्य उत्पन्न नहीं होता।

भाषा से आगे बढ़कर हमें मिलते हैं विचार, कल्पना और भाव। विचार यदि कलात्मक ढंग से प्रकट किए जायें तो साहित्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कलात्मक ढंग हमने इसलिये कहा कि एक और ढंग भी है—उपयोगात्मक या व्यवसायी। कौन ढंग कलात्मक है, कौन व्यवसायी, यह सहृदय पाठक जानता है। विज्ञान-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य व्यवसायी साहित्य या उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत आ जायगा। कल्पना दो प्रकार की हो सकती है—सार्थक, निरर्थक। इनमें से कौन से प्रकार की कल्पना के भाषाबद्ध कलात्मक रूप को हम साहित्य कहेंगे? यहाँ पर फिर हमें मतभेद मिलता है। कुछ लोग कहते हैं निरुद्देश्य कल्पना साहित्य नहीं है, वह भले ही दिवः स्वप्न हो, पागल का प्रलाप हो, या मनोवैज्ञानिक के लिए एक समस्या हो। साहित्य निरर्थक नहीं होता। वे लोग कहते हैं—कल्पना का जनहित से कोई न कोई सम्बन्ध होना अवश्य चाहिये, उसे खाली बैठे की उधेड़-बुन नहीं होना चाहिये, जीवन से उसका कोई न कोई सम्बन्ध हो। दूसरे कहते हैं कल्पना में सुन्दरता हो यही बहुत है, वह सुन्दर रूप से प्रकट हुई तो साहित्य बन गई, उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता से क्या हुआ। भावों के विषय में भी मतभेद है। कुछ कहते हैं—भावों को प्रकट कर देना भर साहित्य-निर्माण कर देना है चाहे वह भाव सार्थक हो या निरर्थक, श्लील हो या अश्लील। कुछ कहते हैं—नहीं, भाव श्लील हों, मन का परिष्कार करें, पाठक को नैतिकता की उच्च भूमि पर उठाएँ।

साहित्य और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो

विश्लेषण उपस्थित किया है, उससे सामान्यतः दो वर्गों के लोग मिलेंगे। एक जो कहते हैं—साहित्य का यदि कोई उद्देश्य है तो आनन्द, लिपिबद्ध विचार, कल्पना और भावों के घात-प्रतिघात जब आनन्द दें तो उन्हें साहित्य कहेंगे। दूसरे वर्ग के लोग कहते हैं—साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग़ पर असर डालने का गुण हो। वह "जीवन की आलोचना" हो या "जीवन का दर्पण हो" या कम से कम जीवन के प्रति एक दम ग़ैर ज़िम्मेदार नहीं रहे।

रस की दृष्टि से यह ठीक है कि साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; नीति की दृष्टि से यह भी ठीक है कि साहित्य हमारी वासनाओं और हमारे कुसंस्कारों को ही व्यक्त नहीं करे, सुन्दरता के नाम पर भी नहीं। कम से कम वह रुचि को नहीं बिगाड़े; बुद्धि की दृष्टि से वह उसके (बुद्धि के) साथ व्यभिचार (या खिलवाड़) न करे, उसे भी कुछ दे। "जीवन की आलोचना"—ठीक है, परन्तु जीवन क्या नहीं है। साहित्य में जीवन की आलोचना किस प्रकार हो, किस हद तक हो, ये मतभेद के विषय हैं। जहाँ जीवन का प्रश्न है वहाँ फिर यह प्रश्न होता है—किस समय का जीवन, क्या अतीत, क्या वर्तमान या भविष्य ? और किस वर्ग का जीवन ? वर्गविभेद के इस युग में हमारा ध्यान अमीरों और राजामहाराजाओं और सामंतों से उतर कर साधारण खेतिहरों, मजदूरों, परिवारों की ओर गया है और हम इन्हीं को साहित्य का अन्तिम लक्ष्य मानने चले हैं। साहित्य के जीवन की आलोचना का क्या रूप हो, यह भी निश्चित नहीं है।

निश्चित रूप से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि साहित्य में समेट कर चलने की भावना है। यही भावना

साहित्यसृजन के मूल में है। मनुष्य चिरकाल से मनुष्य-मनुष्य, जड़-चेतन, दृश्यमान जगत और अदृश्यमान कल्पना-जगत, संस्था-संस्था, विचार-विचार और भाव-भाव में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करता चला आता है। इस चेष्टा के लिए विचारों, कल्पनाओं और भावों का आदान प्रदान नितान्त आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा सम्बन्ध जुड़ता है। अतः, साहित्य के मूल में अपने को दूसरे के निकट बैठाने का भावना काम करती रही है। इस सहयोग की भावना का प्रसार साहित्य का उद्देश्य होना चाहिये।

४. साहित्य समाज का दर्पण है

(१) साहित्य और समाज के अनिवार्य संबंध की परंपरा (२) साहित्यकार या तो समाज की व्यवस्था स्वीकार कर लेता है या उसका विद्रोह करता है (३) समाजगत और व्यक्तिगत साहित्य (४) हिंदी साहित्य के इतिहास से स्पष्टीकरण (५) लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य में समाज का प्रतिष्ठ ।

साहित्य और समाज का किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध साहित्य के आविर्भावकाल से अब तक चला आ रहा है। ऐसा होना आवश्यक था क्योंकि साहित्यकार समाज का ही प्राणी होता है, वह समाज के व्यवहार, वातावरण, धर्म-कर्म, नीति आदि से ही अपने उपादान चुनता है। ऐसे व्यक्ति की रचना से समाज का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध न हो, यह कैसे हो सकता है। आदि काव्य रामायण में वाल्मीकि ने रामकथा के रूप में एक सामाजिक व्यवस्था को ही हमारे सामने रखा है। राज्य और कुटुम्ब की अपने समय की व्यवस्था को कवि ने स्वीकार कर आदर्श रूप दे दिया है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे साहित्य और समाज का एक ही प्रकार का सम्बन्ध प्रकट हुआ है अर्थात् साहित्यकार समाज की व्यवस्था स्वीकार कर लेता है और उसका साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है। परन्तु एक दूसरे प्रकार का साहित्य भी है जिसका समाज से दूसरे प्रकार का सम्बन्ध है। यह साहित्य समाज की व्यवस्था की कटु आलोचना करता है अथवा उसे एकदम अस्वीकृत कर देता है। इस साहित्य के ऊपरी उपादान चाहे बाहर समाज के ही हों, परन्तु मूल में यह विद्रोही एवं क्रान्त-द्रष्टा होता है। जहाँ पहले वर्ग का साहित्य समाज की मान्यताओं को मान लेता है या कम से कम उसकी त्रुटियों की उपेक्षा करता है, शुतुरमुर्ग़ की तरह रेत में आँख मूँद कर पड़ा रहता है, वहाँ इस दूसरे प्रकार का साहित्य समाज की नीति-धर्म की मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा करता है, पद-पद पर अनेक प्रश्न उपस्थित करता है। इसके रचयिता ऐसे व्यक्ति होते हैं जो समाज की कल्याण-भावना से प्रभावित होकर उसके प्रति असहिष्णु हो जाते हैं और निर्णीत धारणाओं का विरोध करते हैं। इनके साहित्य में हमें समाज का प्रतिबिम्ब कम मिलेगा, उसकी आलोचना अधिक। देखा गया है कि साधारणतः इस प्रकार के साहित्य का समाज विरोध करता है, परन्तु धीरे-धीरे उसे उसके प्रकाश में अपनी मान्यताओं को बदलना पड़ता है। कुछ समय के बाद ये नई मान्यताएँ फिर जड़ हो जाती हैं, समय से पिछड़ जाती हैं और जहाँ एक वर्ग का साहित्य उन्हें ही पकड़े रहता है, वहाँ दूसरे वर्ग का साहित्य फिर आलोचना करता है। इस प्रकार इस साहित्य में और उसके समय के समाज में लगातार युद्ध होता रहता है। उसके निर्माता उपेक्षित रहते हैं परन्तु आगे के साहित्य

और समाज के निर्माण की आधार-शिला उन्हीं के साहित्य पर रखी जाती है।

इस प्रकार हम साहित्य और समाज का सम्बन्ध दो रूपों में देखते हैं—एक है समाज की स्वीकृति का साहित्य, जिसमें हम समाज का प्रतिबिम्ब पाते हैं, और जो अपने समय से सन्तुष्ट रहता है और उसकी वाहवाही लेकर चलता है. दूसरा है समाज की अस्वीकृति का साहित्य जो समाज की आलोचना करके उसे आगे बढ़ाता है और जिसमें हमें समाज के प्रति असन्तोष और उपेक्षा के दर्शन होते हैं। पहला जड़ है, दूसरा सतत प्रगतिशील, सदैव गतिमय। यह भी सम्भव है कि जो साहित्य एक समय गतिशील जान पड़े, वही भविष्य की पीढ़ियों को अत्यन्त रूढ़िवादी जँचे। समाज की मान्यताएँ बदलती रहती हैं। पिछली मान्यताएँ पुरानी पड़ जाती हैं और उनका साहित्य भी। हाँ, यह अवश्य है कि इन मान्यताओं के सिवा जो अन्य चिरंतन भावनाएँ होती हैं उनका मूल्य उसी प्रकार बना रहा है और उन्हीं के कारण महान् कृतियाँ किसी भी युग में पूजी जा सकती हैं।

संक्षेप में, हम पहले साहित्य को समाजगत साहित्य कह सकते हैं, दूसरे को व्यक्तिगत। दोनों को प्रेरणा समाज से ही मिलती है, परन्तु मूल्य बदल जाते हैं। समाजगत साहित्य समाज को स्वीकार ही नहीं करता, उसे उसी तरह बनाये रखना चाहता है; वह प्रतिक्रियावादी है। व्यक्तिगत साहित्य समाज में परिवर्तन चाहता है; वह क्रान्तिवादी या परिवर्तनवादी है। उसकी आँख सदैव भविष्य पर रहती है। वास्तव में, प्रत्येक व्यवस्था में, चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—एक उसके स्थायित्व के लिए प्रयत्न करती है, दूसरी उसे गतिशील देखना चाहती है। यदि पहले प्रकार का साहित्य समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है तो

दूसरे प्रकार का साहित्य उसकी प्रगति के लिए। तुलनात्मक दृष्टि से पहला दूसरे की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि प्रगति की शक्तियाँ ढीली पड़ जायें तो समाज जड़ होकर सड़ जाये और कालान्तर में नाश को प्राप्त हो।

अपने यहाँ के साहित्य के उदाहरण से ये बातें स्पष्ट हो जायेंगी। भक्ति-काव्य, रीति-काव्य और आधुनिक सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मानते हुए, उन्हें ग्रहण करते हुए और बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से उन्हें अपने में धारण करते हुए चले हैं। वे अपने समय का पूरा प्रतिबिम्ब है। उनमें विद्रोह नहीं, स्वीकृति है। इसी कारण उन्हें अपने समय में लोकप्रियता मिली, उनके स्रष्टा पूजे गये। सन्तों के काव्य ने मध्ययुग के समाज की आलोचना की, उसके स्रष्टा उपेक्षित रहे। वर्तमान समय में साहित्यकार समाज के कटु आलोचक बन गये हैं। समाज का चित्र उपस्थित करते हुए व उस पर गम्भीर और कड़ी चाट करते हैं। धीरे-धीरे सुधारवादी दृष्टिकोण क्रान्तिकारी दृष्टिकोण में परिवर्तित हो रहा है। ये उज्ज्वल भविष्य के लक्षण हैं। यह कहना कठिन है कि किस प्रकार का साहित्य अधिक उन्नत होगा। परन्तु समाज की स्वीकृत वाले साहित्य को रूढ़िगत भावनाओं, साहित्यिक परम्पराओं आदि का सहारा है, अतः उसे प्रौढ़ता के लिए लड़ना नहीं पड़ता। संघर्षमय प्रगतिशील साहित्य को इस प्रकार की रूढ़ियों का सहारा नहीं मिलता। जो हो, समाज के लाभ की दृष्टि से दूसरा ही अधिक उपादेय है, चाहे उसमें कला के उतने अच्छे दर्शन न हों, जितने पिछले साहित्य में।

साहित्य समाज का दर्पण अवश्य है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में उसमें समाज का हृदय बोलता है। कवि समाज का ही व्यक्ति है। उसका साहित्य मनुष्यों से सम्बन्धित होगा, अतः

उसमें समाज के चित्र होंगे, समाज के सम्बन्ध में विचार होंगे। ये चित्र और विचार बहुत कुछ उस समाज के ही प्रतिबिम्ब होंगे जिसमें कवि ने जन्म लिया है, जिसने उसके विचारों का निर्माण एवं संस्कार किया है, जिसके वातावरण में वह लिख रहा है। कालिदास विलास-वैभव के युग में रह रहे थे। उन्होंने शिव-पार्वती के नग्न शृंगार का वर्णन कर दिया। उनके काव्य में गुप्तकाल की राज्यलक्ष्मी का विलास-वैभव झलक रहा है। स्त्रियों की पराधीनता और राजनैतिक उदासीनता के युग में तुलसीदास कहते हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।
कोउ नृप होउ हमें का हानी,
चेरी छाँड़ि न होवउं रानी।

हरिश्चंद के साहित्य में सामाजिक क्रान्ति के चित्र स्पष्ट हैं। यदि साहित्यकार एकदम अध्यात्म नहीं लिखता, यदि वर्डस्वर्थ के "स्काइलार्क" की तरह उसके गीतों का पार्थिव आधार भी है, तो निस्सन्देह, चाहे वह विरोध ही क्यों न कर रहा हो, उसके साहित्य में उसके समय का समाज, उसकी विशेषताएँ, उनकी चिंतन-धाराएँ स्थान पायेंगी।

५. कविता जीवन की आलोचना है

(१) भूमिका (२) आनल्ड की इस उक्ति की सीमाएँ (३) कल्पना के सत्य और जीवन के सत्य का सामञ्जस्य (४) आर्नल्ड भी कविता को एकमात्र जीवन की आलोचना नहीं मानते (५) आर्नल्ड का सच्चा मंतव्य।

अँग्रेज आलोचक मेथ्यू आर्नल्ड के ये कुछ शब्द आज प्रत्येक

समीक्षक की लेखनी पर नाच रहे हैं—"काव्य जीवन की समालोचना है।" लोग कहते हैं, उत्कृष्ट काव्य जीवन के सत्य और सुन्दर का प्रतिरूप मात्र हैं। मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को "Criticism of Life" कहा तो, परन्तु उन्होंने कहीं भी इस उक्ति को विवेचनापूर्वक स्थापित नहीं किया, फलस्वरूप "जीवन की आलोचना काव्य किस रूप में है" इस सम्बन्ध में प्रतिदिन तर्क-कुतर्क चलते रहते हैं।

वास्तव में आर्नल्ड ने इस उक्ति को कथाकाव्य के सम्बन्ध में प्रकाशित किया। होमर, गेटे, शेक्सपियर प्रभृति महाकाव्यकारों की कृतियों में मनुष्य-जीवन के प्रति जो लोकोत्तर संदेश निहित हैं, उसीकी ओर कवि का व्यंग है, यह निश्चित है। इन महाकवियों के प्रसंग में भी हम "आलोचना" शब्द का अर्थ उस प्रकार नहीं ले सकते जिस प्रकार का अर्थ हम राजनीति-पंडित या अर्थशास्त्री या साहित्य शास्त्री की आलोचना का लेते हैं। कारण कि काव्य न राजनीति है, न अर्थशास्त्र है, न साहित्य-शास्त्र। उसमें अभिधा कम है, व्यंजना अधिक। इन महाकवियों में से प्रत्येक ने उस समय का जीवन क्या था, कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्ध में सुबद्ध तर्क मंडित बात कोई भी नहीं कही। वैसे अपने समय के जीवन से उठकर एक आदर्श जीवन बनाने की भावना उनमें है।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आर्नल्ड ने काव्य को Truth of Substance भी कहा है उसमें high poetic seriousness की भी वांच्छनीयता प्रगट की है। उन्होंने और भी कहा है—"The high seriousness which comes from absolute sincerity"। फिर आर्नल्ड केवल कथात्मक काव्य के ही आलोचक नहीं हैं, उन्होंने ही गीतकार शैली के विषय में कहा है—"that beautiful spirit building his many-coloured.

haze of words and images pinnacled dim in that intense urge" । इन सब बातों का सामञ्जस्य होना चाहिये ।

एक और शब्द है—"Poetic truth" "कल्पना का सत्य या काव्य सत्य ।" प्रश्न यह है कि कल्पना के सत्य और जीवन के सत्य में क्या सम्बन्ध है ? मनुष्य अपनी कल्पना को प्रमाणित करता हुआ जिस मनोहर स्वर्ग-सृष्टि का निर्माण करता है—जिसमें पाप का फल सदा ही बुरा है, पुण्य का फल सदैव सुन्दर है—उसकी ईश्वर की सृष्टि से संगति किस प्रकार बैठे ? क्या कल्पना के स्वर्ग एकदम अवाञ्छनीय हैं ? क्या कवि ईश्वर की सृष्टि को दर्पण की तरह झलका भर दे ?

जिस कल्पना में वास्तविक जीवन के प्रति कोई गहरी अनुभूति नहीं, जो हमारे परिचित जीवन पर आश्रित नहीं, जिसके पैर धरती पर टिकते ही नहीं, वह उद्देश्यहीन है, निरर्थक है। उस कविता में absolute sincerity (सच्चाई) कहाँ होगी; high seriousness (गम्भीरता) कहाँ; वह Truth of Substance (सृष्टि का रहस्य सत्य) से अनुप्राणित ही नहीं। परन्तु आर्नल्ड कविता को विचारात्मक जीवन दर्शन से ऊपर उठा देखना चाहते हैं, यह भी निश्चय है। उनकी ही उक्ति है—"For supreme practical success more is required than the powerful application of ideas to life. It must be an application under the condition fixed by the laws of poetic truth and poetic beauty." स्पष्ट है, आर्नल्ड भी कविता को उस हठ से एकमात्र जीवन का आलोचना नहीं मानते हैं जिस हठ पर कई आधुनिक आलोचक अड़े हुए हैं।

आर्नल्ड का मंतव्य इतना ही है कि कविता भावविलास-मात्र, कल्पनाविलास-मात्र एवं चिंताविलास-मात्र नहीं है। महान्

कवि के अंतर्जगत और वहिर्जगत में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। जो कवि जीवन और जगत व्यवहार से परिचित नहीं है, जिसने सृष्टि रहस्य की उपेक्षा की, जागृत प्रत्यक्ष की अवहेलना कर जो अपने स्वतः रचित मोह विकार और स्वप्न प्रलाप के मायाजाल में फँस गया है, उसे काव्य के सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती और वह उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं कर सकता। हमारे देश में एक वर्ग ने कवि-कर्म को कौशल माना है। उसने काव्यवस्तु अर्थात् काव्य के अंतरंग को प्रधानता न देकर उसके वहिरंग को श्रेष्ठता दी है। उसके लिए अलंकार ही सब कुछ हैं। यदि हम आर्नल्ड की उक्ति रख सकते हैं तो उनके सामने कि कविता अलंकारों से भिन्न है, कि वह निरुद्देश्य नहीं है, कि केवल अलंकार और विभावानुभाव के ढाँचों में बँधकर पद्य कविता नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त इस प्रसिद्ध उक्ति में और कुछ तथ्य ही नहीं है।

६. साहित्य और आचार

(१) भूमिका (२) साहित्य की आचारनिष्ठा के विद्रोह का रहस्य (३) स्वस्थ मनुष्य और विकृत मनुष्य की कला-सम्बन्धी धारणाएँ (४) प्राचीन काव्यशास्त्री और आदि रस (५) आधुनिक साहित्य में प्रेम के स्थान पर लालसा की प्रतिष्ठा (६) साहित्य-निष्ठ आचार के प्रति विरोध की निर्बलता।

साहित्य आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र नहीं है इसमें तो कोई संदेह नहीं, परन्तु फिर भी साहित्य और आचार में कोई संबन्ध हो सकता है। साहित्यकारों का एक वर्ग अपने को किसी भी बन्धन में बाँधना नहीं चाहता। वह कहता है— उच्छृङ्खलता और विद्रोह ही साहित्य को प्रगतिशीलता देते हैं।

साहित्य पर समाज और उसके आचार-विचार का नियंत्रण अवाञ्छनीय है।

यों देखने में बात बुरी नहीं लगती। कवि द्रष्टा है। कवि ऋषि है। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू। उसे किसी बंधन में न बाँधो। बात अच्छी है और सीधी है। परन्तु तब हम देखते हैं कि इस वर्ग की याचना के मूल में भोगलिप्सा है, इन्द्रिय-निष्ठ आनन्द की प्रेरणा है अथवा और कुछ न हो नियमोल्लंघन का उल्लास ही है। क्या ये अच्छी बातें हैं ? क्या इन कवियों और साहित्य-सृष्टाओं को आचारशास्त्र से मुक्ति इसीलिए चाहिये कि ये पशुवत नग्न नृत्य कर सकें और अपनी नग्नता को काव्य का विषय बनायें ?

हम यह जानते हैं कि स्वस्थ मनुष्य और विकृत मनुष्य में अन्तर है। हमारे साहित्यकार पुराकाव्य और पुरावास्तुकला (मूर्तिकला) की दुहाई देकर कहते हैं—यह लो, हमारे पुरातन मनीषियों ने देह को जो स्थान दिया है, वह हम क्यों नहीं दें। वे हमारे सामने अजन्ता की नग्न मूर्तियाँ रखते हैं, पुराण रखते हैं, कालिदास का साहित्य रखते हैं। हम क्या गए-गुजरे हैं ? परन्तु वे यह नहीं जानते कि हमारे पूर्वज अतिकाम से ग्रसित नहीं थे, उन्होंने अन्न, जल, वायु की तरह काम को भी स्वाभाविक समझा ही नहीं, हृदय से माना भी था। उन्होंने काम को प्रधानता नहीं दी थी जैसा अर्वाचीन देना चाहते हैं। और उन्होंने देह के ऊपर आत्मा को भी स्थान दिया है जो बात अर्वाचीन भूल जाते हैं। वास्तव में हमारे और प्राचीनों के मूल भाव में भेद है। प्राचीन साहित्य में आज जो अश्लील कहा जाता है, उसमें और उस अश्लीलता में मौलिक भेद है जिसे नूतन साहित्यमनीषी रंगमंच पर देखना चाहते हैं। अश्लीलता का अर्थ तो एक ही है—नर-नारी के यौन व्यापार का स्पष्ट उल्लेख। परन्तु भेद

दृष्टिकोण का है। आधुनिक कवि देह-आत्मा में विरोध देखता है। प्राचीन कवि देह को स्वीकार करता है और आत्मा को भी उतना ही महत्व देता है। देह-आत्मा मिलकर उस चरम सत्य की उपलब्धि करें—यह है उद्देश्य। आज का कवि देह से चिमट कर रह जाता है। उसके लिए देह साधन नहीं, साध्य है। प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध को आदि रस (शृङ्गार) बना दिया है। आधुनिक कवि जिसे प्रच्छन्न रखेगा, संस्कृत भाषा में एक विशिष्ट परिपाटी का पालन करता हुआ प्राचीन कवि उसे भी कह जायेगा। यही नहीं, वह उसे रससिद्ध करेगा। "अश्लीलता" और "ग्राम्यता" अलंकारिक दोष अवश्य मानते थे, परन्तु ये दोष भाषागत दोष हैं। आज अस्पष्टता और प्रच्छन्नता या व्यंजना का आश्रय लेकर नूतन कवि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के नग्न चित्र उपस्थित करेगा और उन्हें श्लील कहेगा, प्राचीनों के स्पष्ट और पापबोधरहित जीवनधर्मी काव्य को अश्लील कहकर उसकी खिल्ली उड़ायेगा।

बात तो यह है कि आधुनिक साहित्य का लक्ष्य प्रेम अथवा शृङ्गार है ही नहीं, लालसा है। देह-सम्बन्धी मानसिक उत्कंठा है। देह के प्रत्यक्ष परिचय से दूर रहकर आज का साहित्यकार तीव्र इन्द्रियानुभूति का आस्वादन करना चाहता है। देह के सम्बन्ध में हम कुछ हद से अधिक सचेतन हैं, इस कारण प्राचीनों पर आक्षेप करते हुए भी हम आचारमुक्त होना चाहते हैं। अधिकांश में तो हम वाक्य-भंगिमा में अथवा रूपक में अपनी लालसा प्रच्छन्न करते हैं या मनोविज्ञान का सहारा लेकर देह के कम्पन-सिहरन, स्पंदन-स्तंभन आदि का ऐसा सूक्ष्म वर्णन करना चाहते हैं जो प्राचीनों का ध्येय हो ही नहीं सकता था। हमने साहित्यकला को विलासकला बना दिया है।

परन्तु इतना सब होने पर भी आज का साहित्य-सृष्टा कहता

है—साहित्य नीति-निरपेक्ष है, अतः वह आचार को मानने के लिए बाध्य नहीं।

कदाचित् यह वस्तु-स्थिति के प्रति विरोध का कोई रूप हो परन्तु इस विरोध में बल नहीं। श्रेष्ठ काव्य नीति का ऋणी है। वह विद्रोहमूलक होगा तो विद्रोह के मूल में नीति-भावना रहेगी। कवि सत्य का झंडा लेकर खड़ा होगा, युग-संचित शैवाल-राशि को शाश्वत जीवन तत्त्वों से हटाने के लिये उद्बुद्ध होगा। जो साहित्य की नीति है, शाश्वत नीति, लोकमंगल, उसीकी प्रतिष्ठा करना साहित्यकार का आदर्श है। आत्मविज्ञाम के लिए सामाजि मर्यादा के प्रति जो विद्रोह होगा वह अनैतिक और असंग्रहणीय होगा।

७. साहित्य में शैली का स्थान

(१) भूमिका (२) शैली की परिभाषाएँ (३) चिंताधर्मी शैली और अनुभूतिधर्मी शैली—दूसरे प्रकार की प्रमुखता (४) भाव प्रधान शैली (५) तीनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण और उनका स्पष्टीकरण (६) तीनों प्रकार की शैलियों के मूल की व्यक्तिगत चेष्टा (७) व्यक्तित्व के प्रकाशन की अनेकमुखता की शैली-वैभिन्न्य का कारण है।

अंग्रेजी में जिस परिभाषा में "Style" शब्द का प्रयोग होता है, लगभग उसी परिभाषा में हिन्दी में "शैली" शब्द का प्रयोग हो रहा है। उसकी "भाषा शैली सुन्दर है" "उसकी शैली चमत्कारक है", "द्विवेदी जी की शैली", "हरिश्चंद्री भाषा"—इस प्रकार के कितने ही वाक्य प्रतिदिन प्रयोग में आते हैं। अतः यह जानना उपादेय है कि शैली वास्तव में है क्या और साहित्य में उसका क्या स्थान है ?

शैली की कई परिभाषाएँ चल रही हैं—"personal idiosyn-

crasy of expression", "a complete fusion of the personal and the universal", "a projection of author's personality", "style is the man himself" । इस तरह की कितनी ही परिभाषाएँ और भी हैं। किसी भी परिभाषा में शैली कहीं पूरी-पूरी नहीं बँधती।

साहित्य मनुष्य के मन और हृदय की अभिव्यक्ति है। मन का क्षेत्र है चिन्ता, हृदय का क्षेत्र है अनुभूति। अतः साहित्य में क्रमानुगत, तर्कशील विचार भी रहते हैं और भावप्रधान अनुभूति भी। इस प्रकार साहित्य के दो भेद हो जाते हैं—चिंताधर्मी साहित्य और अनुभूतिधर्मी साहित्य। हमें यह देखना है कि इन दोनों का शैली से क्या संबन्ध है?

चिन्ताधर्मी साहित्य में शैली का अर्थ है—"the power of lucid expression of a sequence of ideas" यहाँ पर लेखक को अपनी चिन्तावस्तु को प्रस्फुटित रूप में रख देना भर होता है। उसे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य प्रदान करने की आवश्यकता नहीं। लेखक की साधना यही होगी कि वह विषय को सुस्पष्ट भाषा में युक्तियुक्त बना कर काग़ज पर उतार दे। यहाँ हमें भाषा सुस्पष्ट, मार्जित, संस्कृत रूप में मिले, इससे अधिक हमें कुछ नहीं चाहिये। यदि लेखक इस प्रकार की शैली में भी विशेषत्व लाना चाहेगा तो उसका रूप Idiosyncrasy of expression या "रीति" होगा।

परन्तु साहित्य का दूसरा पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में, उपन्यास कविता, नाटक, गद्यकाव्य सभी अनुभूति-धर्मी हैं। यहाँ चिन्ता प्रधान नहीं है, भाव प्रधान है। इनमें लेखक की भावना कल्पना, अपरोक्ष अनुभूति, अन्तर्दृष्टि शब्दों से इस प्रकार मिल कर उपस्थित होती है कि हम दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते। हम यह नहीं कह सकते—"यह रही वस्तु, यह रही भाषा"।

इस जाति की रचना में भाव ही भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली जाति के चिन्ताधर्मी साहित्य में भाव भाषा में अर्थ सम्बन्ध होता है, यहाँ मूर्ति-सम्बन्ध। अनुभूति-धर्मी साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह मस्तिष्क परिचालित भाषा या मानसिक क्रिया नहीं है। प्राञ्जलता और दुर्बोधता उसके गुणदोष नहीं हैं। वह शब्दार्थ की सहकारिता से अशरीरी भाव को शरीरी बना कर पाठक के मन तक पहुँचाती है—यही उसकी सार्थकता है। भाववैशिष्ट्य के साथ रूपवैशिष्ट्य चलता है। यहाँ भाषा भाव से अलग नहीं है, दोनों का पूर्णातिपूर्ण सहयोग ही चरमावस्था है। "सत्य" को प्रगट करने के लिये जितनी भाषा की आवश्यकता पड़ती है, "सुन्दर" को प्रगट करने के लिए उससे अधिक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ हमें शैली का व्यक्तिगत प्रयोग मिलेगा परन्तु वह कितना भाव प्रगट करने की आवश्यकता से अस्तित्व में आया है। कितना व्यक्ति वैशिष्ट्य के कारण, यह कहना कठिन होगा।

परन्तु शैली का एक तीसरा रूप भी है जहाँ भाव प्रधान होता है, भाषा भाव के पीछे चलती है। कहीं-कहीं भाव की गति में भाषा हास्यास्पद भी जान पड़ सकती है। गंभीरतम अनुभूति के प्रकाशन के प्रयास में साधारण भाषा असाधारण रूप में प्रयुक्त होती है। अनुभूति तब भाषा से बाहर फूट पड़ती है और तब उसके शब्दार्थ और भावार्थ बहुत पीछे पड़ जाते हैं। इस दशा में भी उसमें वैशिष्ट्य रह सकता है परन्तु साथ ही सर्वगुणनिरपेक्षता का गुण भी रहेगा। वास्तव में, वाक्य विशेष के भीतर निर्विशेष व्यंजना परिस्फुट हो जाती है। हम उदाहरण देकर अपनी बात प्रगट करेंगे—

"रस संचार से आगे बढ़ कर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने शारीरिक रूप में ही न

दिखाई देकर जीवन व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शीलनिरूपण और पात्रों का चरित्र चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि पर फुदकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबन्ध कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ कर हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता।"

यह चिन्ताधर्मी साहित्य की साधारण शैली है।

"सात समुद्र पार कर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठा कर यहाँ की भाषाएं सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिख कर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थों को पाकर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अंग्रेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।"

यह उसी जाति की वैशिष्ट्य-प्रधान शैली है। लेखक की वाक्य भंगिमा आदि व्यक्तिगत हैं। इस वैशिष्ट्यप्रधान चिन्ताधर्मी शैली के व्यक्ति के अनुसार अनेक भेद हो सकते हैं। दोनों प्रकार की शैलियाँ Objective हैं परन्तु दूसरे प्रकार की शैली में साथ ही कौशल ('रीति") का भी प्रयोग है। इस प्रकार की शैलियों में लेखक का ध्येय रहता है भाषा की विशुद्धता और रीति-सौष्ठव का प्रदर्शन।

दूसरे प्रकार की शैली के कुछ उदाहरण होंगे—

१—"कौन कहता है तुम अकेले हो। समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो! यदि भविष्यत् से डरते हो

कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ ! तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम अवतार नहीं हो सकते ?—समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर के कर्म समझ कर करता है वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है।"

२—"रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित मूर्च्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कंपित करों वाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या मूल्य मिलता है। सर्वनाश, पतन, उस पार क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरङ्गों के पास—पतित सूर्य की चिता जलती है। माथे पर सायंकाल रूपी-काल चंडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहिन पश्चिमा 'आग' लगाती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं।"

३—"आपको अपने सामने कठिनाइयों की फ़ौजें खड़ी नज़र आयेंगी। बहुत संभव है आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल कह सकते हैं। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें। हर एक पथ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श जीवन पर निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों

के हाथ में ऊँचा-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।"

इन उदाहरणों में भाव का स्वच्छंद और सुसंगत प्रकाश भाषा के माध्यम से फूट कर पाठक को लोकोत्तर आनन्द या रस की अनुभूति कराता है या वातावरण की सृष्टि करता है। प्रयास की विशिष्टता के कारण भावों के अनुरूप भाषा-भङ्गिमा अनिवार्य हो उठती हैं। लेखक भाव को अतिशय नूतन, असाधारण और अपूर्व कल्पित रूप में ग्रहण करता है, अतः उसकी भाषा भी नूतन, असाधारण और अपूर्व कल्पित हो जाती है। मनःधर्मी साहित्य की अपेक्षा इस हृदयधर्मी साहित्य में व्यक्तिगत शैलियों की विभिन्नता के लिए अधिक स्थान है। यहाँ "वस्तु" का अध्ययन इतना आवश्यक नहीं, जितना "भाव" का।

तीसरी प्रकार की रचना का एक कवितावद्ध उदाहरण इस प्रकार है—

किसने मरोड़ डाला बादल जो सजा हुआ था सजल वीर!
केवल पल भर में दिया हाय, किसके विद्युत का हृदय चीर!
इतना विस्तृत होने पर भी क्यों रोता है नभ का शरीर!
वह कौन व्यथा जिस कारण है छिसका करता नभ में समीर!

हम देखते हैं कि तीनों प्रकार की शैलियों में व्यक्तिगत चेष्टा है। कारण भिन्न-भिन्न हैं—

एक भाषा को लेकर कलाप्रदर्शन की अभिलाषा या पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति (रीति)।

दो, अतिशय मौलिक प्रेरणा के वशीभूत होकर लेखक अनन्य साधारण अनुभूति को उसी रूप में प्रकट करना चाहता है जिस रूप में उसने उसे ग्रहण किया है, अतः भाषाभङ्गिमा अनिवार्य है।

तीन, लेखक भाव को अधिक प्रधानता देना चाहता है, अत: वह बहुत कुछ अनुभूतिवश, कुछ रीतिवश, भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग अथवा अत्यन्त असामान्य प्रयोग करता है जो अनुभूति पर से दृष्टि हटा लेने पर हास्यास्पद होगा। यहाँ भाषा प्रतीक बन जाती है।

पूर्व के साहित्य में दूसरे प्रकार की शैलियों की प्रधानता है। हमारे कवियों और गद्यकारों की चेष्टा यही रही है कि भाव को पूर्णत: भाषाबद्ध कर दें, अत: शब्द-योजना, नाद-सौन्दर्य और शब्दार्थ व्यंजना को अत्यन्त महत्व मिला है। भाव की स्वत: कोई भाषा नहीं। साहित्यकार भाषा-द्वारा भाव से उसी रूप में पाठक को संक्रमित करना चाहता है जिस रूप में उसने उसका अनुभव किया है—एक भाव या भावावस्था, एक अनुभूत-चित्र—किसी एक सुनिर्दिष्ट अर्थ-समन्वित तत्व को पाठक के सामने रखना उसे नहीं है। उसकी अनुभूत वस्तु-निर्विशेष है, साधारण है, परन्तु उसे ठीक भाव का चित्र देना है, यही चेष्टा उसकी रचना को विशेषत्व प्रदान करती है। वास्तव में शैली क्या होगी, यह उसकी अनुभूति की तत्परता और तीव्रता पर अवलंबित है। दूसरे, भावोद्रेक के अनेक कारण हैं। बाहर की वस्तु, घटना, दृश्य ये एक प्रकार की अनुभूतिमय चित्र शैली की प्रतिष्ठा करेंगे। भीतर की वस्तु, चिन्तानुभूति, रहस्यानुभूति, भावानुभूति—इनकी प्रेरणा से शैली के दूसरे ही प्रकारों का जन्म होगा। यही नहीं, अनुभूति रूप को कितना अधिक सहारा देती है, कितना कम, इस हिसाब से शैलियों के कितने ही रूप हो जायेंगे।

संक्षेप में, शैली की समस्या अत्यन्त जटिल है। मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति इसके प्रकाश के भी अनेक मुख हैं। यह सब समझ कर हमें शैली को साहित्य में सर्वोच्च स्थान देना होगा।

साहित्य का लक्ष्य है भावानुभूति। भावानुभूति का रूप है शैली। अतः शैली साहित्य की गौण समस्या नहीं, मुख्य समस्या है।

८. साहित्य और आलोचना

(१) साहित्य और आलोचना का सम्बन्ध (२) सौन्दर्यवादी वर्ग कहता है कि आलोचना करने से साहित्य का रस नष्ट हो जाता है (३) नीतिवादी सदासद् के विचार को ही आलोचना समझते हैं (४) साहित्यिक और वैज्ञानिक आलोचनाएँ (५) वैज्ञानिक समालोचना के भेद—व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक (६) अन्य प्रकार—ऐतिहासिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी।

साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीन काल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में समालोचना भी है। वास्तव में, प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुणदोष निश्चित करने की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी भी वस्तु के लिए "अच्छी है या बुरी है या इस श्रेणी की।" इस प्रकार कुछ निश्चित करना होता है। आलोचना के मूल में भी यही भावना है। आलोचक साहित्य को परखता है, उसके गुण-दोष का निर्णय करता है, उसकी सामान्य विशेषताओं की रूपरेखा निर्धारित करता है।

एक वर्ग यह कहता है कि आलोचक हमें नहीं चाहिये। हम काव्य तक स्वयम् पहुचेंगे। हमें किसी दल्लाल की आवश्यकता नहीं जो हमें उसके कुछ गुण-दोष सुझावे। उनका कहना है कि साहित्य का विषय आनन्द है। आलोचना हृदय के ऊपर मस्तिष्क की विजय है। अतः आलोचना से काव्य या साहित्य से आनन्द-

प्राप्ति में बाधा होती है। कोई काव्य कहाँ सुन्दर है, यह पाठक का हृदय स्वयम् समझ लेगा, आलोचक को समझाना नहीं होगा। इसी प्रकार कलावादी कहते हैं कि कला-कला है; वह निरुद्देश्य है, आलोचक उसमें उद्देश्य की स्थापना करता है, अतः अमान्य है। वह कहता है कि हम फूल की पंखुड़ियाँ नोच-नोच कर जिस प्रकार उसके सौन्दर्य की परख नहीं करते, हमारे हाथ से आनन्द भी चला जाता है; इसी तरह साहित्य का विश्लेषण करने से उसका सौन्दर्य तिरोभूत हो जाता है और उसकी आनन्द-प्रदायिनी विशेषता पर आघात होता है। फिर एक और वर्ग कहता है कि लोकरुचि से किसी भी कलावस्तु की परख नहीं होनी चाहिये। साहित्य की भी नहीं। कुछ लोग कहते हैं—"भिन्न रुचिर्हिलोकः।" जितने आलोचक उतनी प्रकार की आलोचनाएँ। व्यर्थ की इस छीछालेदर से लाभ। न सब लोगों की रुचि एक सी है, न रसास्वादन शक्ति, अतः किसी एक आलोचक कहे जाने वाले व्यक्ति की अभिरुचि को अन्य व्यक्तियों के ऊपर लादना अन्याय होगा। यह अवाञ्छनीय भी है, विशेषतः इस विचार-स्वातन्त्र्य के युग में।

परन्तु आलोचना फिर भी लिखी जाती है, पढ़ी जाती है, पढ़ाई जाती है। स्पष्ट है कि मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह सद्-असद् की विवेचना करने से चूक ही नहीं सकता। आनन्द कहाँ है, उसको कैसे पकड़ें, यह बात भले ही आलोचक बता नहीं सके, परन्तु वह प्रयत्न करता रहेगा और संसार उससे पूछेगा। वास्तव में, अपने क्षेत्र में आलोचना भी उतनी ही आवश्यक वस्तु है जितनी साहित्य। यदि हीरे का मूल्य है तो पारखी का भी स्थान है।

आलोचना का मूल उद्देश्य यह है कि वह काव्य के सर्वमान्य गुण ढूँढ़ निकाले और उन्हें भावदण्ड के रूप में पाठक को दे

जिससे वह किसी भी काव्य को परख सके। नीतिवादी कहते हैं कि समालोचक का काम "सेन्सर"—जैसा है। वह बताए कि कौन साहित्य सत्साहित्य है और गन्दे तथा कुरुचिपूर्ण साहित्य की वृद्धि को रोके। मूल रूप में यह समालोचक का काम नहीं है। कौन सत्साहित्य है, कौन कुरुचिपूर्ण असत् साहित्य है, इस पर विचार करना समाज सेवक और सरकार का काम है जिनके हाथ में जनता की बागडोर है। समालोचक न सदासद साहित्य की रूपरेखा निधारित करता है, न कुरुचिपूर्ण साहित्य का ठेकेदार है। कम से कम परोक्ष रूप में वह ऐसा नहीं करता। उसकी समस्या ही दूसरी है—कौन सुन्दर साहित्य है, कौन असुन्दर साहित्य है? सुन्दरता कहाँ है? साहित्य के आनन्द के मूल में क्या प्रवृत्तियाँ काम करती हैं? साहित्य के रसास्वादन का अधिक से अधिक आनन्दपूर्ण कैसे बनाया जाय?

परन्तु आज समालोचक इन्हीं प्रश्नों पर विचार नहीं करता, लोग उससे और भी बहुत सी बातें चाहते हैं, जिससे उसने अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया है। वह वैज्ञानिक और नीतिवादी हो गया है। आज मूल रूप से दो प्रकार की आलोचना शैलियाँ चल रही हैं—एक को साहित्यिक शैली और दूसरी को वैज्ञानिक शैली कहेंगे। साहित्यिक शैली के समीक्षक कहते हैं कि आलोचना भी साहित्य है। उसका काम साहित्य की सुन्दरता-असुन्दरता की विवेचना ही नहीं है। उसका काम है कि वह भावाद्रेक और रसाद्रेक द्वारा पाठक को सुन्दर काव्य या साहित्य की ओर अभिमुख करे। वह अपनी आलोचना को अलकार, शैली, रस जैसे काव्योपयोगी वस्तुओं से पुष्ट करता है। वैज्ञानिक शैली के आलोचक कई वर्ग में बँटे हुए हैं यद्यपि उनका दृष्टिकोण एक है। उनके लिए साहित्य के विश्लेषण और संश्लेषण का नाम ही आलोचना है यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें आलोच्य

पुस्तक से बाहर जाकर कवि के वातावरण, उसके समाज, उसकी मनोस्थिति आदि तक भी पहुँचना होगा। इस तरह वैज्ञानिक समालोचना के कई भेद हो जाते हैं।

(१) शुद्ध व्यक्तिगत साहित्यिक आलोचना जिसमें केवल साहित्यिक रचना को ही लिया जाता है, न कवि के जीवन और साहित्य में कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, न समाज और आलोच्य साहित्य में ही। इसके दो रूप हो सकते हैं (क) व्याख्यात्मक (ख) निर्णयात्मक। व्याख्यात्मक आलोचना निर्णय तक नहीं जाती। वह कवि का स्थान निर्धारित नहीं करती। निर्णयात्मक आलोचना व्याख्या से आगे बढ़ कर कवि के काव्य के सुन्दर-असुन्दर स्थलों और कवि के स्थान के सम्बन्ध में व्यवस्था देती है। निर्णयात्मक आलोचना का एक रूप वह भी है जो वैज्ञानिक आलोचना और व्याख्या को छोड़ कर अनुभूति को ही आधार मान कर चलता है। इस प्रकार की आलोचना की परंपरा बड़ी पुरानी है—

> उपमा कालिदास्य भारविस्य अर्थ गौरवम्।
> भवभूतिः रसगभीरमं माघस्यंति त्रयोगुणम्॥
> सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
> अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस प्रकार की सूक्तियाँ 'निर्णयात्मक' आलोचना के भीतर आ सकती हैं।

(२) ऐतिहासिक आलोचना जिसमें कवि पर तत्कालीन इतिहास, समाज और संस्कृति के वातावरण पर प्रभाव आँका जाय और साथ ही साहित्यिक परंपराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाय। साहित्यिक भी सामाजिक प्राणी है, अतः वह भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता।

(३) तुलनात्मक आलोचना जिसमें पूर्ववर्त्ती, समकालीन और परिवर्ती साहित्यिकों के साथ कवि और उसकी सामग्री की तुलना की जाती है और इस प्रकार उसके महत्त्व को स्थापित किया जाता है।

(४) मनोवैज्ञानिक आलोचना जिसमें कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस वर्ग के आलोचक काव्य में मनोस्थिति का चित्रण या अंकन मात्र मानते हैं।

(५) समाजवादी आलोचना जिसमें साहित्य को वर्गविशेष की उपज मान कर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। ऐतिहासिक आलोचना से यह इसलिए भिन्न है कि यह दृष्टिकोण केवल "वर्ग संघर्ष" तक ही सीमित है। अनेक ऐतिहासिक तत्त्वों में इसने उसी तत्त्व को चुन लिया है।

६. काव्य में कल्पना

(१) भूमिका, (२) "अलंकार" में कल्पना का स्थान, (३) कल्पना की भित्ति अव्यवहार नहीं, व्यवहार है, (४) काव्यगत कल्पना के रूप, (५) काव्य में कल्पना का महत्त्व, (६) कल्पना का आनन्द, (७) कल्पना ही कविसत्य की जननी है, (८) कल्पना में संयम और उच्छृङ्खलता।

काव्य में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमें कोई संदेह नहीं। कवि हमारी प्रतिदिन की परिचित वस्तुओं को अपरिचित गुणों से विभूषित करता है और उनके सौन्दर्य की ऐसी छटा दिखलाता है जो हमारे सामने पहली ही बार आती है। काव्य का मूल ढाँचा भले ही वास्तविक अनुभव, लोक ज्ञान आदि पर खड़ा हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि कल्पना उसका प्राण है।

हमारे आचार्यों के एक वर्ग ने कल्पना की महत्ता समझ कर "अलंकार" को ही कविता कह दिया था। "अलंकार" का आश्रय कल्पना ही है। हम इतनी दूर तक नहीं जा सकते परन्तु कल्पना की काव्योपयोगिता में हमें अटल विश्वास है। उत्कृष्ट काव्य से यदि कल्पना का अंश निकाल दिया जाय तो रसपूर्ण स्थल अवश्य रह जायेंगे परन्तु काव्य का कौतूहलवर्द्धक, नित्य नवीन, अपार्थिव अंश नष्ट हो जायगा। महाकवि के काव्य में पग-पग पर कल्पना और वास्तविकता का आश्चर्यजनक गठबन्धन होता रहता है। उसका मूल्य कम नहीं है। तुलसी के काव्य के अलंकार सम्बन्धी स्थल निकाल लिए जायें तो रामचरितमानस को साहित्यिक महत्ता की बहुत कुछ क्षति हो जायगी। यही नहीं, धार्मिक भावना को भी चोट लगेगी। सीता के सौन्दर्य के लिए तुलसी कल्पना करते हैं —

जौ छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई ॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ॥
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

पहले कवि ने धर्म-भावना को पुष्ट करने के लिए सीता की तुलना देवियों से करनी चाही परन्तु उसकी कल्पना ने एक विचित्र प्रकार से देवियों के ऊपर सीता की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी। इस अर्थसिद्धि के लिए कवि को धर्मकथाओं की ओर जाना पड़ा। इनसे उसने अपने अलंकार की सामग्री ली। फिर वह "रमा" शब्द से परिचालित होकर एक अभिनव लक्ष्मी की कल्पना करता है और उसके जन्महेतु उपादान इकट्ठे करता है। यह सब कल्पना शक्ति के सहारे। इस चित्र को रामचरितमानस में से हटा लीजिये, सीता के अनुपम पुण्यभावनामय सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अधूरी रह जायगी।

काव्य और कल्पना का इतना निकट का सम्बन्ध है कि कवि को कल्पनाप्रिय जीव मान कर उसे अव्यवहारिक ही मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में कल्पना की भित्ति अव्यवहार नहीं, व्यावहारिक ज्ञान है। अलंकारों के मूल में कवि की ज्ञानमूलक चेतना प्रतिष्ठित होती है। उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं में कवि पद-पद पर अपने अर्जित ज्ञानकोष का सहारा लेता है। वह कल्पना द्वारा (१) परिचित वस्तु को थोड़ा बहुत बदल कर नए सौन्दर्य में नए रूप से स्थापित करता है, (२) अनदेखी अथवा अस्तित्व-हीन वस्तुओं को मूर्त्त बनाता है, (३) पुराने अनुभवों को मिलाकर या नवीन अनुभवों से पुरानी अनुभूतियों का सम्बन्ध जोड़ कर एक वस्तु का दूसरी वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु की सीमाएँ स्पर्श कर लेती हैं, कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु को अपने रंग में रँग लेती है। यह सब कल्पना की ही माया है। इसी का एक वह रूप "प्रतीक" है जब उपमान पूर्णतः उपमेय का स्थान ग्रहण कर लेता है। काव्य में कल्पना का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जायगा कि प्रतीक काव्य-काव्य का सर्वोच्च प्रकार माना गया है। जहाँ कवि अपने अर्थ को अभिधार्थ और व्यंगार्थ स्पष्ट नहीं कर पाता, जैसे रहस्यवाद काव्य में, वहाँ वह कल्पना का सहारा लेकर प्रतीकों का निर्माण करता है और सफलता में प्राप्त होता है। सतकाव्य इन्हीं प्रतीकों के कारण उच्चतम काव्य की श्रेणी में आता है, परन्तु कल्पना के साथ जहाँ हृदयानुभूति भी पूरी मात्रा में मिल जाती है, वहाँ सर्वोत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। वहाँ कवि विषय और प्रतीक एक हो जाते हैं। जयदेव के काव्य में अथवा सूर के कृष्ण काव्य में हम स्थान-स्थान पर काव्य के इस ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि क्या निम्नतम, क्या उच्चतम, काव्य सदैव कल्पना के सहारे आगे बढ़ता है।

रसपूर्ण स्थलों की अवतारणा करते समय कवि कल्पना का सहारा न ढूँढ़ता हो, यह बात नहीं। उसे अपने अन्तः-चक्षु खुले रखना होते हैं।

कल्पना के द्वारा कवि चाहे अपने अभीष्ट अर्थों को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त भले ही कर ले, स्वयं कल्पना का भी अपना एक आनन्द होता है। कवि के लिए कल्पना की यह भी एक महत्त्वपूर्ण सार्थकता है। इस दृष्टि से कल्पना निरर्थक है। मनुष्य में सृजन की एक प्रवृत्ति होती है। अपने क्षेत्र में कवि भी एक अभिनव सृष्टि रचना चाहता है। विधाता की सृष्टि के सम्मुख अपनी सृष्टि रख कर उसे आनन्द प्राप्त होता है। सृजन का आनन्द ही कल्पना के खेलों को सुन्दर बना देता है। इसी आनन्द के बल पर कवि वीभत्स चित्रों को रच कर भी प्रसन्न होता है। कल्पना के बल पर ही उसने अप्सराओं, किन्नरों, यक्षों और अपर लोकों की सृष्टि की है और देव-दानवों की विचित्र आकृतियाँ हमें दी हैं। कल्पना स्वतः प्रेरित है। वह अपना विस्तार करके प्रसन्न होता है।

परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में क़िले नहीं उठाती। उसका आधार कवि का इंद्रियजन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाती है जो आकाश को चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती परन्तु भित्ति है अवश्य। इसमें संदेह नहीं। हाँ, कल्पना का स्पर्श पाकर सांसारिक अनुभव सौन्दर्य से अनुप्राणित हो जाता है, ज्ञान रहस्यात्मक अनुभूति में परिवर्तित हो जाता है। जैसे-जैसे कवि सांसारिक ज्ञान का अधिकाधिक उपार्जन करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी कल्पना प्रौढ़ होती जाती है, उस नये ज्ञान को अपनी सामग्री बना कर वह उतरोत्तर सुन्दर चित्रों की स्थापना करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

ज्ञान और कल्पना में विरोध नहीं है। कल्पना की भित्ति ज्ञान है। कल्पना ज्ञान को सुन्दर और अधिक वास्तविक (यथार्थ) बना देती है। कल्पना ही "कवि-सत्य" की जननी है।

स्वयम् कल्पना-चित्रों का यदि हम अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनके पीछे बुद्धि की शक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में रहती हैं। उनका निर्माण किन्हीं सूत्रों पर आश्रित एवं परिचालित रहता है। तुलसी के जिस कल्पना-चित्र को हमने उद्धृत किया है उसमें ग्रहण, परिहार, संक्रमण, स्थापना की बौद्धिक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं। तुलसी का धार्मिक दृष्टिकोण कल्पना को संयत बना रहा है, यह भी स्पष्ट है। सच तो यह है कि जहाँ कल्पना कवि की conscious artistry को पुष्ट करती है, वहाँ वह उच्छृङ्खल हो ही नहीं सकती।

परन्तु कल्पना का एक रूप वह भी है जहाँ वह खिलवाड़ बन जाती है। यहाँ वह छोटी-छोटी सुन्दर उद्‌भावनाओं के रूप में हमारे सामने आती है। उस समय उसे fancy कहते हैं। कविता में कल्पना के इस क्रीड़ाप्रधान रूप का भी स्थान है परन्तु उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना रस संचार करने वाली शृंखलित गंभीर कल्पना का।

१०. काव्य में करुणरस

(१) "शृङ्गार" और "करुणरस" की रसराजता, (२) करुण की अनुभूति का विश्लेषण, (३) करुणरस द्वारा मन का परिष्कार, (४) करुणा की प्रवृत्ति श्रेष्ठ मानवीय प्रवृत्ति है, (५) काव्य में करुणा का महत्त्व, (६) करुणरस-प्रधान काव्य का सामाजिक मूल्य, (७) हिंदी काव्य में करुणरस, (८) उपसंहार।

भवभूति ने करुणरस को ही एक मात्र स्वतंत्र रस माना है, अन्य रस तो केवल उसके विकारमात्र हैं—

एकोरसः करुण एव निमित्त भेदादिभिन्नः
पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त्त बुदबुद तरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तुत्समग्रम् ॥

अन्य रसशास्त्री इस हद तक नहीं जाते। ये उसे नव रसों में से प्रमुख रस अवश्य मानते हैं। वे शृंगार को "रसराज" कहते हैं। वास्तव में अन्तर दृष्टिकोण का है। यदि हम उस रस को प्रधानता देना चाहें जो जीवन की अनेक परिस्थितियों को छूता है, जिसकी व्यापकता अधिक है, जिसमें संचारी भाव सबसे अधिक आयें, तो सचमुच शृंगाररस को सर्वोच्च रस मानना पड़ेगा। परन्तु यदि हमारी दृष्टि स्थाई प्रभाव एवं मनोवृत्तियों के परिष्कार पर है तो करुणरस ही सर्वप्रधान रस है।

करुणा की अनुभूति के पीछे परदुख-अनुमान ही प्रवृत्ति है। हम अपने दुख से तो दुखी होते ही हैं, परन्तु दूसरों को पीड़ा में देख कर उनके दुःख का अनुमान भी कर सकते हैं। बच्चे दूसरे बच्चों को रोते हुए देख कर रोने लगते हैं। यही नहीं, वह झूठ-मूठ रोने की चेष्टा या मुद्रा को देख कर भी रो पड़ते हैं। मा जब झूठ-मूठ ऊँ-ऊँ करती है, तो बच्चे रोने लगते हैं। दूसरों के सुख-दुख से प्रभावित होना मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका बहुत-सा सुख-दुख दूसरों की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित रहता है। हम दूसरों के सुख से सुखी, दुख से दुःखी होते हैं, परन्तु दूसरों के दुख से दुखी होने का नियम दूसरे के सुख से सुखी होने के नियम से कहीं अधिक व्यापक है। यही दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वही करुणा के नाम से पुकारा जाता है।

कदाचित् मनुष्य के मन के किसी उद्वेग ने उसका इतना

परिष्कार नहीं किया है जितना करुणा के उद्वेग ने। शील, सात्विकता आदि मनोविकारों और कर्मों का आधार यही करुणा की प्रवृत्ति है। इसका कारण यह है कि शील, सात्विकता जैसे गुणों का संस्थापन परस्पर की सहानुभूति और सामाजिक आदान-प्रदान के द्वारा ही होता है। मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियाँ अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग से ही व्यक्त होती हैं। प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि उसे सुख की प्राप्ति हो और उसके दुःख की निवृत्ति हो। मूलतः परदुखकातर होने के कारण वह किसी को दुख में पड़ा देखना भी नहीं चाहता। जिस प्रवृत्ति के कारण सामूहिक सुख की वाञ्छा दृढ़ होती है, उसे श्रेष्ठ सामाजिक गुण कहना चाहिये। करुणा की प्रवृत्ति इसीलिए श्रेष्ठतम मानवीय प्रवृत्ति कही जायगी। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—मनुष्य के अन्तः करण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसीसे जैन और बौद्ध धर्म में इसकी बड़ा प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर उपकार सरिस न भलाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

काव्य में करुणा का महत्त्व उससे कम नहीं जितना प्रतिदिन के लोकजीवन में है। वियोग-शृंगार और वियोग-वात्सल्य का तो वह प्राण ही है। काव्यगत करुणा के कई भेद हो सकते हैं। एक प्रकार की करुणा वह है जब प्रिय के सुख के अनिश्चय से मन भाराक्रांत होकर दुखी होता है। राम जानकी बन चले गये और कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय के कारण ही उद्विग्न है—

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौ बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं रामलखन दोउ भाई॥

इसी तरह यशोदा इसी भावना के वशीभूत होकर उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिकै न्हाते॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच॥

दूसरी अवस्था वह है जब धीरे-धीरे अनिश्चय अधिक गहरा हो जाता है और प्रेमी प्रिय के विषय में घोर अनिष्ट की आशंका करता है—

नदी किनारे धुँआ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जलीं, वही न जलता होय॥

इस प्रकार की पति-वियोगिनी की आशंका अनैसर्गिक नहीं है, यद्यपि काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम हैं क्योंकि इस प्रकार की आशंका प्रिय के प्रति अमंगल की सूचक है। विरहजनित दुःख या क्षोभ में करुणा की मात्रा उतनी नहीं रहती, परन्तु प्रिय के मृत्यु की आशंका और मृत्यु में दुःख के साथ-साथ करुणा की भी अनुभूति होती है। "किसी प्रिय या सुहृद के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिल कर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी

उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छापूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण और यह सोच कर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत विकल और अधीर होते हैं।" प्रिय-मृत्युवियोग-जनित कारुणिक विलापों को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। "अज-विलाप" प्रसिद्ध ही है। "कादम्बरी" इस प्रकार के कई विलापों से भरी हुई है।

वतुस्तः करुणा का जितना प्रसार होगा, वह सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए आवश्यक होगा। परस्पर सहयोग की भावना के मूल में करुणा ही की उपस्थिति है। यह कहा जाता है कि सहयोग की भावना के मूल में निज-कल्याण-भावना है, परन्तु सच तो यह है कि सहयोग भावना में हम बुद्धि से परिचालित होकर पहले यह निश्चित नहीं कर लेते कि सहयोग से किस प्रकार हमारा कल्याण होगा। वास्तव में, हम सहयोग की ओर मन को स्वतः प्रवृति करने वाली प्रेरणा से जाते हैं। यही प्रेरणा करुणा है। उपन्यासों में करुणा की प्रवृति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश प्रेम-व्यवहार करुणा से परिचालित दिखाये जाते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर युवक दुष्टों के हाथ में पड़ी युवतियों का उद्धार करते हैं। फलस्वरूप नायिका कृतज्ञ होती है और बदले में युवक पर श्रद्धा करती है जो धीरे-धीरे प्रीति में बदल जाती है।

हिन्दी काव्य में करुणरस की रचनाएँ अधिक नहीं हैं, जो हैं वे भी अधिक उच्चकोटि की नहीं। हमारे प्राचीन-काव्य-साहित्य में भक्ति, वीर और शृंगार रसों की प्रधानता रही है। वियोग शृंगार के निरूपण के लिए जितने अच्छे उदाहरण हमें अकेले सूरदास के काव्य से मिल सकते हैं, उतने सारे संस्कृत-काव्य-साहित्य से नहीं। परन्तु सूर, तुलसी, जायसी—सभी में करुणरस

केवल प्रसंगवश कहीं आ भर गया है, उसे परिपक्वता नहीं मिली। इधर भारतेन्दु के समय से देश और जाति की दुर्दशा को लेकर करुणरस की अवतारणा की गई है—

जहँ भए शाक्य हरिचन्द नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

(भारतेन्दु)

कहाँ आज इक्ष्वाकु कुकुत्स्थु कहँ मान्धाता,
कहँ दिलीप रघु अजहुँ कहाँ दशरथ जग त्राता।
पृथ्वीराज हमीर कहाँ विक्रम सम नासक,
कहाँ आज रनजीतसिंह जग विजय प्रकासक।

(अम्बिकादत्त व्यास)

मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत, कौशलेन्द्र आदि के काव्य में भी अनेक प्रकार से करुणरस का प्रकाशन हुआ है। परन्तु मुक्तक का आश्रय लिया जाने के कारण रस-परिपाक भली-भाँति नहीं हो सका है। रस-परिपाक के लिए कथा का आश्रय लेना आवश्यक है। मुक्तक काव्य में भाव ही आ सकते हैं। वास्तव में आधुनिक काव्य में जिसे करुणरस का नाम दिया जाता है वह बहुत कुछ नैराश्य, विषाद, ग्लानि आदि भाव ही हैं। छायावाद काव्य में जिस दुःखवाद की प्रतिष्ठा हुई है, उसमें नैराश्यजनित विषाद की ही प्रधानता है। आलम्बन स्पष्ट न होने के कारण रस (अथवा भाव) की पुष्टि में बाधा पहुँचती है। महादेवी जी की रचनाओं में हम यही नहीं समझ पाते कि विषाद क्यों, किस लिए ? इस प्रकार जिस भाव की सृष्टि होती है, उसे हम करुण

भी नहीं कह सकते। नए कवियों को दुःख प्रिय है। उन्होंने कुछ परिस्थितियों के कारण, कुछ अनुकरणप्रियता के कारण और कुछ दुःख के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति के कारण इस प्रकार की करुण विषादपूर्ण रचनाशैली ही गढ़ ली है। इन रचनाओं से कुछ आता जाता नहीं। करुणरस की अभिव्यंजना के लिए आलम्बन की स्पष्टता कदाचित् अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है और उसकी अस्पष्टता से काव्य एकदम दूषित हो जाता है।

करुणरस की महत्ता इसी में है कि उसके द्वारा हमारी सहानुभूति का विस्तार होता है, हमारी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, हम शिथिल नहीं होते वरन् दुःख के कारण से लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। यदि करुणरसपूर्ण काव्य से इनमें से कोई भी उद्देश्य पूर्ण हुआ तो वह सफल है। यदि वह हमें शिथिल और हताश कर दे तो उसका "रस" नाम भी सार्थक नहीं है या उस रचना के लिए हमें किसी नये रस की सृष्टि करनी होगी। ट्रेजेडी (दुःखांत) के प्रेक्षक को यदि दुःख ही हुआ, जीवन की स्फूर्ति न मिली, वह स्वयम् आत्मघात की ओर प्रेरित हुआ, तो यह रचनाकार की असफलता है।

११. रस के प्रति नवीन दृष्टिकोण

(१) रस और प्रज्ञात्मकता, (२) ज्ञान और राग का पारस्परिक सम्बन्ध, (३) हमारे साहित्यशास्त्र का रस सम्बन्धी आलोचना का इतिहास, (४) रसदृष्टि और मुक्तक काव्य, (५) आधुनिक कविता रस के विभिन्न अंगों की पुष्टि नहीं करती, (६) आधुनिक कविता में बौद्धिक-तत्त्व और रसदृष्टि पर उसका प्रभाव, (७) रसों की व्याख्या को वैज्ञानिक और परिष्कृत रूप देने की आवश्यकता।

मनुष्य के भीतर मस्तिष्क और हृदय दोनों के व्यापार चलते रहते हैं। हमारे पूर्वजों ने रागात्मक वृत्ति पर बल दिया था, कारण यह था कि साहित्य की व्याख्या करते समय उनको दृष्टि के सामने नाटक (दृश्य काव्य) था जिसमें मस्तिष्क की अपेक्षा हृदयानुभूति की अधिक आवश्यकता थी। परन्तु मनुष्य के प्रत्येक अनुभव में रागात्मक और प्रज्ञात्मक शक्तियाँ मिली रहती हैं। वह हृदय के द्वारा अनुभव करने के साथ ही ज्ञान के द्वारा अनुभव को ग्रहण भी करता है। जहाँ भावभूमि या रागात्मक भूमिपट मनुष्य के अन्दर रहता है, वहाँ प्रज्ञात्मक भूमिपट भी। दोनों संस्कारजन्य होते हैं और नए संस्कारों द्वारा परिष्कृत होते रहते हैं। इसलिये अब यह आवश्यकता है कि हम काव्य में मस्तिष्क के स्थान को भी उचित मात्रा में स्वीकार करें।

साधारणतया हमें वस्तु का परिचय केवल एक दिशा से नहीं मिलता। हमारे भावात्मक दृष्टिकोण से हमारी ज्ञानभूमि प्रभावित होती रहती है और उसके अनुसार हम विशेष-विशेष दिशाओं से वस्तु का परिचय प्राप्त करके अपने मतिष्क के भीतर उसका परिज्ञान (reception) उत्पन्न कर लेते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रागात्मक वृत्तियों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ज्ञान होने के कारण सभी व्यक्तियों के लिये उसका परिज्ञान भी एकसा नहीं रहता। परन्तु यही परिज्ञान हमारे मन में भूमिका निर्माण करता है और बाद में प्राप्त किये हुये ज्ञान को प्रभावित करता है। ज्ञान के साथ राग का अनुभव भी होता है। इसीलिये जो ज्ञानपट हमारे भीतर बनता है वह कुछ वस्तओं के लिए उल्लासप्रद, कुछ के लिए विषादप्रद और कुछ के लिए घृणा लिये हुए होता है।

बुद्धि पूर्वग्रहीत ज्ञान से नए परिज्ञान का परिचय कराती है और हमारे मानसिक संसार में उसकी पहुँच होती है। इस

प्रकार हम देखते हैं कि राग और प्रज्ञान में इतना भेद नहीं जितना हमारे साहित्यशास्त्र ने स्वीकार किया है। देखा गया है कि विशेष प्रकार से सोचने पर उसी अनुसार भावों की उत्पत्ति होती है और स्नायुमूलक अनुभाव प्रारम्भ हो जाते हैं। ये भाव जब तीव्र हो जाते हैं तो राग उत्पन्न हो जाता है और जब राग बहुत काल तक बना रहता है तब वह रस बन जाता है। इस प्रकार रस के परिपाक के लिए एक ओर समय और दूसरी ओर राग की अधिक मात्रा की आवश्यकता है।

हमने कहा है कि रसदृष्टि का आरम्भ दृश्यकाव्य की अनुभूति की आलोचना से हुआ। इस अनुभूति के लिये कथानक के विभिन्न अङ्गों और कालांतर की आवश्यकता है। प्रबन्धकाव्य और महाकाव्यों पर यह बहुत कुछ लागू हो सकता था परन्तु मुक्तक रचना में रस की पुष्टि के लिये आवश्यक साधन इकट्ठे नहीं होते। मुक्तक कवियों ने परम्परा से आकृष्ट हो और आचार्यों की विचारधारा की गहराई में न पैठ कर एक ही छंद में अनुभाव, विभाव आदि भर कर रस सृष्टि की चेष्टा की। फल यह हुआ कि हाथ न रस आया, न भाव। रस को पुष्ट करने के लिये आलम्बन, उद्दीपन, विभाव और अनुभाव आदि साधन आवश्यक हैं परन्तु इनसे भी अधिक चाहिये समय का विस्तार जो मुक्तक में मिलना असम्भव है।

और यह भी आवश्यक नहीं कि रस-सृष्टि के लिये इन सभी अङ्गों का रहना आवश्यक हो। किन्हीं दो, तीन या केवल एक अङ्ग की पुष्टि से भी रस की उत्पत्ति सम्भव है।

वर्त्तमान समय में कविता मुक्तक के रूप में आरम्भ हुई। पहले खड़ी बोली के कवियों ने ब्रजभाषा की कविता से प्रभावित होकर रस की दृष्टि से छंदों में रस-सृष्टि के अनेक अङ्गों की योजना की। जिनके पद्य में बौद्धिकता की मात्रा अधिक देखी

गई उन्हें "गद्यकार" कह कर खड़ी बोली की कविता की खिल्ली उड़ाई गई। उन दिनों सामाजिक, राजनैतिक और प्राकृतिक विषयों पर जो कविताएँ लिखी जाती थीं, उन्हें लेखक ही कदाचित् कविता नहीं कहते। वे पुरानी रसदृष्टि को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे। परन्तु छायावाद के कवियों ने अंग्रेजी और बँगला से प्रभावित होकर जब मुक्तकों की सृष्टि की तो उन्होंने रस-सृष्टि पर ध्यान नहीं दिया और भावप्रधान कवितायें कर डालीं। वे किसी भी प्रकार रसवादी नहीं कहे जा सकते। रस पैदा हो जाये तो ठीक वे इस विषय में रीतिकालीन कवियों की तरह सचेष्ट नहीं हैं। भावों की विविधता, भावों की तीव्रता, भावों की सूक्ष्मता, भावों का वैचित्र्य, कल्पना के द्वारा भावों को रँगना और भावात्मक अनुभूति द्वारा उन्हें रस की श्रेणी तक उठा देना—यह हम उनकी कविताओं में पाते हैं। सच तो यह है कि आधुनिक कविता का दृष्टिकोण आत्मव्यंजनात्मक (subjective) है पर व्यंजनात्मक (objective) नहीं है। उसमें तन्मयता है जो स्वयम् एक रस की सृष्टि कर देती है। यह तन्मयता भावों को घनीभूत, केन्द्रीभूत और गहरा करके रस की उत्पत्ति करती है, नाटक के रस की भाँति उसके विभिन्न अंगों की पुष्टि करके नहीं।

नाटक का रस प्रबन्धकाव्य का रस किस अंश में हो भी सके, कथा-कहानी, उपन्यास, मुक्तक, रसपूर्ण निबन्ध (Light Essays) का रस नहीं हो सकता। आवश्यकता इसकी है कि हम रस की नए प्रकार से व्याख्या करें या जिस प्रचलित अर्थ में उसका प्रयोग हो रहा है उसकी संकीर्णता स्वीकार कर लें। हमारा साहित्य अनेक दिशाओं में बह रहा है और यह ठीक नहीं है कि हम प्रत्येक दिशा के साहित्य का पैर एक ही चीनी जूते में

कस कर उसकी वृद्धि रोक दें या अपूर्ण मानदंड लेकर आलोचना करें।

साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना है कि हमारे साहित्य में, और काव्य में भी, बौद्धिकता का अंश विशेष है। कवि अनेक ज्ञान का ज्ञानी है। आज केवल छन्द कह लेने भर का नाम कविता नहीं है। नई संस्कृति और समाज और नवीन ज्ञान के प्रकाश में बाहर-भीतर की वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ना और मनोवृत्तियों को परिष्कृत करना—न करना तो उन्हें स्पष्ट आकार या रूप ही देना, उसका लक्ष्य है। आज "रसः वै सा:" कह देने भर से काम चलता नहीं दीखता।

साथ ही हमें अपने रसों की व्याख्या को अधिक वैज्ञानिक और परिष्कृत रूप देना होगा। श्री काका कालेलकर ने "रसों का परिष्कार" शीर्षक निबन्ध में इसका विस्तृत विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, आज हमारी "वीररस" की परिभाषा में महान् अन्तर होना आवश्यक है। भूषण और सूदन की मारकाट और अनुप्रासगर्भित रचना श्रेष्ठतम वीररस की रचना नहीं मानी जानी चाहिए। वीररस के मूल में "उत्साह" मनोभाव है। उसके प्रदर्शन के लिए मारकाट, युद्ध और रक्तपात के अतिरिक्त और भी क्षेत्र हैं। देशभक्तिमूलक वीररस की कविताओं में आज आत्म-बलिदान, आत्म पीड़न और कष्ट-सहन के प्रति उत्साह प्रगट किया जा रहा है। इस नई भावना ने वीररस सम्बन्धी हमारी धारणा को ऊँचा उठाया है। और "जुगुप्सा" का दूसरा ही रूप हमारे सामने है। हमने सामाजिक वैषम्य के वीभत्स चित्रों को पाठक के सामने रखा है। आज वीभत्स रस के प्रदर्शन के लिए हमें "आंतड़ी की झोली बाँधे" जैसी कविताओं की आवश्यकता नहीं रही। हमारे यहाँ शृंगाररस को रसराज कहा गया है। इसके मूल में भावना यह है कि रतिभाव मनुष्यों में

ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी है; अभी हमारे वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध कर दिया है कि जड़ धातुओं और उद्भिजों में भी रतिभाव उपस्थित है। पशु-पक्षी कदाचित् हास्यरस का अनुभव नहीं कर सकते। हम यह नहीं जानते कि वीभत्स जैसे रसों का अनुभव वे कहाँ तक कर सकेंगे। इसीसे साहित्यशास्त्रियों ने रतिभाव की व्यापकता को देख कर शृंगार को रसराज कहा है। क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम रसराज को "परकीया". "सामान्या" जैसे समाजविहित आलंबनों से मुक्त करें? क्या शृंगार और दाम्पत्य में कोई अन्तर नहीं है, और क्या इन दोनों को अलग-अलग रस माना जा सकता है? शृंगार के मूल में काम-भाव है, रति के प्रति विशेष आग्रह है। दाम्पत्य के मूल में स्त्री-पुरुष की सहयोग-भावना है। वास्तव में जहाँ शृंगार या काम-भाव की समाप्ति होती है, वहाँ ही दाम्पत्य भाव का आरम्भ होता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न जब हल हो जायेंगे तो हम रस के प्रति नवीन दृष्टिकोण को पूरा-पूरा ग्रहण कर सकेंगे। अभी तक स्वयम् रसशास्त्री ही इस नवीन दृष्टिकोण की केवल रूपरेखा मात्र ही बना सके हैं।

१२. काव्य की कसौटी

(१) काव्य की कसौटी सहृदय पाठक या रसिक हृदय है, (२) प्राचीन कसौटियाँ—रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद, (३) वास्तव में यह सब कसौटियाँ काव्य के अलग-अलग अंग को छूती हैं, (४) विभिन्न कसौटियों में समन्वय उपस्थित करने की चेष्टा और रसवाद का जन्म, (५) रसवाद की सीमाएँ, (६) सामान्य कसौटी का अभाव, (७) क्या कोई सामान्य कसौटी गढ़ी भी जा सकती है?

उत्कृष्ट काव्य के क्या गुण हैं, हीनकाव्य और उत्कृष्ट काव्य

में क्या भेद होंगे, हम कैसे जाने कि एक विशेष काव्यग्रंथ उत्कृष्ट है या हीन! सोना खरा है या खोटा; खोटा है तो मिलावट कितनी, यह जानने के लिए जिस प्रकार कसौटी की आवश्यकता हो उसी प्रकार काव्य को कसने के लिए भी कोई कसौटी चाहिये। यह कसौटी क्या हो?

हमारे साहित्याचार्यों ने इसका बहुत ठीक उत्तर दिया है। काव्य की कसौटी है सहृदय पाठक या रसिक हृदय। उसे किसी विशेष परीक्षा की आवश्यकता नहीं। काव्य पढ़ कर या सुन कर वह एकदम कह देता है कि कविता किस श्रेणी की है। वह उसके हृदय को कितना छूती है, उसके सामने इतनी ही बात है। सुसंस्कृत रसिकहृदय पाठक से बड़ी कसौटी कोई दूसरी नहीं हो सकती। परन्तु साहित्यशास्त्रियों को तो रसिकहृदय पाठक के लिए कुछ कहना ही नहीं है। वे उसके और काव्य के बीच में नहीं आते। परन्तु सभी तो रसज्ञ नहीं होते। सभी रसिकहृदय एक जैसे सुसंस्कृत भी नहीं होते। इसीलिए काव्य की किसी ऐसी कसौटी की आवश्यकता होती है जिसे रसिक और अरसिक सभी एक समान प्रयोग में ला सकें।

जब इस तरह कोई निश्चित कसौटी बताने की बात आई है तो साहित्यशास्त्री बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। काव्य समीक्षा के लिए किसी एक निश्चित सिद्धान्त में नहीं पहुँचा जा सकता। जीवन की भाँति काव्य की श्रेष्ठता भी पकड़ में नहीं आती। उदाहरण के लिए, तुलसी का रामचरितमानस क्यों हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है, यह कहना कठिन है। रसवादी कहेंगे—अयोध्याकांड के कारण। मनोवैज्ञानिक कहेंगे—ठीक, अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध के कारण ही तुलसी इतने महत् हैं। अलंकारवादी कहेंगे—रामचरितमानस का रूपक, लक्ष्मी का रूपक, रामरथ और विज्ञान-दीपक के रूपक कितने चमत्कारी स्थल हैं। रीतिवादी

उसके प्रसाद और माधुर्य की दुहाई देगा। वक्रोतिवादी और ध्वनिवादी मुँह ताकता रह जायगा। इन्हें तुलसी के अभिधा-प्रधान, प्रसार गुण सम्पन्न काव्य में अपने मन की वस्तु नहीं मिलेगा। पंडित पाठक उत्तरकांड को रामचरितमानस का प्राण बतायेंगे। भक्त पाठक के लिए तो सारा ग्रंथ ही ईश्वर का चमत्कार है। उसको तो रस लेना है, समीक्षा करना ही पाप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की कसौटी निर्धारित करने में कठिनाई कहाँ है।

जिन 'वादों' के समर्थकों को हमने ऊपर इकट्ठा किया है, वे काव्य को पूरा-पूरा पकड़ नहीं पाते यद्यपि वे कहते यही हैं कि उनके निश्चित किए हुए घेरे में जो आ गया, वही श्रेष्ठ काव्य है। हमारे यहाँ काव्य के समीक्षकों के पाँच सम्प्रदाय चल रहे हैं। पंडितराज जगन्नाथ "रमणीय अर्थ" को काव्य मानते हैं। विश्वनाथ "रस" को, उद्भट "अलंकार" को, कुतंक "वक्रोक्ति" को, वामन "रीति" को। इन मापदंडों के सहारे ही क्रमशः ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय और रीतिसम्प्रदाय चल पड़े। तर्क-वितर्क चला। सब तो ठीक हो नहीं सकते। अतः ठीक मत कौन है। परन्तु अभी तक निश्चय कुछ भी नहीं हो सका है।

वास्तव में हठ नहीं होना चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि काव्य में हम सभी "वादों" की परिसमाप्ति हो जाती है और फिर भी काव्य अरमे प्रश्न की तरह बना ही रहता है। रीति अलंकार और वक्रोक्ति को हम शैलियाँ मान सकते हैं। काव्य में शैली का भी महत्त्व है, अतः उसी सीमा तक ये काव्य की कसौटियाँ हैं। परन्तु न रीति ही काव्य है, न अलंकार ही, न वक्रोक्ति ही यद्यपि काव्य इन सबसे या इनमें से किसी से पुष्ट हो सकता है। तब यह प्रश्न होगा कि इनसे भिन्न काव्य क्या

है। क्या ध्वनि? क्या रस? कुछ आचार्य काव्य को "ध्वनि" मात्र मानते हैं, कुछ "रस" मात्र। परन्तु परवर्ग आचार्यों ने समझौता कर लिया जो इस प्रकार है—काव्य की आत्मा रस है और रस "व्यंजित" या "ध्वनित" होता है। इस प्रकार ध्वनिवादी और रसवादी हिलमिल कर काव्य की एक सर्वमान्य कसौटी गढ़ने में सफल हो गये हैं।

जब इस प्रकार एक सामान्य कसौटी की सृष्टि हो गई तो विश्लेषण को और आगे बढ़ाया गया। भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की योजना को ही काव्य समझ लिया गया। सब न हो सकें तो कोई एक तो हो ही गा। नव रसों की कल्पना की गई और उनमें श्रृंगार रति भाव प्रधान रस को "रसराज" मान लिया गया। "रस" के चौखटे के बाहर जो रहा, वह अग्राह्य हो गया। प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्दर ले आया गया। बौद्धिक तत्त्वों का स्थान गौण ही नहीं रहा वरन् उनकी पूँछ ही नहीं हुई। "रस" का सम्बन्ध हृदय से है, अतः हृदय की प्रधानता है। जिज्ञासा की तृप्ति कविता का विषय नहीं है। कवि को बुद्धिवादी नहीं होना चाहिये। परन्तु कवि को तो कोई बंधन बाँधता नहीं। सूरदास ने एक नए ही प्रकार की कविता की जिसका मूल भाव बालक श्रीकृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा का प्रेम भाव था। इसके लिए "वात्सल्य रस" की सृष्टि करनी पड़ी। फिर भक्ति काव्य के लिए "भक्ति रस" ने जन्म लिया। अब यह प्रश्न उठा है कि वैराग्यमूलक संत काव्य में क्या रस है? संतों के रहस्यवादी काव्य में क्या रस है? पुकार हो रही है, रसों में वृद्धि की जाय, स्वीकृत रसों की भावना में परिष्कार हो। समय बदल गया है। यह स्पष्ट है कि रसवाद भी काव्य की एक मात्र कसौटी नहीं बन सका।

अब समय अवश्य बदल गया है। प्रकृति को काव्य में स्वतंत्र

रूप से स्थान दिया जाने लगा है, मानव स्वतंत्रता और विश्व बन्धुत्व को कविता का विषय बनाया जा रहा है। कविता हृदय को ही नहीं छूती, मस्तिष्क को भी छूती है। इस प्रकार की कविताएँ भी सामने आने लगी हैं जो केवल मस्तिष्क को ही छूती हैं। अब "रसवाद" भी अधिक नहीं चल सकेगा। काव्य में जिन बौद्धिक तत्त्वों का प्रवेश हो गया है, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऐसी परिस्थिति में क्या कोई काव्य की सामान्य कसौटी गढ़ी जा सकती है, यह प्रश्न है। अभी तक तो गढ़ी नहीं गई। हम प्राच्य वाले रस, ध्वनि, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को लेकर थोड़ी-बहुत उधेड़-बुन में संतोष कर लेते हैं, पश्चिम के समीक्षक "Poetry is the criticism of life", "Poetry for Poetry's sake", "Poetry is Art" जैसे एकांगी सिद्धान्तों को ही ब्रह्मवाक्य मान कर बैठ जाते हैं।

१३. उपन्यास

(१) उपन्यास से पहले का आनन्द धर्मी साहित्य और उपन्यास से उसका अंतर, (२) उपन्यास का विकास और आह्लादक गुणों की अपेक्षा, आलोचना की ओर उसका संक्रमण, (३) उपन्यास में व्यक्ति के आभ्यांतरिक जीवन और सामाजिक जीवन प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा, (४) उपन्यास के तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ, (५) उपन्यास में मनुष्य के मन का चित्रण, (६) मनोविज्ञान और औपन्यासिक धारणाएँ, (७) उपन्यास-सम्बन्धी आधुनिक मान्यताएँ।

आधुनिक परिभाषा में जिसे "उपन्यास" कहा जाता है उसका प्रवेश साहित्य जगत में १७वीं शताब्दी में हुआ है। इससे पहले मनोरंजन के केवल दो साहित्यिक साधन सुलभ थे—

काव्य और नाटक। उपन्यास के प्रवेश ने साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। जहाँ काव्य का विषय मुख्यतः आनन्द था, या हमारे देश की परिभाषा में रसानुभूति था, वहाँ उपन्यास का विषय आनन्द या रसोद्रेक उतना नहीं जितना मनोरंजक था परन्तु साथ ही उपन्यास का वास्तविक जीवन से अधिक निकट का सम्बन्ध था और वह समाज की आलोचना भी करता था। नाटक और उपन्यास में भी अंतर था। नाटक का ध्येय भी रसानुभूति होता था और वह सामाजिक जीवन से अधिक सार्वभौमिक तत्त्वों एवं सिद्धान्तों की आलोचना करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला की दृष्टि से ही नहीं शुद्ध साहित्य के दृष्टि से भी हमें उपन्यास में अभूतपूर्व वस्तु मिली। जहाँ कविता का सम्बन्ध केवल हृदय से था वहाँ विषय के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नहीं था, वहाँ उपन्यास-पाठ से विश्लेषण शक्ति पूर्णतः जाग्रत हो जाती थी और उपन्यास की समाप्ति के पश्चात् हम आह्लाद के साथ सत्य का आविष्कार भी करते थे। जहाँ कविता की पहली पंक्ति ही हमें आनन्द विभोर कर सकती थी, वहाँ उपन्यास पढ़ते समय हमें जो आह्लाद होता था, उसके साथ-साथ निरीक्षण और विश्लेषण ही चलता रहता था।

धीरे-धीरे उपन्यास के आह्लादक गुणों की अपेक्षा, निरीक्षण और विश्लेषण; एक शब्द में, समाज, व्यक्ति या सिद्धान्त की आलोचना की ओर ही कथाकार अधिक-अधिक आग्रह के साथ बढ़ते गये। अब तो उपन्यास समाज की आह्लादक आलोचना से बढ़कर—"Sociological tract" समाज शास्त्र का ग्रन्थ—बन चला है। १८५० ई० से १८६० ई० तक यूरोप में जितने उपन्यास लिखे गये हैं उन्होंने समाज की प्रचलित धारणाओं का विरोध किया है और व्यक्ति और समाज की धर्म, प्रेम, आचरण और

संस्कार विषयक मान्यताओं पर गहरी चोटें की हैं। कदाचित् उन्हीं के कारण कितने ही नए सामाजिक आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं। उपन्यासकारों ने समाज की जड़ को खोखला दिखा दिया है और मनुष्य की भावधाराओं में भीषण और क्रांतिकारी आन्दोलनों को प्रतिष्ठित किया है। हमारे हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द के "सेवासदन", ऋषभचरण और 'उग्र' के उपन्यास और प्रसाद के "तितली" और "कंकाल," समाज के प्रति विद्रोह भावना और क्रान्ति का संदेश लेकर ही उपस्थित हुए हैं। एक दूसरे प्रकार के उपन्यास भी लिखे गये हैं जो मनुष्य के चरित्र के खोखलेपन को दिखलाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। यद्यपि हमारे साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास बहुत नहीं लिखे गये, परन्तु पश्चिम में उनकी कमी नहीं है। परन्तु पात्र के विश्लेषण और मनोविज्ञान का आश्रय लेकर कुछ सफल उपन्यास, जैसे त्याग-पत्र, हिन्दी में भी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ प्रारम्भिक उपन्यासों का ध्येय मनोरंजक था, रोमांस, ऐयारी-तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास तो मुख्यतः मनोरंजन की दृष्टि से लिखे-पढ़े जाते थे, वहाँ आज के उपन्यासों का मूल उद्देश्य व्यक्ति के मत और समाज की मान्यताओं का विश्लेषण और आलोचना है।

जब कुछ दिन पहले यह कहा गया कि "साहित्य जीवन है" या जीवन का प्रतिविंब है तो उपन्यासकारों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह व्यक्ति के आभ्यांतरिक जीवन और समाज के जीवन प्रवाह को अधिक-अधिक पकड़ने की चेष्टा करे। फलतः हमें जेम्स ज्वाइस और प्रूस्ट के उपन्यास मिले। परन्तु इस प्रयत्न में उपन्यासकारों में अनायास ही ऐसे तत्त्वों का उद्घाटन किया जिनकी कोई संभावना नहीं थी और जो भविष्य के

उपन्यासों पर अत्यन्त गंभीर प्रभाव डालेंगे और कदाचित् उपन्यास का अस्तित्व ही मिटा दें।

उपन्यास के तत्व हैं—कथानक या घटनाक्रम, चरित्र या पात्र, बीज या उद्देश्य। जहाँ कोई बीज या उद्देश्य नहीं, वहाँ मनोरंजन ही उद्देश्य होता है। इनमें कथानक और पात्रों के सम्बन्ध में भी अब कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। घटनाओं का क्रम क्या हो? उसका जीवन से क्या सम्बन्ध हो? इसके लिए यह निश्चित किया गया कि घटनाएँ चाहे सत्य हों, या काल्पनिक उन्हें दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ना आवश्यक है। साथ ही जीवन से उपन्यास के घटनाक्रम को एक रूप बनाने के लिये यह कहा गया कि घटनाक्रम केवल न्यायसंगत ही न हो, उसमें आकस्मिक घटनाएँ भी हों क्योंकि वास्तविक जीवन में आकस्मिक घटनाएँ घटा करती हैं। जहाँ पिछले उपन्यासकार कहते थे कि आकस्मिक घटनाएँ "दैव" या चमत्कार या "होनी" को उपन्यास में स्थान नहीं मिलना चाहिये, वहाँ इधर के उपन्यासों ने उन्हें स्थान दिया है। परन्तु अब उपन्यासकार यह समझने लगा है कि वास्तव में घटनाओं का कोई क्रम नहीं होता। घटनाओं के प्रवाह को हम पकड़ ही नहीं सकते। घटनाओं में क्रम ढूँढ़ना ही जीवन की वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन बिखरी हुई, असम्बद्ध घटनाओं का नाम है और कथासूत्र में बाँधा नहीं जा सकता। इसीलिए यूरोप के कुछ उपन्यासों में अशृंखलित, असम्बद्ध, बिखरे जीवन के चित्र भर दिये गये हैं। इस प्रकार "कथानक" की निःसारता समझ कर लेखक जब उपन्यास लिखने बैठेगा तो वह घटनाक्रम कैसे बाँध सकेगा।

पात्रों के सम्बन्ध में हमारी धारणा में कथानक-सम्बन्धी धारणा से भी अधिक परिवर्तन हो गया है। प्राचीन काल से नायक और नायिका की महत्ता चली आ रही है। महाकाव्य का

विषय ही नायक-नायिकाओं की प्रतिष्ठा थी। दूसरे चरित्र महाकाव्य में स्थान पाते थे, परन्तु वे गौण थे। उपन्यास में भी यही रीति चली। अधिकांश उपन्यासों में चरित्रों की कई श्रेणियाँ होती हैं परन्तु नायक और नायिका पर ही उपन्यासकार की दृष्टि अधिक जमी रहती है। इन्हीं दोनों चरित्रों को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित करना उसका एकांत ध्येय होता है। १८४८ ई० में थैकरे ने "वैनिटीफ़ेयर" लिख कर यह घोषणा की कि इस उपन्यास में नायक नहीं है तो साहित्यिकों में एक कुतूहल जनक बवंडर उठ खड़ा हुआ। परन्तु नायक-नायिका की प्रतिष्ठा फिर भी उतनी ही बनी रही और कदाचित् अब भी बनी है यद्यपि समय-समय पर उसका विरोध होता रहता है। चरित्रों के चित्रण में जहाँ पहले कुछ देवता बना दिये जाते थे और दूसरे राक्षस, वहाँ बाद को देवताओं के चारित्रिक दोष और राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा। उपन्यासकारों ने यह दिखलाना चाहा कि न कोई देवता है, न कोई राक्षस! लेखकों ने समाज की मान्यताओं का खोखलापन दिखाना ही अपना ध्येय मान लिया। उन्होंने दिखलाया कि योद्धा मूलतः कायर होते हैं, कम से कम साधारण मनुष्य से अधिक साहसी नहीं होते; ऐतिहासिक महानचरित्रों में अनेक दुर्बलताएँ हैं; नायिकाएँ शुद्धता और सतीत्व की प्रतिमूर्तियाँ नहीं होतीं; वास्तव में शुद्ध प्रेम का कहीं अस्तित्व नहीं, सब जगह वासना और इन्द्रियासक्ति की अन्तः-सरिता बहती है।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिकों की खोज से लाभ उठाना चाहा है, परन्तु अब वे इस ज्ञान से इतने दब गये हैं कि महान चरित्रों की अवतारणा करना उनके लिये असंभव हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि "व्यक्तित्व" पकड़ में आ ही नहीं सकता, वह तो क्षण-क्षण

बदलता रहता है। मार्शल प्रूस्ट जैसे उपन्यासकारों ने यह चेष्टा की कि मनोवैज्ञानिकों की खोजों के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराई में उतरें; उन्होंने मनुष्य के मन का ठीक-ठीक चित्र देने के लिए उसकी उच्छृङ्खल तथा विशृङ्खल भावधारा का अत्यन्त विस्तार से कलापूर्ण चित्रण करना आरम्भ किया। एक क्षण में मनुष्य की भावधारा कितनी दिशाओं में किस प्रकार बहती है, यह दिखाने की चेष्टा में दस-दस बीस-बीस पन्ने रंग दिये गये। परन्तु फिर भी यह प्रश्न बना रहा कि क्या वास्तव में लेखक पात्र के मन को सम्पूर्णतः पकड़ सका है। जहाँ प्राचीन महाकाव्यकार, नाटककार और उपन्यासकार पात्र के किसी विशेष गुणदोष को प्रधानता देते थे और सारे उपन्यास में उसे उन्हीं के द्वारा अन्य चरित्रों से अलग रख सकते थे, वहाँ आज यह कहा जा रहा है कि यह जीवन का चित्र ही नहीं है, है तो अधूरा चित्र है; हम किसी एक गुणदोष या दो-चार गुणदोषों से किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को निश्चित नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि जिस प्रकार विज्ञान की खोजों ने हमारे जीवन को बदल दिया है, उसी प्रकार मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने हमारी मान्यताओं, हमारी धारणाओं और जीवन-सम्बन्धी हमारे सिद्धान्तों में क्रांति उपस्थित कर दी है। उपन्यास क्या है—काल का चित्र, जीवन का चित्र, मानवचरित्र का विश्लेषण, मन का विश्लेषण, समाज की आलोचना। आधुनिकतम खोजें कहती हैं—हम इनमें से किसी एक के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते। काल की गति का ठीक-ठीक चित्र हम नहीं खींच सकते, इसलिये कथा में घटनाक्रम की अवस्थिति असत्य है। इस प्रकार उपन्यासकार के हाथ से कथानक ही निकल गया। हम यह मान सकते हैं कि कथानक के बिना भी उपन्यास चल सकत है परन्तु वह कितना जटिल, क्लिष्ट और नीरस होगा यह ज्वायेसा

के "यूलीसिस" को पढ़ कर जाना जा सकता है। जीवन घटनाओं के प्रवाह और चरित्रों के संबद्ध मायाजाल का नाम है, परन्तु न हम घटनाओं के प्रवाह के अर्थ समझ सकते हैं, न मानव स्वभाव पर उनका प्रभाव ही ठीक-ठीक आँक सकते हैं। इसलिये जीवन तक पहुँचने की बात कहना ही मूर्खता है। मानव चरित्र मानव मन पर आश्रित है, परन्तु उसके विषय में भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानते। किसी भी मनुष्य का मन किसी निश्चित रेखा पर चलता है, यह बात भ्रांतिपूर्ण है।

१४. ऐतिहासिक उपन्यास

(१) इतिहास और साहित्य के सत्य की सापेक्षिक रक्षा का प्रश्न, (२) ऐतिहासिक रस, (३) साधारण उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास, (४) सत्य और कल्पना का उचित सम्मिश्रण और कलात्मक चित्रण ही सच्चे ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण करेगा, (५) प्रचलित इतिहास से विरोध नहीं करना होगा, (६) ऐतिहासिक उपन्यास का क्षेत्र, (७) ऐतिहासिक उपन्यासकार की रचनाओं का विश्लेषण, (८) ऐतिहासिक उपन्यासकार का ध्येय कल्पनात्मक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण हो।

स्कॉट के समय से ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य का एक विशिष्ट अंग बन गया है। अब उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। परन्तु सबसे पहले हमें उन आपत्तियों को समझ लेना जिन्हें वे लोग समय-समय पर उठाते हैं जो इतिहास को कथा के रूप में देखना नहीं चाहते।

पहली विचारणीय बात यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य दोनों की रक्षा कैसे हो सकती है और कहाँ तक हो? उपन्यासों के अन्दर इतिहास की जो विकृति हो जाती है,

वह कहाँ तक ठीक है ? उत्तर यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य में अन्तर जिन कारणों से पड़ जाता है उन्हें ढूँढ़ निकालना होगा। एक बात तो यह है कि इतिहास की नई-नई घटनाओं और उनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक विशेषताओं का उद्‌घाटन होता रहता है जिससे पिछले मूल्य बदले जा सकते हैं। नए प्रमाण नित्यप्रति हमारे सामने आते हैं और उनके अनुशीलन द्वारा नई-नई ऐतिहासिक सच्चाइयों से परिचित होते हैं। संक्षेप में, हम अतीत के विषय में नित्यप्रति नई बातें जानते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम इतिहास को उसी समय कथा का रूप दे सकते हैं जब हम जान लें कि विशेष युग या ऐतिहासिक घटना के सम्बन्ध में सब कुछ जानना समाप्त हो गया। परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि अब समाप्त हो गया, जानने को कुछ शेष नहीं रहा। आज जो ध्रुव सत्य है, कल इतिहास के सिंहासन के नीचे उतार दिया जाता है। तब या तो कहानीकार इतिहास को कथा का रूप ही न दे, या अप्रामाणिकता और असत्यकथन का दोषारोपण सिर पर ले। हम जानते हैं कि किसी भी अतीत घटना के सम्बन्ध में जानना कभी समाप्त नहीं हो सकता। तब हम अधूरे सत्य को ही कथा का विषय बनाएंगे। परन्तु आक्षेपक कहेगा—इससे लाभ क्या है ? ऐतिहासिक उपन्यास में हम अतीत का चित्र देखना पसन्द करते हैं, उससे एक विशेष प्रकार का रस लेना चाहते हैं, जिसे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "ऐतिहासिक रस" का नाम दिया है। हमारा उद्देश्य उस रस की प्राप्ति है जहाँ हमने वह पा लिया उपन्यासकार के नाते हमारा काम समाप्त हो गया।

साधारण उपन्यास में हम पात्रों के जीवन के उत्थान-पतन, दुख-सुख, हर्ष-शोक को अपना विषय बनाते हैं, उन्हें अपना समझ कर, पड़ोसी समझ कर अथवा अत्यन्त निकट का सम्बन्धी

समझ कर उनमें दिलचस्पी लेते हैं; उनसे सहवेदना प्रकट करते हैं, उनमें रस लेते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र साधारण उपन्यास के पात्रों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होते हैं। उनका सुख-दुख संसार की वृहद् घटनाओं के साथ बँधा होता है। विशेष आन्दोलनों; राज्यों के उत्थान-पतन, जातियों के संघर्षों के भीतर प्रतिष्ठित उन विशेष व्यक्तियों का सुख-दुख हमें और भी अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखता है। हम जानते हैं आखिर ये भी हम-जैसे मनुष्य थे जो हमारी तरह ही जीवित थे। इतिहास के विशाल रंगमंच की पृष्ठभूमि देकर वैयक्तिक सुख-दुख को विराट बना देना—यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है। नए अनुसंधान भी उस सत्य को बदल नहीं सकते जो मनोविज्ञान पर आश्रित हैं, भले ही उनसे दो-चार नाम बदल जायें या किन्हीं एक-दो पात्रों का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाये।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार कितना सत्य ले, कितनी कल्पना उसमें मिलाए। ऐतिहासिक उपन्यास के एक ओर इतिहास है, दूसरी ओर कथा। दोनों नावों पर एक ही साथ चढ़े कैसे? सर फ्रांसिस मालोव का कहना है कि एतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा दोनों का शत्रु है। मतलब यह है कि उपन्यासकार कथा के लिए इतिहास को विकृत कर देने के लिए लाचार है और इतिहास के ढाँचे में कथा को ढालने से उसके स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ती है। इस सम्बन्ध में हमें यह कह देना है कि पाठक विशुद्ध इतिहास के लिए ऐतिहासिक उपन्यास को नहीं पढ़े, इसके लिए तो इतिहास ही ठीक होगा। कथाकार से हम यही कहेंगे—जहाँ तक हो सके, ऐतिहासिक सत्य का अनुशीलन करो परन्तु अपनी दृष्टि ऐतिहासिक रस की उपलब्धि पर रखते हुए भी साहित्य के रस

को ही अपना लक्ष्य बनाओ। हो सके तो दोनों को ठीक-ठीक मात्रा दो।

परन्तु यहाँ एक बात और भी जान लेना है। साहित्य के रूप में जो इतिहास प्रचलित हो चुका है, उसका विरोध नया अनुसंधान भी नहीं कर सकता। रावण सदा रावण रहेगा। उसे इतिहास कितना ही भला प्रमाणित कर दे, वह राम नहीं हो सकता। "प्रचलित इतिहास" के विरुद्ध जाने से काव्यरस नष्ट हो जाता है, अतः कल्पना को इतिहास का रूप देते हुए इतिहासकार को अत्यन्त सचेष्ट रहना होगा। वह ऐतिहासिक सत्य पर आघात न करे, प्रचलित सत्य की अवहेलना न करे और काव्यरस से भी उसे पुष्ट करे। इस प्रकार तीन-तीन मान्यताओं को साथ लेकर चलना कठिन है, यह हम मानते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक यह प्रयत्न करता है कि वह किसी ऐसी विगत पीढ़ी के वातावरण, धारणा-विश्वास, मान्यताओं, विचारों और मनोविज्ञान का पुनर्निर्माण करे जिसके संपर्क में वह स्वयम् नहीं आया है। उपन्यासकार स्वयम् जिस पीढ़ी में चलता होता है, उसकी विशेषताओं से वह पूरा-पूरा परिचित होता है। पग-पग पर वह उस युग की परीक्षा करता है अथवा कर सकता है। अतीत के युग को चित्रित करते हुए उसे एक अपरिचित प्रदेश की यात्रा करनी होती है जहाँ क़दम-क़दम पर गड्ढे हैं, जहाँ उसे प्रत्येक दिशा में सचेष्ट रहना होगा। यह सचमुच कठिन काम है। उसे युग विशेष के कपड़े-लत्तों, मकानों, रहने के ढंग, भोजन, वार्त्तालाप के विषय और भाषा, उपार्जन के साधन—सभी के विषय में जानना आवश्यक हो जाता है। वह स्वयम् नास्तिक हो, हो सकता है उसे एक धार्मिक आन्दोलन के बीच से गुज़रना पड़े; स्वयम् प्रजातंत्रवादी हो और एकतंत्र के वातावरण और मनोविज्ञान का उद्घाटन करे। उसे अपने

वर्त्तमान रूप को एकदम उतार फेंकना है और एक अपरिचित रूप धारण कर लेना है। वह अपने युग से हट कर पीछे चला जाय। साथ ही उसे यह भी देखना है कि वह जो कुछ कहे वह स्वयं उसके युग की अनुभूतियों से इतना दूर नहीं जा पड़े कि लोग उसका पुनर्निर्माण न कर सकें या उसमें दिलचस्पी न ले सकें। सच तो यह है, उस वर्त्तमान को दृष्टि में रखते हुए अतीत के मुख पर से अवगुंठन उठाना होता है।

उपन्यास कितनी ही बातों के लिए अतीत की ओर मुड़ सकता है।

एक—वह वर्त्तमान् की वीथिका देकर उसके उज्ज्वल अथवा कुत्सित पक्ष को प्रकाश में लाना चाहता है;

दो—इसलिए कि वह किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति या किसी ऐतिहासिक आन्दोलन व घटना से आकर्षित हुआ है;

तीन—वह अतीत के द्वारा मनोविज्ञान की कोई समस्या आँकना चाहता है;

चार—वह आदर्शमूलक तथ्यों को संघर्ष करते हुए देखता है जैसे वह "एकतन्त्रवादी समाज", "धनी समाज" आदि के द्वारा वर्गविभेद के किसी रूप को सामने रख रहा हो;

पाँच—जातियों के मिश्रण एवं संघर्ष का अध्ययन करना चाहता है;

छः—इतिहास के प्रवहमान रूप में नित्य सत्य को स्थापित करना चाहता है;

सात—किसी युग, देश, समाज, कुटुम्ब या तीनों को जैसे वे किसी समय होंगे चित्रित करना चाहता है;

आठ—उसमें "रोमांस" की भावना है या वह वर्त्तमान् से क्षुब्ध होकर उससे पलायन करता है।

और भी कितने ही कारण हो सकते हैं परन्तु प्रमुख रूप से उसे यही देखना है कि प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण और ऐतिहासिक रस की प्रतिष्ठा करते हुए उसे न पूर्ण रूप से पुरातन का ज्ञान हो सकता है, न वह उसका ठीक-ठीक पुनः निर्माण कर सकता है। अतः उसे अपना कथानक नित्य सत्यों के आधार पर चलाना होगा। मा का बच्चे के प्रति स्नेह और वात्सल्य, देश के प्रति बलिदान की भावना, प्रेमी का प्रेमिका के केशों को सुगंध से भरना और उसकी मृत्यु पर उसके लिये बिलखना, हत्या के बदले में हत्या की भावना—ये कुछ नित्य सत्य हैं। इतिहास को इनके बीच में ही खिलना होगा। यही नित्यतत्त्व उसे जीवित रखेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासकार को कल्पनात्मक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण करना होता है, विशुद्ध ऐतिहासिक पुनर्निर्माण उसकी परिधि के बाहर है। वह हो भी सकता है, यह कहना भी कठिन है।

१५. कहानी

(१) कहानी की परिभाषाएँ, (२) प्राचीन कहानी का इतिहास, (३) आधुनिक कहानी का इतिहास, (४) कहानी के तत्त्व—बीज, वस्तु, कथा, चरित्रचित्रण, मनोविज्ञान, कथोपकथम, वर्णन, (५) कहानी का अपना मौलिक क्षेत्र, (६) कहानी-लेखन की विभिन्न शैलियाँ।

एक शब्द में "कहानी" की परिभाषा देना कठिन है परन्तु कहानी क्या है, कौन चीज़ कहानी है, कौन चीज़ कहानी नहीं है, यह बात हम-आप सब पहचानते हैं, भले ही यह नहीं समझ सकें कि साधारण कहानी और कलापूर्ण कहानी में क्या भेद है। प्रेमचन्द कहते हैं—"आख्यायिका केवल घटना है"। मोटे

रूप से यह बात ठीक है, परन्तु कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जो पात्र या परिस्थिति का विश्लेषण करके या चित्र देकर ही रह जाती हैं। इनमें घटना का अभाव है। फिर भी ये कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द इस बात को जानते थे, इसीलिये उन्होंने कहा है—"वर्त्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्तिमार्ग', 'पञ्चपरमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।" इन दो कथनों को मिलाना हो तो यों कह सकते हैं—कहानी एक घटना, मनःस्थिति या बाह्यपरिस्थिति है। जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो। फिर भी हम "कहानी" को बाँध नहीं पाते। ऐसी सैकड़ों मनोरञ्जक कहानियाँ हैं जिनमें किसी विशेष मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोविज्ञान का उद्घाटन नहीं हुआ है। कितनी ही कहानियों का लक्ष्य धर्म, नीति या व्यवहार लाभ होता है, कितनी ही कहानियों का कोई लक्ष्य नहीं होता। फिर भी वे कहानियाँ ही हैं, इसमें संदेह नहीं। आज यदि यह आग्रह है कि कहानी का मनोविज्ञान से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य हो तो कल यह आग्रह था कि उसका धर्म या नीति से कोई न कोई सम्बन्ध हो ही। वास्तव में, कहानी के उद्देश्य, विषय या "टेकनीक" को लेकर उसकी परिभाषा नहीं बन सकती। कहानी का क्षेत्र इतना विस्तृत है, विषय और शैली दोनों की दृष्टि से, कि हम किन्हीं दो-चार वाक्यों को कहानी की परिभाषा के रूप में नहीं गढ़ सकते।

कहानी साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद की अपाला की कथा,

ब्राह्मणों की बामदेव और रोहित की कथाएँ और उपनिषदों के जावालि और नचिकेता के उपाख्यान अत्यन्त प्राचीन हैं। पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और दर्शन के सिद्धान्तों को ग्राह्य बनाने के लिए इस प्रकार की आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। कहानी की इस गम्भीर विषयों के समझाने की उपादेयता का बराबर प्रयोग होता रहा है। इसका एक स्पष्ट फल यह हुआ है कि पशु पक्षी, चेतन-अचेतन, भूत-प्रेत और मानव-अमानव सभी कहानी के पात्र बनने लगे। इन पात्रों की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तब कथाकार के चिंतन का विषय नहीं थी। कालांतर में जातक कथाएँ लिखी गईं। बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा ये कथाएँ संसार के समीपवर्ती और दूरवर्ती भागों में पहुँचीं। इन जातक कथाओं का प्रचार और प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। मध्य एशिया, योरोप, अरब, मिश्र, आदि भूखंडों में इन कथाओं ने पहली बार कहानी नाम की वस्तु को जन्म दिया। यूनान में इन्हीं जातक कथाओं का रूपांतर किया हुआ संग्रह ३०० ई० पू० के समीप डेमीट्रीमिस कोलिरीयस ने किया। यही संग्रह बाद को "ईसप की कहानियाँ" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन ईसप की कहानियों का जो जातक कथाओं का रूपान्तर मात्र थीं, योरोप के साहित्य पर किसी-न-किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्रभाव रहा। बुद्ध की जातक कथाएँ पाली और प्राकृत में थीं, परन्तु बाद को ब्राह्मणों ने प्रचार का अच्छा साधन देख कर इन्हें स्वतंत्र रूप से अपना लिया। पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थों में इस प्रकार की कथाएँ हैं। संस्कृतभाषा में ही नहीं, अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन जातक कथाओं के आधार पर कथा साहित्य की सृष्टि हुई गुणाढ्य की "वृहत् कथा" कदाचित् पैशाचिक मात्र में ही थी। यह संभवतः ६०० ई० पूर्व में लिखी गई होगी। अब ग्रंथ लुप्त हो चुका है

परन्तु इसकी अनेक कथाएँ "वृहत् कथा मंजरी" और "कथा-सरित्सागर" के रूप में अब भी संस्कृत में उपलब्ध हैं। कथा-सरित्सागर के आधार पर ही प्रसिद्ध "अलिफलैला" की रचना हुई। उपदेश के उद्देश्य से आरम्भ होकर कथा बराबर मनोरंजन की ओर बढ़ती गई। यह तो अवश्य है कि समाज के धर्मप्रधान होने के कारण प्राचीन कहानियों का प्रधान उद्देश्य धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा रहा है, परन्तु "दशकुमार चरित्र" के समय तक लौकिकता और सांसारिकता की शिक्षा की ओर कहानी का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है।

परन्तु हमारी वर्त्तमान कहानी पश्चिम की उपज है और उसे जन्म लिए १२५-१५० वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ है। वह १८वीं शताब्दी से पहले इस रूप में हमारे सामने नहीं थी। इसीलिए जनता रोमांस, उपन्यास, नाटक Tale जैसी चीजों से मनोरञ्जन करती थी। ये सब चीजें ऐसी थीं जिनमें कहानी के तत्त्व वर्त्तमान् थे। वर्त्तमान् कहानी के धरोहर के रूप में इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है। नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता। उपन्यास से चरित्रचित्रण, काव्य से प्रकृतिचित्रण और रसात्मकता। आज यदि आप कहानियों का कोई संग्रह देखें तो उसमें देव-कथात्मक कहानियाँ और रूपकात्मक कहानियाँ भी मिल सकती हैं और ऐसी कहानियाँ भी मिल सकती हैं जिसका उद्देश्य और ढंग जातककथाओं का होगा। इस प्रकार आज की कहानी का क्षेत्र साहित्य के किसी भी अंग—नाटक, उपन्यास, कविता—से अधिक विस्तीर्ण है। उसने पूर्ववर्त्ती सभी साहित्यिक उपादानों से अपने निर्माण में सहारा लिया है परन्तु आज उसका रूप, सौष्ठव, शैली सब उसकी निजी व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं।

अच्छी कहानी के लिए प्रभाव की एकता, समय और स्थान की एकता और चरित्रचित्रण की एकता अधिक से अधिक होना

आवश्यक है। इन सबका सम्बन्ध मूलतः बीजवस्तु और कथानक से है। प्रभाव की एकता के लिए यह आवश्यक है कि कहानी किसी एक विशेष दृष्टिकोण, परिस्थिति या उद्देश्य को लेकर चले और उसी विशेष दृष्टिकोण परिस्थिति या उद्देश्य को लेकर समाप्त हो जाय। अतः कहानी की बीजवस्तु एक ही हो, और वह बीजवस्तु स्पष्ट हो। कहानीकार क्या चाहता है, कहानी क्या बने, इस सम्बन्ध में उसे अपने मन में स्पष्ट होना चाहिये। जब वह कहानी लिख रहा हो तो उस मूल उद्देश्य (बीजवस्तु) पर उसकी दृष्टि रहना चाहिये जिससे वह इधर-उधर बहक न जाय। कथानक में बीजवस्तु अथवा कथाकार के उद्देश्य का विस्तार होता है, अतः कहानी में कथानक का सौष्ठव भी आवश्यक है। कथानक जितना हो, स्पष्ट हो, केन्द्रवर्ती हो। यह आवश्यक नहीं कि कथा का विभाजन सदैव ही आरंभ, आदि और अन्त में हो सके, परन्तु यह अवश्य आवश्यक है कि कथा संगठित हो। कहानी में कई घटनाओं का समावेश हो तो उनके भीतर किसी एक अटूट सूत्र का होना आवश्यक है। यह उचित नहीं है कि कथाकार किसी अनर्थक घटना या किसी अनावश्यक पात्र को कहानी में स्थान दे या एक दो पद अनर्गल प्रलाप भर दे। कहानी में उच्छृङ्खलता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं मिलना चाहिये। कथावस्तु स्वाभाविक, मनोरंजन और सरल हो। वह प्रवाहयुक्त हो। हो सके तो वह सांकेतिक हो। कहानी पढ़ कर पाठक को मनोरंजन से कुछ अधिक मिल जाय। रूपकात्मक कहानी की तो विशेषता ही यही है कि वह इस प्रकार वस्तु से बाहर संकेत करती है, परन्तु अन्य कहानियों में भी बहुत कुछ पाठक के मन और कल्पना के लिए छोड़ा जा सकता है। कहानी इतिवृत्तात्मक कथामूलक निबन्ध नहीं है, वह कला है। कला का सर्वोच्च रूप वह है जहाँ वह प्रतिपादित वस्तु से आगे बढ़कर अप्रतिपादित वस्तु या लक्ष्य की ओर संकेत करती है।

कथानक के बाद मनोविज्ञान आता है और मनोविज्ञान के सहारे पात्र अवतीर्ण होते हैं। मूलतः चरित्रचित्रण उपन्यास का विषय है कहानी का विषय नहीं है। परन्तु जहाँ कथानक केवल कथानक के लिए नहीं है, वहाँ पात्र का चरित्र थोड़ा-बहुत विकसित ही होगा। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्र का विश्लेषण या विकास ही कहानीवाद का ध्येय होता है। परन्तु अन्य प्रकार की कहानियों में भी जब तक वे एकदम "टाइप" को चित्रित नहीं करती हैं, शतप्रतिशत रूपकात्मक नहीं हैं, कहानी चरित्र के विश्लेषण, विकास, नहीं तो "निर्माण" में दत्तचित्त होती ही हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहानियों और पात्रप्रधान कहानियों में अन्तर है। इसे समझ लेना चाहिये। मनोवैज्ञानिक कहानियों में मूल समस्या मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रस्फुटन है, पात्रप्रधान कहानियों में विशेष पात्र के व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास ही मन्तव्य है। यद्यपि दोनों चीजों का निकट का सम्बन्ध है, परन्तु जहाँ बीजवस्तु मनोविज्ञान से सम्बन्ध नहीं रखती, वहाँ भी चरित्रचित्रण महत्त्वपूर्ण होता है, मनोविज्ञान उसे पुष्ट कर सकता है। पात्रप्रधान या चरित्रचित्रण प्रधान कहानियों को छोड़ कर शेष कहानियों में पात्रों का स्थान गौण है।

कथानक और पात्रों के बाद शैली का नाम आता है। वस्तु-वर्णन, कथोपकथन, दृश्य-चित्रण, संबोधन अनेक शैलियों द्वारा कहानी की कथावस्तु चलाई जाती है। कोई-कोई कहानी (जैसे कौशिक की कुछ कहानियाँ) केवल कथोपकथन के आधार पर चलती है। इस प्रकार की कहानी कथोपकथन प्रधान कहानी कही जाती है, परन्तु नामों से कुछ आता-जाता नहीं। अधिकांश कहानियों में वस्तुवर्णन और कथोपकथन का इस प्रकार संतुलित प्रयोग होता है कि कहानी में दोनों का यथा-आवश्यकता प्रयोग होता है। वस्तुवर्णन भी कई प्रकार का हो सकता है—आत्म-

कथात्मक (मैं-शैली), पर कथात्मक (वह-शैली), संबोधनात्मक (तुम-शैली)। उसका रूप साधारण इतिवृत्तात्मक हो सकता है, या मनोवैज्ञानिक या कलात्मक। प्रायः इनमें से कोई अकेला नहीं चलता। कहानीकार कहानी को कह सकता है, या पात्र कह सकता है, या कहानी समाचारों, पत्रों, डायरी के पन्नों अथवा इसी प्रकार की चीजों के सहारे गढ़ी जा सकती है। कहने वाला प्रधान पात्र हो सकता है या गौण पात्र। कभी-कभी कई-कई पात्र बारी बारी से कहानी कह सकते हैं। संक्षेप में जितने कलाकार हैं, कहानी लिखने की उतनी ही शैलियाँ हैं।

१६. कहानी और जीवन

(१) कहानी और जीवन के सम्बन्ध में जन-धारणा, (२) कहानी जीवन का यथार्थ चित्र नहीं है, कल्पनामूलक कलात्मक चित्र है, (३) यथार्थवादियों और कलावादियों के कहानी के प्रति दृष्टिकोण, (४) कहानी में यथार्थवाद और आदर्शवाद के सामञ्जस्य की चेष्टा, (५) उपसंहार।

कुछ लोग कहानी को वास्तविक जीवन से बिल्कुल भिन्न और कुछ उसका विरोधी भी समझते हैं। वे कहते हैं जीवन सत्य है, कहानी झूठी है। संसार के साहित्य में एक समय जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें सत्य की अपेक्षा झूठ की ही अधिक मात्रा थी। पाठक वास्तविक जीवन की कटुता से बचने के लिए उसे पढ़ता था। उसके जीवन में जो असंभव था उसे वह कहानी में सम्भव बना लेना चाहता था। इस प्रकार की कहानियों का चलन शताब्दियों तक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और इस प्रकार की सामाजिक क्रांतियाँ हुईं जिन्होंने जनविशेष की अपेक्षा जनसाधारण का महत्त्व अधिक

बढ़ाया है। फल यह हुआ कि पिछली सब कहानियों को मनुष्य ने वास्तविकता से दूर पाया। इसलिए वह कहने लगा—कहानी असत्य है, जीवन सत्य है।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। अन्य कलाओं की तरह कहानी भी एक कला है और अन्य कलाओं का जीवन से जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध कहानी का भी है। जो आलोचक कहानी में जीवन का जैसा-का-तैसा रूप चाहते हैं उनके लिए यही कह देना उचित होगा कि कहानी जीवन का फ़ोटू नहीं लेती, वह एक कुशल चित्रकार की तरह चित्र बनाती है। किसी चीज़ के वास्तविक रूप और उसके फ़ोटू में बहुत अन्तर नहीं होता परन्तु किसी भी चीज़ और कुशल चित्रकार द्वारा बनाए हुए उसके चित्र में बहुत अन्तर रहता है। फ़ोटू निःसन्देह जीवन है, न कम, न अधिक। इसके विपरीत चित्र जीवन है, परन्तु कुछ कम, कुछ अधिक। फ़ोटू जीवन की वास्तविकता के ऊपर आश्रित है परन्तु चित्र जीवन की वास्तविकता को छूता हुआ भी उससे ऊप : है। चित्रकार के मन वास्तविक जीवन का जो प्रतिविम्ब पड़ता है, वह उसके दृष्टिकोण द्वारा कुछ यहाँ, कुछ वहाँ बदल जाता है। चित्रकार जो हमारे सामने रखता है वह वास्तविक जीवन नहीं होता। वह वास्तविक जीवन से कुछ अधिक भिन्न भी नहीं होता परन्तु उसकी विशेषता यह होती है कि वह जीवन के साथ-साथ देखने वाले के दृष्टिकोण को भी हमारे सामने रखता है। जो परिस्थिति चित्र की है, वही परिस्थिति कहानी की भी है। इसीलिये चित्र में चित्रकार के व्यक्तित्व का जो स्थान होता है, वही कहानी में कहानीकार के व्यक्तित्व का। कहानीकार और चित्रकार दोनों ही जीवन को कैमरे की ताल के सामने नहीं रख देते। उनका व्यक्तित्व उनकी रचना और जीवन के बीच में आ जाता है। जीवन का जो भाग उनके व्यक्तित्व में छन कर

जिस प्रकार उनके सामने आता है उस प्रकार वे उसका चित्रण करते हैं।

इसीसे यथार्थवादियों की माँग हमें खटकती है। यथार्थवादी कहते हैं—"हमें जीवन दो। तुम जो लिखो उसमें सच्ची घटनाओं का प्रतिबिम्ब हो। अपनी तरफ़ से न कुछ घटाओ, न बढ़ाओ, एक बात करो। कहानी में असम्भव बात कोई न हो। साधारण जीवन की साधारण बातें उसमें हों। उसमें रोमांस न हो। बेकार और बेमतलब चीज़ें उसमें न भरो और न कल्पना से ही उसे भरो। यदि तुम कोई कपोलकल्पित घटना नहीं लिख रहे हो तो तुम्हारे हाथ-पैर जीवन से बँधे हुए हों।" सच तो यह है कि यथार्थवादी जीवन के सत्य पर प्रत्येक वस्तु का बलिदान करना चाहते हैं। उनके लिये कहानी वास्तविकता और वास्तविकता कहानी है। दोनों में कोई अन्तर नहीं।

ऊपर हमने एक दृष्टिकोण दिया है। दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का है जो कहानी को कला का अंश समझते हैं। वे कहते हैं—"यह जो तुम जीवन में अपने चारों ओर देखते हो, यही क्या अनुभव है? क्या जीवन का सत्य मनुष्य के सत्य से बड़ा है? क्या मन स्वयम निर्माण नहीं करता? और क्या वह जो निर्माण करता है वह सत्य नहीं है?" इस श्रेणी के आलोचकों की दृष्टि में सत्य को उसी रूप में उपस्थित करने में कोई भी कला नहीं है। उनके निकट उनके अपने दृष्टिकोण को मूल्य अधिक नहीं है। उनका तर्क कहता है कि जीवन के सत्य के ऊपर एक दूसरा सत्य है। कहानीकार का सम्बन्ध इसी सत्य से है। इसे वे "कवि का सत्य" कहते हैं।

सच तो यह है कि हमें इन दोनों दृष्टिकोणों में मेल बिठाना है। अनुभव को परिभाषा में जकड़ा नहीं जा सकता और उसकी सीमाएँ भी नहीं बनाई जा सकतीं। हम जो अपनी बहिर्न्द्रियों से

ग्रहण करते हैं वही सब अनुभव नहीं है। वह तो अनुभव का एक अंश है। साहित्य में जिस अनुभव का हम प्रयोग करते हैं उसकी सीमाएँ कहीं अधिक बड़ी हैं। हमारा मन बाहर के अनुभवों से ग्रहण किए हुए सत्य पर चिन्तन करता है। और अन्य अनुभवों से उन्हें रँग कर उसे एक नया रूप दे देता है। हमारी इन्द्रियों ने जो अनुभव किया था उससे मन का यह अनुभव भिन्न हो सकता है। परन्तु इसीलिये असत्य नहीं हो जाता।

अपनी इन्द्रियों के द्वारा हम बाहर की वस्तुओं से पहचान करते हैं। यह अनुभव की पहली सीढ़ी है। हम नीले आकाश में काले-काले बादलों को उमड़ते देखते हैं। अपने इस अनुभव को हम सत्य मानते हैं परन्तु यदि हम एक कविता में यह अनुभव ज्यों का त्यों रख दें तो उससे दूसरे व्यक्ति (पाठक) में हम अनुभूति किस तरह जगा सकेंगे? हमने बादल को अपनी आँखों से देखा और उन्हें अपने मन में स्थान दिया। हमारे मन ने इस अनुभव को अपने लिए सत्य बनाने की चेष्टा की। उसने पहले के अनेक अनुभवों से उसका मेल बैठाया। सच तो यह है उसने अपने लिए सत्य की एक नई भूमि तैयार की। हमारे मन ने बादलों में एक नए सत्य को स्थापित किया। उसने कहा—"आकाश के नीले जल में एक तरुणी नहाने उतरी है और उसके केशपाश खुल कर जल के तल पर बिखर गए हैं।" अब उसके लिए बादलों का यह रूप भी उतना ही सत्य है जितना पहला रूप। मन सतत प्रगतिशील है। वह अनेक वस्तुओं को अनेक प्रकार से ढालता है और सच्चे अनुभवों की नीवों पर अनेक बालू के महल उठाता है। पूर्व अनुभवों के अनेक तत्त्वों से इन महलों का निर्माण होता है। इस प्रकार कवि-सत्य का जन्म होता है।

मन का विषय कल्पना है। सत्य और कल्पना का आधार

लेकर मायावी मन अनेक खेल खेलता है जो उसके लिए सत्य है। मनुष्य का मन जहाँ-कहीं है वहाँ वह उसके लिए सत्य है क्योंकि सभी मन एक ही तत्त्व के बने हैं। हम कैसे कह दें कि बाहर जो है सत्य है और अन्दर जो है झूठा है। बाहर का अनुभव जिस प्रकार से सत्य है उस प्रकार भीतर का अनुभव भी सत्य होगा। जब तक मन की बात एकदम असंभव न हो तब तक हम उसे संभव मान ले सकते हैं।

ऊपर के तर्क से हमने यह सिद्ध किया कि तब तक हम किसी कहानी को झूठा नहीं कह सकते जब तक वह हमारे आदर्श जगत में सम्भाव्य हो सकती है। यदि कहानी किसी भी परिस्थिति में किसी तरह संभव हो सकती है तो हमारे लिये सत्य है।

ऊपर हमने जो तर्क दिया है उस पर चल कर ऐसे आलोचक जो कला को महत्त्व देते हैं आदर्श और रोमांस को भी उतना ही सत्य समझते हैं जितना यथार्थ जीवन को। कहानी की दुनिया में यथार्थ, आदर्श और रोमांस की सीमाएँ मिल जाती हैं और हम इन तीनों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। यथार्थ और कला का रूप देने में हमें आदर्श की सहायता की ज़रूरत होती है और रोमांस अतिशयोक्ति न हो जाय इस भय से उसमें यथार्थ का पुट देना होता है। सच तो यह है कि कहानी में हमें कहानी की कला और कवि-सत्य पर अधिक ध्यान देना होता है इसलिए हम यथार्थ और रोमांस को इन दोनों से अलग नहीं कर सकते। इन दोनों तत्त्वों की सहायता से ही हम यथार्थ को मनोरंजक बना सकते हैं। इसके लिए हमें कल्पना का थोड़ा आश्रय लेना पड़ता है। इसके सिवा हम प्रत्येक अतिप्राकृतिक और अलौकिक को यथार्थ घटना के समीप ला सकते हैं यदि हम उस घटना के साथ ऐसी घटना भी जोड़ दें जो मानवमनोविज्ञान पर आश्रित है।

अन्त में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कहानी में यथार्थ और अनुभव को विस्तृत अर्थों में लेना चाहिये। यथार्थवादी इन दोनों शब्दों के बहुत संकीर्ण अर्थ लगाते हैं। वे कहानी में वैज्ञानिक नपी-तुली सच्चाई चाहते हैं परन्तु उनको याद रखना चाहिये कि कहानी को कलात्मक और प्रभावशाली बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे साधारण जीवन से ऊपर उठाया जाय।

साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु कल्पना है। मनुष्य जहाँ प्रत्येक वस्तु को विस्तार में जानना चाहता है वहाँ वह यह भी चाहता है कि इस प्रकार का ज्ञान उसे सरलता से मिल जाय। वह फूल की पंखुड़ी नोच कर उसके प्रत्येक भाग से परिचित होने की चेष्टा करता है परन्तु साथ ही वह यह भी चाहेगा कि उसका मन फूल की पूर्णता को भी ग्रहण कर सके। कहानी मन की अपेक्षा हृदय को अधिक स्पर्श करती है। अतः उसमें चुनाव की बड़ी आवश्यकता है। अधिक चुनाव से मन संतुष्ट हो जाता है, हृदय ऊब जाता है। वह प्रत्येक वस्तु जो हमारे मनोभाव और हमारे मनोभावनाओं पर प्रभाव डालती है, और उनमें रसात्मक भ्रांति उत्पन्न करती है, वह प्रत्येक वस्तु जो थोड़ी देर के लिये पृथ्वी के समतल से ऊपर उठा कर एक दूसरी अधिक सुन्दर और कम परिचित पृथ्वी पर स्थापित करती है—वह प्रत्येक वस्तु हृदय को ग्राह्य है। इसलिये कहानीकार वस्तुओं के विस्तार में न जाकर उनकी कुछ विशेषताएँ चुन लेता है और उन थोड़ी विशेषताओं को कहानी में इस तरह जोड़ता है कि उस थोड़े वर्णन के द्वारा ही पूरी वस्तु की व्यंजना हो जाती है। पाठक जब थोड़े से वर्णन में पूरी वस्तु से परिचित हो जाता है तो वह यह क्यों चाहेगा कि वह उसके विस्तार में जाय? यथार्थवादी और आदर्शवादी कलाकार के दृष्टिकोण में केवल

यह अंतर है कि जहाँ यथार्थवादी प्रत्येक वस्तु को विस्तार में देखता रहता है और सब कुछ बता देना चाहता है, वहाँ आदर्शवादी कलाकार हमारे सामने वस्तु की विशेषताएँ रखता है, इस तरह कि जिन चीज़ों को उसने स्थापित नहीं किया है, मन उनकी स्वयम् कल्पना कर लेता है। आदर्शवादी कलाकार अपनी चुनी हुई चीज़ों का यों ही वर्णन नहीं कर देता। वह उसमें अपने मनोभावों की व्यंजना भी रखता है। और वह उन चीज़ों को अपनी आत्मा के रस में लपेट कर पाठक के सामने रखता है। वह यथार्थवादी की तरह शुष्क दार्शनिक नहीं है, भाव-प्रधान कवि है।

संक्षेप में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी में यथार्थ जीवन का चित्रण आवश्यक है। न होने से कहानी कपोल-कल्पना-मात्र रह जायगी। हम किसी भी ऐसी वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकते जिसके लिए हमारा अनुभव हमें तैयार नहीं कर देता या जो हमारे मनोविज्ञान से मेल नहीं खातीं। परन्तु इसके साथ ही हमें कला का मुख भी देख कर चलना पड़ता है। हम जीवन का सत्य तो अवश्य उपस्थित करें परन्तु वह सत्य वैज्ञानिक सत्य पर न आश्रित होकर कला के सत्य पर आश्रित हो। कहानी का जो उद्देश्य रहे वह कलापूर्ण ढंग से स्थापित किया गया हो। पाठक उसे कहानी के भीतर से पाये। कहानीकार कोई पुरोहित नहीं है जो शिक्षा देता फिरे। हो सकता है कि कहानी की नींव किसी ऊँची नैतिक शिक्षा पर रखी गई हो, हो सकता है कि कहानीकार ने कोई नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित किया हो। परन्तु उस नैतिक शिक्षा अथवा नैतिक दृष्टिकोण को शुष्कवर्णनात्मक ढंग पर उपस्थित करना भूल होगी। कला का काम पाठक की संवेदना, उभारना और उसे सत्य में सौन्दर्य का दर्शन करना है। कहानी यह काम करे तब वह सफल कहानी है।

१७. हिन्दी साहित्य

(१) हिन्दी साहित्य में भारतवर्ष की प्रमुख आध्यात्मिक साधनाएँ, (२) हिन्दी साहित्य में हिन्दू जातीयता और राष्ट्रीयता, (३) हिन्दी साहित्य में कुटुम्ब की संस्था, (४) हिन्दी साहित्य को परतन्त्र साहित्यिक की उपज होने के कारण लांछित नहीं होना होगा, (५) हिन्दी साहित्य में परतन्त्रता से पहले चली हुई परम्पराएँ, (६) हिन्दी साहित्य और जनता, (७) हिन्दी साहित्य मूलतः हिन्दू-संस्कृति की उपज है।

हिन्दी साहित्य में पिछले एक हज़ार वर्ष की भारतीय साधना, चिन्ता और संस्कृति सुरक्षित है।

इन एक सहस्र से ऊपर वर्षों में भारतवर्ष की प्रमुख साधना आध्यात्मिक रही है। यह आध्यात्मिक साधना दो प्रमुख धाराओं में हमारे सामने आती है। एक धारा ऊपर के समाज (सवर्ण) को लेकर बढ़ती है और प्राचीन हिन्दू पौराणिक धर्म-भावना पर आश्रित है। वह दूसरे वर्ग की साधना से बहुत कम प्रभावित होती है, परन्तु अपने ही वर्ग में उसके कई आलम्बन हैं—कृष्ण, राम, अन्य अवतार, देवी-देवता। यह साधन वैष्णव काव्य में प्रकाशित हुई है। १६वीं शताब्दी से चल कर आधुनिक काल तक यह धारा अटूट चली आती है। इस साधना का रूप भक्ति है। दूसरी साधना-धारा विशेषतः निचले वर्गों में बही है। वह एक

प्रकार से सवर्णों के आध्यात्मिक अधिकारों के प्रति प्रतिक्रिया है। यह धारा अवतारवाद का विरोध करती है। जनता के अनेक विश्वासों को पकड़ती है। हठयोग में इसे विश्वास है। प्रारम्भ में इसने नैतिकता की उपेक्षा की है परन्तु धीरे-धीरे कट्टर नैतिकता का समावेश इसमें हो गया है। यह साधना-धारा लोकपक्ष को अपने सामने रखती है। इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसने मध्ययुग की जातीय भेद समस्या और हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल करने की चेष्टा की है। जनता के नैतिक बल को ऊपर उठाया है।

मुसलमानों के एक वर्ग—सूफी-संतों—की आध्यात्मिक साधना भी एकांश में हिन्दी सूफ़ी काव्य में प्रकाशित हुई परन्तु वहाँ उसका मौलिक रूप से बहुत कुछ बदला मिलता है।

हमारे हिन्दी साहित्य में इन मुख्य आध्यात्मिक साधनाओं के अतिरिक्त अनेक लौकिक भावनाओं और चिन्तनाओं के भी दर्शन होते हैं। परन्तु उनका सम्बन्ध विशेष वर्गों से है।

प्रारम्भिक काल की वीरगाथाओं में शासक वर्ग (क्षत्रिय, राजपूत) के शृंगारमूलक वीरत्व का सुन्दर चित्रण है। इसमें जातीय या राष्ट्रीय भावना नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के वीरकाव्य में यह भावना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। हिन्दू जातीयता मुसलमान जातीयता के विरोध में उठ खड़ी हुई है। १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक देश के शासक और उसके सम्पर्क में आने वाले वर्ग में शृंगार भावना की प्रधानता थी। १६वीं शताब्दी में विलास और कला कृत्रिमता को प्रधान स्थान मिला। १६वीं शताब्दी के बाद हमारा साहित्य पहली बार जनापेक्षित हुआ, अतः उसमें सच्चे रूप में जन भावनाएँ प्रस्फुटित हुई। साथ ही उसका स्वर आध्यात्मिकता एवं अति-शृंगारप्रियता से उतर कर लौकिक हुआ और अनेक आरोह-अवरोहों में फूटा।

अब से साहित्य के विषय हुए—देशप्रेम, जातिप्रेम, लोक-सेवा, आशा और निराशा, सामाजिक, अर्थनैतिक और राजनैतिक संघर्ष और व्यक्ति पर इनकी प्रतिक्रियाएँ।

भारतीय संस्कृति का आधार कुटुम्ब है। सूफियों के कथाचरित्र, रामचरितमानस और उपन्यास साहित्य को इसीका आधार मिला है। कुटुम्ब और उसकी संस्था से विकसित अनेक प्रसंगों ने हिन्दी साहित्य को रसपूरित किया है।

परोक्ष रूप से चाहे हिन्दी साहित्य के पीछे परतन्त्रता का स्वर बजता हो, परन्तु वह परतन्त्र साहित्यिकों की उपज होने के कारण लाञ्छित हो यह बात नहीं। परतन्त्रता के कारण हमारी भाषा और हमारे साहित्य पर शासक जातियों की भाषा और उनके साहित्य के प्रभाव पड़े और उनके स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ी परन्तु इस मत को बहुत दूर तक नहीं बढ़ाया जा सकता। हो सकता है स्वतन्त्र होने पर कुछ नए उपकरण होते, कुछ इन्हीं स्वरों का नाद तीव्र होता, परन्तु परिस्थिति मूलतः बदल जाती यह सोचना भूल है।

हमारा वैष्णव साहित्य पौराणिक साहित्य का आधार लेकर चलता है और साथ ही उसे संस्कृति काव्यों और काव्य शास्त्रों का सहारा भी मिला है। हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद देश में सगुणोपासना के आधार पर वैष्णवमत का पुनरुत्थान हो रहा था। हिन्दी साहित्य में वही प्रस्फुटित हुआ है। संभव है कि विदेशी शासन ने कवियों की दृष्टि कृष्ण और राम तक ही सीमित कर दी और उनके स्वर को 'रुष्ट' नहीं होने दिया। परन्तु मूल रूप में मध्य युग का वैष्णव पुनरुत्थान एवं बराबर गंभीर और व्यापक होती हुई धारा का अंतिम परिच्छेद है। उसमें हमारी संस्कृति की सुन्दरता नैतिक भावनाएँ सुरक्षित हैं। सूफ़ी साहित्य में भी बहुत कुछ भारतीय हैं, उसके आध्या-

त्मिक अर्थों को हटा कर लगभग सब भारतीय हैं और आध्यात्मिक अर्थ भी भारतीय वेदांत के आधार पर अवस्थित भक्तिमत से अधिक दूर नहीं पड़ते।

शृंगार साहित्य के मूल में भी एक परम्परा है। इस परम्परा की ओर कवि क्यों बहे, इसका उत्तर सामयिक परिस्थिति और आश्रय-दाताओं की रुचि भले ही हो, परन्तु प्राचीन प्राकृत और संस्कृत मुक्तक कारों, काव्याचार्यों और महाकवियों के काव्य हिन्दी के शृंगार साहित्य को पल-पल पर बल देते रहे हैं। वास्तव में संस्कृत शृंगार साहित्य ने वैष्णवधर्म भावना को भी प्रभावित किया और उसके साहित्य को भी। राधाकृष्ण के आलम्बन के कारण इस प्रभाव पर दृष्टि नहीं जाती परन्तु जब युग की विशेष परिस्थिति के कारण आलम्बनों का स्वरूप अस्पष्ट हो गया अथवा काव्य उनसे स्वतन्त्र हो गया, तो हमें हिन्दी के रीतिकाव्य के दर्शन हुए।

परन्तु १८वीं शताब्दी तक के हिन्दी साहित्य में कई अभाव खटकते हैं। वह अधिकतः ऊर्ध्वमूल है। वह या तो परलोक पर आश्रित है या असाधारण शासकवर्ग पर। उसमें जनसाधारण के प्रतिदिन के सुख-दुख और आशाकांक्षा के नाम पर कुछ भी नहीं। इस बड़े काल में जन-समाज क्या केवल भक्त था? या इन्द्रियजन्य वासनाओं में ही लिप्त था? क्या उस समय हिन्दू नारियाँ आत्मोत्सर्ग नहीं करती थीं? पुरुष अपने सम्मान और स्वतन्त्रता के लिए सुख की बलि नहीं देते थे? क्या कुटुम्ब इसी प्रकार नहीं चल रहे थे जिस प्रकार आज चल रहे हैं? परन्तु ये सब हमारे काव्य में कहाँ?

बात यह है कि उस समय साहित्य का मुख जनता की ओर नहीं था। काव्यपरिपाटी में जनता का कोई स्थान नहीं था।

जनता अपना अलग साहित्य बना रही थी। यह साहित्य लोकगीत साहित्य है जिसका केवल कुछ अंश सुरक्षित रह सका है। सूक्ष्म अध्ययन से यह अवश्य पता चलता है कि हमारा साहित्य और जनसाहित्य बराबर एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं परन्तु उनमें एक दूसरे का स्थान नहीं ले सका। आधुनिक काल में भी साहित्य जनसाहित्य के समीप नहीं आया है, न भाषा की दृष्टि से और न भाव की दृष्टि से। अभी भाषा और भावप्रकाशन-सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियाँ कड़ी हैं, टूट नहीं पातीं। परन्तु अब उसका मुख जनता की ओर हो गया है। उसमें जनसाधारण की आशा-निराशा के स्वर बजने लगे हैं।

हिन्दी साहित्य को हमें एक दूसरी दृष्टि से भी देखना होगा। वह मूलतः हिन्दू संस्कृति की उपज है। इस संस्कृति को पिछले एक सहस्र वर्षों में दो विदेशी संस्कृतियों से मोरचा लेना पड़ा है। दोनों बार उसने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की है। जहाँ एक वर्ग विदेशी संस्कृति से सामञ्जस्य स्थापित करने की समन्वय-भावना लेकर चला, वहाँ दूसरा प्रतिरोध-भावना लेकर चला, प्राचीनकाल में पहले वर्ग ने संत काव्य की रचना की, दूसरे वर्ग ने वैष्णव साहित्य की। जो वर्ग प्रतिरोध भावना लेकर चला उसने प्रत्येक बार प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्था को समझ कर उसे नवीन परिस्थिति के अनुसार नया रूप देने की चेष्टा की। फलतः वह पौराणिक विषयों की ओर मुड़ा और उसकी भाषा में तत्समता बढ़ी। इसीलिए सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में हमें एक बड़ी संख्या में उन स्मृति ग्रन्थों और पुराणों का अनुवाद होता हुआ दिखलाई पड़ता है जो हमारी संस्कृति के आधारस्तम्भ हैं। वास्तव में हमारा वैष्णव साहित्य मध्ययुग के पुनुरुत्थान मूलक साहित्य को केवल एक अंश है। उसे व्यापक क्षेत्र में रख कर ही उसका ठीक-ठीक मूल्य आँका जा सकेगा। इसके साथ

ही कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत वर्ग भावना के भी दर्शन होते हैं परन्तु उसका रूप कहीं भी सुस्पष्ट नहीं हो सका है।

१८. हिन्दी नाटक और रंगमंच

(१) नाटक के लिये रंगमंच की आवश्यकता—"साहित्यिक नाटक" न साहित्य है, न नाटक (२) हिन्दी नाटक का इतिहास, (३) हिन्दी प्रवेश के रंगमंच का इतिहास (४) रंगमंच के अभाव के कारण अनुवादित और साहित्यिक नाटकों का आविष्कार (५) हिन्दी नाटक और पारसी रंगमच (६) स्वतन्त्र हिन्दी रंगमंच के स्थापन की आवश्यकता (७) हिन्दी रंगमंच का रूप क्या होना चाहिये (८) कुछ आधुनिक प्रयत्न।

नाटक और रंगमंच का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। नाटक नहीं है तो रंगमंच क्या होगा और बिना रंगमंच के नाटक क्या! नाटक साहित्य का एक ऐसा अंग है जिसका प्रदर्शन रंगमंच पर ही हो सकता है। नाटक पढ़ा भी जा सकता है, पढ़ कर सुनाया भी जा सकता है, परन्तु उसकी सार्थकता इसीमें है कि वह रंगमंच पर खेला जाय। हमारे कुछ नाटककार कहते हैं—"हमें रंगमंच से क्या? हम तो साहित्यिक नाटक लिखेंगे। उन्हें पढ़ो। काव्य-रस लो। हो सके तो खेल लो, नहीं हो सके तो, बाबा, रहने दो।" परन्तु यह दृष्टिकोण ही गलत है। "साहित्यिक नाटक" न साहित्य है, न नाटक। नाटक में नाटकत्व का होना आवश्यक है और इस नाटकत्व या नाटकीयता को परखने के लिए रंगमंच चाहिये।

हिन्दी नाटक आधुनिक वस्तु है। यों हिन्दी का साहित्य एक सहस्र वर्ष पुराना है परन्तु उसमें कविता-ही-कविता है। नाटक के लिए गद्य चाहिये। गद्य १६वीं १७वीं शताब्दी में पहली बार

हमारे सामने आया। तब मुसलमानों का राज्य था। मुसलमान स्वयं मूर्तिकला के विरोधी, संगीत और चित्रकला के विरोधी, किसी भी प्रकार के अनुकरण के विरोधी थे। उनके यहाँ "नाटक" जैसी कोई चीज़ नहीं थी। यहाँ उनके आने से पहले ही यह चीज़ समाप्त हो गई थी। पराजित हिन्दू जनता उसका उद्धार भी नहीं कर सकी। फल यह हुआ कि मुसलमानी राज्य में न नाटक लिखे गये, न रंगमंच की आवश्यकता पड़ी। कुछ नाटक अनूदित अवश्य हुए—हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक का अनुवाद किया, नेवाज ने शकुन्तला का अनुवाद किया, ब्रजवासी लाल ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद किया। देव का माया प्रपंच नाटक आध्यात्मिक कविता-मात्र है, यही हाल प्रबन्धचन्द्रोदय और समयसार का है जिनमें धैर्य, दया, पाप, पाखण्ड, ईर्ष्या आदि को पात्रों के रूप में उपस्थित किया गया है। आनन्द रघुनन्दन प्रभृति कुछ मौलिक नाटक लिखे भी गए तो आद्यांत छन्द में और पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, दृश्यपरिवर्तन इन जैसी नितान्त आवश्यक बातों का कहीं पता नहीं। होता भी कैसे, रंगमंच तो था ही नहीं। नाटक के नाम पर सम्वादशैली में कविता ही लिख दी जाती थी।

जिस हिन्दी नाटक में सबसे पहले पात्रों के प्रवेश आदि का ध्यान रखा गया है और नाटकीय नियमों का पूर्णतः पालन किया गया है, वह "नहुष" नाटक है। इसके लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता श्री गिरिधरदास थे। इस नाटक के बाद राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुन्तला" अनुवाद का नाम आता है। फिर बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक और अनूदित नाटक आते हैं। हरिश्चन्द्र ने नाटक ही नहीं लिखे, रंगमंच का भी आयोजन किया। काशी में नाटक मण्डली की स्थापना हुई जिसमें भारतेन्दु के कुछ नाटक सफलतापूर्वक खेले गए। सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, अन्धेरनगरी—इन कुछ नाटकों ने रंगमंच पर भी

अच्छी सफलता पाई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिन्दी में नाटक-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो चुका था और कलकत्ता, काशी तथा प्रयाग की रंगशालाओं में खेला भी जा चुका था। नाटकों के विषय पौराणिक अथवा सामाजिक होते थे। उस समय की जनता की अभिरुचि को इन नाटकों में अच्छी चीजें मिलीं जिनसे उसका मनोरंजन हुआ। रंगमंच ने नाटकों के विकास में सहायता की। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा सद्यः परिमार्जित अभिरुचि के नित नवीन सम्पर्क में आने के कारण देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्वादि दैवी पात्र कम होते गए, दैवी चमत्कारों और आश्चर्य घटनाओं की ओर से नाटककारों और प्रेक्षकों की दृष्टि हटी और भावों के संघर्ष की ओर बढ़ी।

परन्तु सभी हिन्दी प्रदेश का रंगमंच पारसी थियेटर कम्पनियों के हाथ में चला गया। अभी साधारण जनता का पूरा-पूरा रुचि-परिष्कार भी न हो पाया था कि यह घटना घटी। थियेटर के उर्दू लेखकों के लिखे नाटकों की अति-नाटकीयता, तड़क-भड़क, गद्य-पद्य मिली चलती भाषा और पौराणिक तथा रोमांचक कथानक ने हिन्दी रंगमंच और मौलिक हिन्दी नाटक का अन्त कर दिया। राजा और मन्त्री से लेकर भृत्य तक पद्य में बोलते थे, पुरुष स्त्रियों का पार्ट करते थे, जड़ाऊ जेवरों और रंगबिरंगे रेशमी कपड़ों में सिर से पैर तक लदे हुए पात्र भँडैती करते हुए आते, भँडैती करते हुए चलते जाते, परन्तु कहीं परदों की फड़फड़ाहट के बीच कोई दैवी पात्र आकाश से उतरता, कहीं कोई पृथ्वी में समा जाता। जनता ताली पीटती। उसकी कुतूहलवृत्ति को प्रदीप्त करने वाले इस पारसी थियेटरों ने भाव प्रधान हिन्दी नाटकों के लिए न रंगमंच छोड़ा, न जनता। तब से अब तक हिन्दी नाटक को रंगमंच नहीं मिला है।

रंगमंच नहीं रहा परन्त नाटक लिखने की परम्परा बनी

रही। कुछ दिनों तक मौलिक नाटक नहीं लिखे गए। अनुवादों की धूम मची। कालिदास, भवभूति, द्विजेन्द्रलाल राय और शेक्सपियर के अनवादों से हिन्दी नाट्य साहित्य का भांडार भरा गया। अनुवादों की यह परम्परा अब तक चली आती है। गैल्सवर्दी, मोलियर और इब्सनप्रभृति विदेशी नाटककारों की बहुत-सी रचनाएँ अनुवाद रूप में हिन्दी साहित्य में आ गई हैं। समय-समय इनमें से कुछ को विद्यार्थी लोग छोटे-मोटे रंगमंचों पर खेलते भी रहे हैं, परन्तु इन अनुवादों को भी अलमारी तक ही अधिक सीमित रखा गया है। फल यह हुआ है कि आज नाटक "पाठ्य" हो गया है। वह विश्वविद्यालयों, कालेजों और पुस्तकालयों के बाहर आना नहीं जानता।

जिस युग में हिन्दी का नाट्य भांडार विभिन्न साहित्यों के नाटकों से भरा जा रहा था, उसी युग में कुछ हिन्दी प्रेमी पारसी थियेटरों के लिए हिन्दी भाषा में नाटक भी लिख रहे थे। ये नाटक पारसी स्टेज पर खूब प्रसिद्ध हुए। छप कर प्रकाश में भी आये। इन थियेटरी नाटककारों में पं० राधेश्याम और श्री नारायणप्रसाद बेताब प्रमुख हैं। इनका नाट्य साहित्य भी आज हिन्दी की सम्पत्ति है परन्तु वह नाटक के ऊँचे मापदंडों पर पूरा नहीं उतरता। वह पारसी थियेटर का प्रतिबिम्ब है। हिन्दी प्रदेश की जनता अथवा हिन्दू संस्कृति को उसमें ढूँढना मूर्खता होगी। उसमें साहित्यिकता की मात्रा भी बहुत कम है। फलस्वरूप, पारसी रंगमंच के बहुमूल्य उपकरणों के साथ चाहे वह कितना ही सफल रहा हो, लिखे हुए रूप में उसमें कोई भी आकर्षण नहीं। विषय वही है। समाज और पौराणिक एवं धार्मिक कथाएँ।

नाटक-साहित्य की इस दुर्दशा को देख कर कुछ ऊँची कोटि के साहित्यिकों का ध्यान उनकी ओर गया। इनमें बाबू जय-

शंकरप्रसाद अग्रगण्य हैं। इन्होंने अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, विशाख आदि कई उच्च कोटि के नाटक लिखे। परन्तु भाषा क्लिष्ट है, कथानक भी रंगमंचोपयोगी नहीं। चरित्रचित्रण अवश्य अच्छा हुआ है परन्तु रंगमंच के नाटकों में नाट्योपयोगिता की ओर जो ध्यान रखा जाता है, उसका नितांत अभाव है। ऐसा होना आवश्यक था। प्रसाद बाबू रंगमंच से परिचित नहीं थे। एक दो अवसरों के अतिरिक्त उनके नाटक उनके सामने खेले भी नहीं गए, अतः उन्होंने रंगमंच की एकदम उपेक्षा की। आलोचकों की चिल्लाहट से चिढ़ कर जैसे उन्होंने नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध के विषय में एक विशेष मत ही गढ़ लिया—वह नाटक लिखेंगे, रंगमंच वाले रंगमंच को उनके नाटकों के लिये तैयार करें। उनके आलोचकों एवं समर्थकों ने भी आखिर यही निश्चय किया है—"प्रसादजी के नाटकों की सर्वांङ्ग समीक्षा बिना हिन्दी के स्वतन्त्र रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसका नाट्य-चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसीके लिए होना चाहिये।"

परिस्थिति सचमुच विचित्र है। हिन्दी के नाटककार नाटक लिखते हैं, वर्ष भर में दस-बीस नाटक प्रकाशित हो ही जाते हैं। परन्तु हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। इसलिए वे पुस्तकालयों में स्थान पाते हैं या कोर्स बुक (पाठ्यग्रन्थ) बन कर समाप्त हो जाते हैं। उनका अभिनय नहीं होता। फलतः लेखक यह नहीं जान पाता कि अभिनय की दृष्टि से वह कहाँ सफल है, कहाँ असफल। कुछ मंडलियाँ वर्ष में एकाध बार यहाँ-वहाँ से परदे जुटा कर कोई अभिनय भी कर लेती हैं तो दर्शक इकट्ठे नहीं होते। भारतेन्दुकाल में रंगमंच धीरे-धीरे पनपने लगा था। इतने में पारसी स्टेज आ गया। हिन्दी के नाटककार बँगला रंगमंच की सफलता को देख कर हाथ मलते ही रह गए। आप

कुछ करते-धरते नहीं बना तो बँगला के अनुवादों से हिन्दी का भांडार भर दिया। फिर जब इन अनुवादों की बहुलता ने हिन्दी नाटककारों को जन्म दिया तो सस्ती भावुकता लेकर वर्त्तमान् सिनेमा के सवाक् चित्र-पटों का अभ्युदय हो गया। फलतः हिन्दी के नाटक के लिए अभिनय का स्वाँग भर रह गया। फिर वह भी समाप्त। जो नाटककार स्वतन्त्र रूप से नाटक लिखने लगे थे, उन्होंने रंगमंच के पुनरुत्थान के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। वे रंगमंच के ज्ञान और अभिनय के अनुभव से शून्य रहे परन्तु नाटक लिखते गए। इस प्रकार "दृश्यकाव्य" नाटक हिन्दी में "पाठ्यकाव्य" मात्र रह गया।

यह हम जानते हैं कि पारसी थियेटर और आज के सिनेमा भवन ने जनता की अभिरुचि बिगाड़ दी है। वह कथानक चाहती है, रोमांच चाहती है। कौतूहलवर्द्धक घटनाएँ एक-एक कर मञ्च पर आती जाएँ। कुछ चमत्कार हो। दृश्यों की जगमगाहट और परदों की फटफटाहट से उसकी आँखों को चौंध लगे, कान बहरे हो जायें। ऐसा नाटक चाहिये! ऐसा रंगमंच हो। तब वह करतल ध्वनि करती हुई कहेगी—'Splendid', "Superb", "Excellent" "खूब-खूब" "Once more"। परन्तु इलाज क्या है? क्या हाथ पर हाथ रख बैठ जाना श्रेष्ठ होगा? जानते हैं जनता की रुचि बिगड़ी है, परन्तु सँभालेगा कौन? सुधरेगी कैसे? यह तो साहित्य-प्रेमियों का ही काम है कि जनता में नाटक के लिए अभिरुचि उत्पन्न करे। उसकी रुचि का मार्जन करें। नहीं तो, जनता और उनमें सम्पर्क ही कैसे होगा? नाटक किसके लिए लिखे जायेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी प्रेमी संस्थाएँ इस काम को अपने हाथ में लें। कलकत्ता, काशी, प्रयाग, आगरा, दिल्ली जैसे बड़े-बड़े नगरों में एक-एक हिन्दी रंगमंच अवश्य स्थापित हो। इनमें साहित्यिकों के लिखे

हुए नाटक अभिनीत हों। जनता के मनोरंजन के लिए भी ध्यान रखा जाय। उसे ऐसा प्रलोभन दिया जाय कि वह अधिक से अधिक संख्या में इन नाटकों का अभिनय देखे। नाटककार को भी जनता और रंगमंच का अध्ययन करने का मौक़ा मिले परन्तु ऐसा हो. इसके साथ ही हमें नाटक-सम्बन्धी अपनी बहुत-सी धारणाएँ भी बदलनी होंगी।

हमारे नाटक बड़े-बड़े होते हैं। हमें छोटे-छोटे नाटक लिखने होंगे जो सिनेमा से अधिक समय न लें। १००—१२५ पृष्ठों का नाटक २ घन्टों में अभिनीत हो सकता है। इससे अधिक बड़े नाटक आधुनिक मंच के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। सब नाटक गंभीर भी नहीं हों। कुछ प्रहसन हों। कुछ ऐतिहासिक। कुछ रोमांचक। कुछ यथार्थवादी। उनमें स्वगतकथन—जैसे पुराने भद्दे प्रयोग न हों जो आज के युग में अस्वाभाविक लगें। नाटककारों के लिखे हुए संकेतों के अनुसार ही नाटकों का अभिनय किया जाय। उधर नाटककार भी रंगमंच का अधिकाधिक ज्ञानार्जन करें और धीरे-धीरे संकेत लिखने में पटु हो जायें। पश्चिमी देशों में नाटककार ने ही निर्देशक का स्थान ले लिया है। पात्र की क्या आयु हो, क्या कपड़े पहने, किन हाव-भावों का प्रदर्शन करे—इन बातों की योजना नाटककार ही करता है। वहाँ संकेतलेखन एक विशिष्ट कला हो गया है। भाषा की दृष्टि से भी हमें कुछ आगे बढ़ना होगा। हमें अपने नाटकों के लिए ऐसी भाषा का निर्माण करना होगा जो साहित्य की रक्षा करे परन्तु जनसाधारण के लिए दुरूह न हो जाए। काव्यपूर्ण भाषा, छन्द और गीतों का युग गया। अब तो नाटक सारे-का सारा गद्य में ही होगा। हो सकता है, अवसरानुकूल कुछ गीत रहें, परन्तु एक-दो, अधिक नहीं।

इस नए रंगमंच से हमें सब प्रकार की अस्वाभाविकताओं

को दूर रखना पड़ेगा। इस समय स्त्रियाँ रंगमंच पर नहीं आतीं। परदे की प्रथा और शिक्षा का अभाव यह दो मुख्य कारण हैं जिनके कारण ऐसा होता है। जब स्त्रियाँ अपनी कला से हिन्दी रंगमंच को गौरवान्वित करेंगी तब हमारी नाट्यकला इतनी अस्वाभाविक और अरुचिकर नहीं रहेगी।

हर्ष की बात है हमारे साहित्यिकों का ध्यान इस ओर गया है। समस्यामूलक नाटकों की सृष्टि हुई है। "एकांकी" लिखे जा रहे हैं। विश्वविद्यालयों और कालेजों के लड़कों ने कितने ही एकांकियों का अच्छा अभिनय किया है। इन अभिनयों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ रही है और इनके द्वारा हमारे नाटककार धीरे-धीरे मंच की आवश्यकताओं से परिचित हो रहे हैं। आलोचकों का ध्यान भी इस ओर गया है। हिन्दी नाटक की आवश्यकताओं के विषय में एक नाटककार आलोचक ने कुछ ही समय पहले लिखा है—"हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच की सुविधानुसार पूरे उतरें। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्ण रीति से हो। जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्य साहित्य अन्य उन्नत भाषाओं के नाट्यशास्त्र से समानता कर सकेगा।"

१९. हिन्दी का वैष्णव साहित्य

(१) भूमिका (२) वैष्णव साहित्य में भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की रक्षा (३) इस साहित्य में काव्य और आध्यात्म का अनुपम समन्वय (४) वैष्णव साहित्य का समसामयिक और परवर्ती युग को सन्देश (५) वैष्णव साहित्य में शाश्व नैतिक आदर्श (६) कृष्णकाव्य के प्रति उपस्थित की हुई लाञ्छना का खंडन।

हिन्दी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे साहित्य में ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमाल हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थितिवश हुआ, परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है वहाँ उच्चतम कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवनस्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है वैसी बाइबिल के कुछ गीतों को छोड़ कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य अमूल्य है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अंतर्द्वन्द्व के सुन्दरतम चित्रण हमें रामचरितमानस में मिलेंगे। राधाकृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में यहीं मिल सकते हैं।

इस साहित्य की यह ख़ूबी है कि इससे हृदय, मन, आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। इसे काव्यानन्द का विषय बनाइये। रसों,

अलंकारों, व्यंगपूर्ण स्थलों, भावपुष्ट संवादों, उत्तमोत्तम चरित्रों का आनन्द लीजिये। इसे अध्ययन का विषय बनाइये। संसार के सन्तों और पैग़म्बरों के कहे हुए उत्तमोत्तम सिद्धान्त इसमें हैं, ढूँढ़ने के विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं। चाहो तो मन उन दार्शनिक और आध्यात्मिक गुत्थियों में उलझा लो जो कबीर और तुलसी के साहित्य उपस्थित करते हैं। आत्मा को उच्च बनाने के लिए इसे साधना का विषय बनाइये। इतिहास साक्षी है कि यही साहित्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रगट करता रहा है और आध्यात्म साधकों की भूख मिटाता रहा है।

हिन्दी का वैष्णव साहित्य लोकपरलोक को एक साथ स्पर्श करता है। वह काव्य के पंखों पर स्वर्ग और मोक्ष तक उड़ता है परन्तु उसके पैर लोकहित के कठोर धरातल पर भी रहते हैं। सभी कवियों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती परन्तु सामान्यत: यह बात सत्य से बहुत दूर नहीं है। संतों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने शील, दया, क्षमा, आत्मावलंबन, पर-दुःख, कातरता, सन्तोष, दम, शम आदि महान् वैयक्तिक गुणों की प्राप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। उन्होंने अपने जीवन को इन्हीं गुणों पर खड़ा किया था और उनका काव्य इन्हीं संदेशों के कारण लोकपरिष्कार करता रहा है। जिस युग में नैतिक आदर्शों की मर्यादा नितांत जाती रही थी, जो उच्छृङ्खलता का अंधकारयुग था, उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, संयम और महान् नैतिक गुणों की स्थापना करने की चेष्टा की। इसी कलिभृष्टयुग में तुलसी ने हिन्दू-मात्र को विजयरथ दिया। आत्मनिर्भरता और अपरिग्रह का संदेश तो इनमें से प्रत्येक कवि का जीवन ही देता है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम"। यह उस समय की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण

करते हुए भी मुग़ल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कार्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा?

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्णकाव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लाञ्छन देते हैं। परन्तु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठी-भर राजामहाराजाओं की भूमिका में रख कर देखते हैं और भूल करते हैं। वे जनसमाज को देखें। राधाकृष्णकाव्य ने क्या जनसमाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा राधा हैं, कृष्ण कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रसपरिष्कार का आनन्द लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्यरस की अनुभूति दी, शृंगार को संयमित किया उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएं दीं। पति-पत्नी के सामने राधाकृष्ण प्रेम का आदर्श रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हो या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रंगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति-पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्णराधा के चरित्र को लिया गया तो इतना। राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मन्दिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जनसमाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया।

२०. हिन्दी कविता में रहस्यवाद

(१) "रहस्यवाद" का इतिहास (२) हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद—सिद्धों का रहस्यवाद, सन्तों का रहस्यवाद, सूफ़ियों का रहस्यवाद (३) सगुणकाव्य में रहस्यवाद के अभाव के कारण (४) अर्वाचीन कविता में रहस्यवाद और प्राचीन कविता के रहस्यवाद से उसका भेद (५) आधुनिक आलोचना में रहस्यवाद की परिभाषा का विस्तार (६) आधुनिक रहस्यवाद के विषय और उसकी कल्पनाश्रियता।

भारतीय ईश्वरविषयक चिन्तन और तत्सम्बन्धी साधना की एक प्रमुख धारा "रहस्यवाद" रही है। हमारे प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में ईश्वर, जीव, प्रकृति एवं दृष्ट और अदृष्ट सत्ताओं के सम्बन्ध में अनेक रहस्यमूलक बातें कही गई हैं। ऋग्वेद के "नासिदेय सूत्र" और पुरुष-बलि की कथा में आदि रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। इनमें से अधिकांश अज्ञात चिद्शक्ति के रूप-गुण के सम्बन्ध में कही गई हैं।

> बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य रूप,
> सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति।
> दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
> पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
> (मुण्डकोपनिषद्)

यहाँ ईश्वर-जीव-सम्बन्धी रहस्यवादी चिन्तन हमारे रहस्यवादी साहित्य का प्रधान अंग है। इस चिन्तन का एक स्वरूप वह है जो हमें उपनिषदों में मिलता है, दूसरा वह जो भागवत आदि रूपक-प्रधान धर्मग्रन्थों में। एक में ज्ञान का आश्रय लिया गया है, दूसरे में ज्ञान को पीछे छोड़ कर प्रेम को ग्रहण किया गया है। हमारे हिन्दी साहित्य में दोनों प्रकार के रहस्यवादी उद्गार मिलेंगे।

हिन्दी के रहस्यवादी साहित्य को हम अर्वाचीन और प्राचीन दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन उपयुक्त भी है क्योंकि प्राचीनकाल का रहस्यवाद आधुनिककाल के रहस्यवाद से अनेक बातों में भिन्न है।

प्राचीन काल में हमें उपनिषदों के रहस्यवाद की धारा हिन्दी के सिद्ध साहित्य में पहली बार मिलती है और फिर नाथसाहित्य में होकर निर्गुण और निरंजन सम्प्रदाय में प्रवाहित होती है। इस साहित्य के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि कबीर और दादू हैं। इसका बीज सिद्धान्त अद्वैतवाद है। रहस्यवादी सांत और अनन्त के अद्भुत सम्बन्ध पर चकित हैं। वह दोनों के आकर्षण का अनुभव करता है। जीव और ईश्वर वास्तव में अभिन्न हैं। माया के कारण भेद जान पड़ता है। इस भेद की बात जान लेने पर यह भेद स्वतः मिट जाता है। ईश्वर जीव हो जाता है, जीव ईश्वर। कबीर कहते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गियानी॥

(कबीर)

इसे रहस्यवादी यों भी कहते हैं—नदी समुद्र में जा मिली अथवा समुद्र नदी में आ मिला। सन्तों ने दूसरी बात को उलटबासियों में प्रकाशित किया है।

सूफियों का रहस्यवाद सन्तों के रहस्यवाद से कुछ भिन्न है। वह भागवत के प्रेममूलक रहस्यवाद जैसा है। उसका आरंभ वहाँ होता है जहाँ जीव और ईश्वरविषयक गवेषणा का अन्त हो जाता है और वह सम्बन्ध मस्तिष्क से नीचे उतर कर हृदय की वस्तु हो जाता है। उस समय जीव-ईश्वर के सम्बन्ध में एक मधुर भावना की सृष्टि होती है। इस भावना में परस्पर का आकर्षण और तीव्र मिलनाकांक्षा है। इस आकर्षण को स्त्री-पुरुष

के पारस्परिक आकर्षण के रूपक द्वारा उपस्थित किया गया है। सन्तों के रहस्यवाद में भी इस रूपक को स्थान मिला है। कबीर अपने को राम की बहुरिया कहते हैं—

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटुक लहुरिया॥

अथवा

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है मिलिवौ अंग लगाइ॥

भागवत में इसीको असंख्य गोपियों के रूपक-द्वारा वेद व्यास ने प्रकाशित किया है। सूफ़ियों का ढंग दूसरा है। बात वही है। हमारे यहाँ स्त्री पुरुष के प्राप्त करने को सचेष्ट है। हमारे साहित्य में स्त्री ही मुखर है। परन्तु सेमेटिक भाषाओं के साहित्य में प्रेम-निवेदन में और प्रेमपात्र की प्राप्ति की चेष्टा में पुरुष स्त्री से अधिक आकुल दिखलाई पड़ता है। इसी पद्धति पर सूफ़ी कवियों ने भारतीय लोक-कथाओं को लेकर रूपकमय कथानक (पद्मावती, इन्द्रावती आदि) खड़े किए हैं। सूफ़ी काव्य में रहस्योन्मुख सौन्दर्य और प्रेम को लेकर स्थान-स्थान बड़ी मार्मिक व्यंजना उपस्थित की गई हैं। "पद्मावती" के सौन्दर्य को जायसी इस रूप में देखता है—

नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसन जो देखा हंस भा दसनजोति नगहीर॥

उसे सारा संसार ही किसी अज्ञात प्रेमपात्र के विरह में व्याकुल जान पड़ता है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने।
वै सब बान ओहि के पने॥

प्रेमात्मक रहस्यवाद-काव्य में सूफ़ियों का साहित्य बेजोड़ है।

हिन्दी सगुण भक्तकाव्य में रहस्यवाद को स्थान नहीं मिला है यहाँ तक कि कृष्ण काव्य में उतनी रहस्यात्मकता भी नहीं जितनी भागवत में है। सूरदास के काव्य में कुछ स्थल (जैसे रास, राधा का कृष्ण के हृदय में अपनी छाया देख कर मान करना, कृष्ण का बहुनायकत्व आदि) ऐसे अवश्य हैं जहाँ प्रतीक के रूप में वही बात कही गई है जो रहस्यकाव्य का मूल है, परन्तु उसमें अनुभूति की वह गहराई नहीं है। सच तो यह है कि सगुणोपासक भक्तों को दृष्टसत्ता के सामने रहस्यसत्ता का भरोसा क्यों होता? परन्तु भक्तों के काव्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जो अपनी भावोच्चता और अनुभूति की सच्चाई के कारण रहस्य प्रधान हो गए हैं जैसे सूरदास की हंस-चकई वाली अन्योक्तियाँ—

चकई री चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन विछोह

तुलसी की चातक-प्रेम का अनुभूति रहस्यवादी कवियों की विरहानुभूति की तीव्रता तक पहुँच गई है।

सत्रहवीं शताब्दी में रहस्यवाद की धारा क्षीण हो गई। जिस धर्म प्राणता पर उसका आधार था वह लौकिकता की चोट से चूर-चूर हो रही थी। साहित्य की चिन्ता लोकोन्मुख हो गई। कवि नारी को केन्द्र बना कर दीपशलभ की भाँति उसके चारों ओर घूमने लगे। अठारहवीं शताब्दी का साहित्य पूर्ण रूप से लौकिक रहा। अध्यात्म के छींटें ही शेष रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में हमारा परिचय अंग्रेज़ी साहित्य से हुआ परन्तु उसका प्रभाव श्रीधर पाठक के काव्य को छोड़ कर और अधिक नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के पहले दशाब्द के बाद अंग्रेज़ी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य के अनुकरण होने लगे। उस काव्य के रहस्यवाद की ओर भी कवियों का

ध्यान गया। परन्तु वह उस प्रकार की कविता लिखने का प्रयास नहीं करते थे। इसी समय कवीन्द्र रवीन्द्र की "गीतांजलि" प्रकाशित हुई थी। इस पर कबीर, वैष्णव भक्ति, पश्चिमी साहित्य और उपनिषदों का प्रभाव था। यह रचना पूर्व और पश्चिम में सम्मानित हुई। हिन्दी के कवियों ने भी रवीन्द्र की शैली को कपड़ा और इस प्रकार अर्वाचीन काल में रहस्यवादी कविता का सूत्रपात हुआ।

प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य में महान् अन्तर है। प्राचीन काव्य के मूल में धार्मिक अनुभूति और साधना थी। स्वयम् कवि के लिये उस काव्य का मूल्य इतना ही था कि वह उसके द्वारा कम अधिक अपनी रहस्यानुभूति को प्रकाश में लाता था। उसके अपने प्रतीक थे। इनमें बहुत से किसी-न-किसी भाँति जनसमाज से परिचय प्राप्त थे। फलतः यह रहस्यवाद अत्यन्त ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर उठा हुआ होता भी साधारण पाठक के लिए अगम्य नहीं था। अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य का आधार अधिकतः कल्पना है। उसके पीछे धार्मिक अनुभूति तो है ही नहीं, जहाँ है वहाँ अधिक गहरी नहीं है। वह साधना का न फल है, न उसका विषय ही है। उसे हम काव्य शैली मात्र भी कह सकते हैं। उसके प्रतीक भी नए हैं और भारतीय रहस्यवाद की परंपरा से मेल नहीं खाते। इसी कारण आधुनिक रहस्यवाद काव्य को पाठक नहीं मिल सके। जहाँ भाषा की अप्रौढ़ता और छन्दों की नवीनता भी इसके साथ सम्मिलित हो गई, वहाँ वह एक काव्य होकर रह गया। इस प्रकार के कूटों को "छायावाद" नाम दे दिया गया है।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य के साथ "रहस्यवाद" शब्द की परिभाषा भी विस्तार पाती है। उसमें प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम (विरह और मिलन) को भी रहस्यानुभूत माना गया, केवल

इन्द्रियानुभूत नहीं। वास्तव में धार्मिक रहस्यवाद इस धर्महीन युग की विशेषता नहीं हो सकता था। भिन्न-भिन्न रहस्यवादी कवियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के कारण भी रहस्यवाद काव्य में शैली के अन्तर हो गए, परन्तु ये अधिक नहीं हैं। हमें यह भी न समझना चाहिये कि हिन्दी रहस्यवादी काव्य किसी भी काल में बाहरी प्रभावों से अछूता रहा है। वास्तव में वह कई स्थलों पर अन्य प्रवृत्तियों से इतना मिला चलता है कि उसे उनसे अलग कर स्वतन्त्र रूप देना असम्भव है। भारतीय चिन्तन-धाराएँ सब कुछ समेट कर चलती हैं। रहस्यवाद भी धर्म को समेट कर चला। आधुनिक रहस्यवाद भी वैष्णव भक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ है यद्यपि उस पर अंग्रेजी की रोमांटिक काव्यधारा का प्रभाव ही प्रधानतय: लक्षित है। रोमांस काव्य की मूल विशेषता है करुणा। आधुनिक रहस्यवाद को करुणा से भी प्रेरणा मिली है। आधुनिक रहस्यवाद के विषय हैं—मिलनानंद, प्रतीक्षा, वियोग, विराट और सूक्ष्म (अनन्त और सांत) का सम्बन्ध, प्रकृति में विराट अज्ञात शक्ति की कल्पना, अज्ञात शक्ति में नारी (प्रेयसी) की कल्पना, करुणा के प्रति मोहमय आकर्षण, वेदना की व्यापक-रहस्यमय अनुभूति। जैसा हमने देखा है आज का रहस्यवाद कल्पना प्रधान है, अनुभूति प्रधान नहीं। कवि ने उसे अपनी गहनतम सहानुभूति नहीं दी है। उसका कवि के जीवन से अन्यतम सम्बन्ध नहीं।

२१. प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण

(१) वाल्मीकि, कालिदास, माघ और भवभूति के काव्यों में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण (२) हिन्दी प्रकृति में परम्परा और स्वतंत्र चेतना, (३) सिद्धों और सन्तों की कविता में प्रकृति (४) भक्तसाहित्य में प्रकृति (५) रीतिकाव्य में प्रकृति (६) हिन्दी कविता में प्रकृति

चित्रण का विश्लेषण (७) प्रकृति से लिए हुए उपमानों का परम्परागत प्रयोग और उसका हमारे प्रकृति सम्बन्धी काव्य पर प्रभाव।

हिंन्दी प्रदेश सदैव से सुन्दर-सुन्दर प्रकृतिखण्डों से भरा-पुरा रहा है। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और मध्य के विस्तृत रम्य प्रदेश, दक्षिणपूर्व का बन्यखंड, दक्षिण-पश्चिम का झाड़खंड और मरुस्थली। सब ओर छोटी-बड़ी नदियाँ, निर्झर, जलस्रोत। यही प्रदेश आर्यभूमि का हृदय है। आदि कवि बाल्मीकि और महाकवि कालिदास का काव्य इसी प्रदेश की प्रकृति से रमणीय बना है। आदि-कवि पंचवटी का वर्णन करते हैं—

अवश्यामनिप्रातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ताइव लक्ष्यंते विपुष्प वनराजयः॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेय सारसाः।
हिमार्द्रवालुकैः स्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाँति कमलाकराः॥

[बन की भूमि। जिसकी हरी-हरी घास पाला गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड सकोड़ता है। बिना फूल के बनसमूह कुहरे के अंधकार में सोये-से जान पड़ते हैं। नदियाँ जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल जिनके पत्ते

जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूट-फूट कर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर नीलमात्र खड़े हैं।]

तो कालिदास हिमालय के चिरअभिनव सौन्दर्य को अपरता देते हैं—

आमेखलं संचरता घानानां।
छायामधः सानुगतां निषेव्य॥
उद्वेजिता वृष्टि भिराश्रयंते।
शृंगाणि यस्यातपवंति सिद्धाः॥
कपोलकंडूः करिभिर्विनेतुं।
विघट्टितानां सरलद्रु माणाम्॥
यत्र स्नुतक्षीरतमा प्रसूतः।
सान्दूनि गंधः सुरभी करोति॥
भागीरथी निर्झरसीकराणां।
वोढ़ा मुहुः कंपित देवदारुः॥
यद्वायुरन्विष्ट मृगैः किरातै।
रासेव्यते भिन्नशिखंडिबर्हः॥

[मेखला तक घूमने वाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े हुए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गङ्गा के झरने के कणों को ले जाने वाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।]

इन कवियों में पग-पग पर हमें प्रकृति के सुन्दर संश्लिष्ट चित्र मिलेंगे जिनमें हमें भारतवर्ष की प्रकृतस्थली के प्रति गूढ़

अनुराग के दर्शन होंगे। भवभूति के नाटकों में वन्य दृश्यों के सुन्दरतम चित्र इंगित हैं।

आगे चल कर संस्कृत काव्य में ही प्रकृति के साथ अन्याय होने लगा। कवियों ने संश्लिष्ट दृश्यखंड उपस्थित करना छोड़ दिया, उसका प्रयोग केवल उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि की उद्भावना के लिए ही किया गया। जहाँ प्रकृति के वस्तुचित्र भी उपस्थित किए वहाँ कवि की दृष्टि अलंकार-योजना एवं चमत्कार-प्रदर्शन के लिए ही अधिक मुड़ी। माघ के इस चित्र से कौन सूर्योदय का आनन्द ले सकेगा—

> अरुण जलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा
> बहुलमधुपमाला कज्जलेंदीवराक्षी।
> अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरंती
> रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्या सुतेव॥
> वितत पृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
> कलशइव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
> कृतचपल विहंगालापकोलाहलाभि—
> र्जलनिधि जलमध्यादेस उत्तार्यतेऽर्कः॥

[अरुण कमल रूपी कोमल हाथ-पैरवाली, मधुपमाला-रूपी कज्जलयुक्त कमल नेत्रवाली, पक्षियों के कलरव-रूपी रोदनवाली यह प्रभातबेला सद्योजात बालिका के समान रात्रिरूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते हुए स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं, उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियाँ दूर तक फैली हुई किरण-रूपी रस्सियों से सूर्यरूपी घड़े को बाँध कर, बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींच कर ऊपर निकाल रही हैं।]

ऋतु-वर्णन के लिए तो यही काफ़ी समझा जाने लगा कि उद्दीपन के रूप में उसका वर्णन किया जाय और कुछ इनी-गिनी

निश्चित वस्तुओं का कथनमात्र कर दिया जाय। छःहों ऋतुओं को एक साथ, क्रमानुगत, वर्णन करने की प्रथा कालिदास के समय में ही चल पड़ी होगी, उनके ऋतुसंहार से ऐसा ही सूचित होता है। यहीं से "षटऋतुवर्णन" काव्य का आरंभ होता है। प्रकृति के संबन्ध में कविप्रसिद्धियाँ और कविपरंपरा का पालन ही सब कुछ हो गया, प्रकृति पर्यवेषण बन्द हो गया। सैकड़ों ऊहापोही चमत्कारी उक्तियाँ कही जाने लगीं जो प्रकृति-काव्य न होकर काव्य की विडंबनामात्र थीं। कवियों ने प्रकृति को काव्यशास्त्र और काव्यग्रन्थों के भीतर से देखा, बाहर के प्राकृतिक ऐश्वर्य की ओर आँखें बन्द रखी। कालांतर में हिन्दी कविता का जन्म हुआ और वह प्रकृतिसम्बन्धी संस्कृत काव्य के इस दाय की स्वामिनी हुई।

अन्य परिस्थितियों ने भी हिन्दी कविता को प्रभावित किया। उसका जन्म ऐसे समय में हुआ जब हिन्दू संस्कृति और हिन्दी साहित्य अवनति की ओर उन्मुख हो रहे थे। आदि युग के कवियों का ध्यान स्त्री-पुरुष-विषयक रति और आध्यात्मिक साधना के विकृत रूपों की ओर रहा। उनकी दृष्टि मनुष्य के लौकिक जीवन और उसके आध्यात्म जगत तक ही सीमित रही। वह प्रकृति की ओर नहीं उठी। सिद्धों की कविता में हम प्रकृति का केवल एक ही प्रयोग पाते हैं—उन्होंने अपनी अन्तर साधना को प्रकृति की परिभाषा में प्रगट किया है। उन्होंने साधन के भीतर बाह्य जगत की सारी प्राकृतिक वस्तुओं और सारे प्राकृतिक दृश्यों को स्थापित किया है। साधक यह अनुभव करता है कि वह स्वयम् ब्रह्मांड है और उसके भीतर प्रकृति की नाना लीलाएँ चल रही हैं। प्रकृति के इस रूप के दर्शन हमें संतों के काव्य में और भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। कबीर और दादू के सारे साहित्य में आध्यात्मिक होली, चाचर, वर्षा, फाग, वसंत आदि प्राकृतिक दृश्यों और उत्सवों की प्रधानता है। मीरा के काव्य में भी

ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें प्रकृति का ऐसा प्रयोग किया गया है।

इसके बाद हम भक्त साहित्य की ओर आते हैं। भक्तों की कविता में भी प्रकृति का स्थान गौण है। उनके मुख्य विषय रामकृष्ण के चरित्रगान और प्रेम की मानवी भावनाएँ हैं। उन्होंने प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में बहुत कम किया है। भक्तकाव्य का अधिकांश प्रकृति-चित्रण भावों के उद्दीपन के लिए अथवा उपमान के रूप में हुआ है। भावों के उद्दीपन रूप में जो प्रकृति-चित्रण हुआ है उसे अधिकतः शृंगाररस के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया गया है। साथ ही, पौराणिक प्रकृति चित्रण का प्रभाव भी उस पर थोड़ा नहीं है। पुराणों में वर्षा-शरद-वर्णन की शैली बराबर विकसित होती चली आती है। तुलसी ने मानस में भागवत की इसी पौराणिक नैतिकता-प्रधान शैली को कुछ परिवर्तित रूप में हमारे सामने रखा है। रीति काव्य की कविता में भी कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर नहीं गई। कृष्णभक्ति साहित्य में शृंगाररस के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का जो चित्रण हुआ था उसे ही उन्होंने आगे बढ़ाया। उन्होंने नायिका के अभिसार को अग्रभूमि में रख कर प्रकृति को पीछे देखा। वियोगिनियों की ऋतुचर्या के लिए उन्होंने षटऋतुवर्णन को एक विशिष्ट रूप दिया। अब "षटऋतु वर्णन" सम्बन्धी एक बड़ा साहित्य ही रचा जाने लगा। "बारहमासे" लिखने की प्रथा कदाचित् लोकगीतों से प्रभावित होकर वीसलदेव रासो के समय से ही चल पड़ी थी। जायसी के पद्मावत में उसे स्थान मिला। मूलरूप से इसमें और षटऋतुवर्णन-शैली में कोई अन्तर न था। रीतिकाल में इस वर्णन शैली को भी प्रश्रय मिला। सारी प्रकृति को स्त्री के अंगों के उपमान के लिए खोज डाला गया। रीतिकाल के कवि के लिए प्रकृति का अस्तित्व वहीं तक था जहाँ तक वह उसे नायिका के सौन्दर्य के

लिए उपमान दे सकती थी या उसके विरह-रुदन और प्रतीक्षा को प्रभावशाली बना सकती थी। उनके लिए प्रकृति नारीमय थी। वह नायिकाओं के इंगित पर नाचने लगी—

नील पटतन पर घन से घुमाय राखौं
दन्तन की चमक छटा-सी विचरति हौं।
हीरन की किरनें लगाई राखौं जुगनूसी
कोकिल-पपीहा-पिक बानी सों भरति हौं॥
कींच असुवान के मचाय कवि देव कहै
बालम विदेस को पधारिवों हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साज वेसर कसत आजु
रहु रे बसन्तु, तोहिं पावस करति हौं
(देव)

शब्दानुप्रास का इतना प्राचुर्य हुआ कि प्रकृति का कोई भी रूप सामने नहीं आ पाता। पद्माकर के इस पद में प्रकृति ढूँढ़े नहीं मिलेगी—

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुञ्जन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है
कहै पद्माकर परागन में पानहू में
पानन में, पीक में, पलासन पगंत है
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देश देशन में,
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है
वीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरयो बसन्त है

महाकवि केशवदास ने तो श्लेष की स्थापना करके प्रकृति के प्रति अपनी संकीर्णता का परिचय ही दे डाला है—

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु॥

परम तपोमय मानि । दंड धारिणी जानि ॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै । अर्क समूह जहाँ जगमगै ॥
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ । अर्जुन भीम महामति देखौ ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी । सिन्दूर औ तिलकावलि रूरी ॥
राजति है यह ज्यों कुलधन्या । धाम विराजति है सँग धन्या ॥

जहाँ इस प्रकार का चमत्कार विधान है, वहाँ आलंबन की शुद्धता, सूक्ष्म दर्शन आदि के लिए स्थान कहाँ ! सारे रीति काव्य में हमें सेनापति और बिहारी ही ऐसे कवि मिलते हैं जिनके प्रकृति-वर्णन में थोड़ी मौलिकता देखी जा सकती है। उन्होंने नायिका के दृष्टिकोण से प्रकृति में ऊहापोह दृश्यों की कल्पना नहीं की है। स्वतन्त्रवर्णन इन्हीं दो कवियों में मिलेंगे—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
'सेनापति' को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं
उदित बिमल चन्द चांदनी छिटकि रही
राम कैसो जस अधऊरध गगन हैं
तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहुँ जगत छीरसागर मगन हैं
(सेनापति)

रुनित भृंग घंटावली झरत दानु मधुनीर ।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुंजर कुञ्ज समीर ॥
चुवत स्वेद मकरंद कन तरु तरुतर बिरमाय ।
आवत दच्छिण देस ते थक्यो बटोही बाय ॥
लपटीं पहुप-पराग पट सनी सेद मकरद ।
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद बाय गति मन्द ॥

रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झांझ झुकरात।
मन्द मन्द मारुत तुरँग खूँदित आवत जात ॥
(बिहारी)

संक्षेप में प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति का चित्रण प्रायः कुछ बँधे ढंग पर हुआ है :

१. उपमान के रूप में

२. भावों के उद्दीपन स्वरूप, विशेषतः रतिभाव के।

३ साधारण स्वतन्त्र वर्णन जिसमें वस्तु-नामावली ही की प्रधानता है। संश्लिष्ट योजनावाले चित्र गोस्वामी तुलसीदास के एकाध पद को छोड़ कर बहुत कम हैं। मानव-हृदय के अनेक भावों के साथ प्रकृति को मिला कर नहीं देखा गया। स्वतन्त्र चित्रण वीरकाव्य को छोड़ कर अन्य स्थान पर बहुत थोड़ा मिलता है, यहाँ भी प्रकृति निरीक्षण का लगभग अभाव है। जायसी के काव्य में प्रकृति के रोमांटिक चित्र मिलते हैं और प्रकृति को आध्यात्म चिन्तत्त्व की प्राप्ति में तत्पर एवं साधक के लिए साधनारूप चित्रित किया गया है। इनके सिवा जो कुछ है वह अलंकार-प्रतिष्ठा और चमत्कार-विधान के लिए है जिसे हम किसी भी प्रकार महत्वपूर्ण नहीं कह सकते। वास्तव में, हिन्दी कविता का प्रारम्भ विदेशी संघर्ष की गोद में हुआ। उस समय कवियों को इतना समय ही नहीं था कि वे प्रकृति के सौन्दर्य की ओर मुड़ते। इसके बाद का जितना भी साहित्य है नैतिकता के रंग से रगा हुआ है। संत साहित्य प्रकृति की उपेक्षा करता है। वह आत्मा के द्वन्द्व और नैतिकता एवं नैतिक आदर्शों के आलोक में लौकिक व्यवहार के प्रश्न सामने रख कर चला है। उसका भौतिक सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण ही दूसरा है यह संसार जब माया है तो प्राकृतिक-सौन्दर्य भी छलावा है। इसमें भूल जाना आत्मा का नाश करना है। अलबत्ता, सूफ़ी कवियों का प्रकृति के

प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है और उसने उनके काव्य में एक महत्व-पूर्ण स्थान. पाया है। ये कवि रहस्यवादी थे। इनकी दृष्टि में प्रकृति परमात्म सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। वह दर्पण है जिसमें "पुरुष" का चित्र पड़ता है। इसीसे उन्होंने उसे चिदात्म की प्राप्ति का एक माध्यम माना है। उन्होंने प्रकृति का जो चित्र उपस्थित किया है, वह उनकी रहस्यानुभूति से रंगा होने के कारण अतिरंजित (Romantic) है। साथ ही, वह जीवित, स्पंदित और सहानुभूतिशील है। साधक के सुखदुख के साथ प्रकृति भी सुखदुख का अनुभव करती है। उसके उतने ही भाव हैं जितने मनुष्य के। सूफ़ियों ने विरह को प्रेम की चरम अभि-व्यक्ति माना है, इससे उनकी प्रकृति भी क्रन्दनशीला, पुरुष-परित्यक्ता, आजीवन विरहिणी है। भक्ति-काव्य की दृष्टि भी अपने आदर्शों के कारण संकीर्ण हो गई। हाँ, उसकी कृष्णशाखा ने अपने आराध्य के सौन्दर्य और प्रेम की अन्यतम विभूति मान कर उसकी उपासना की। स्वयम् कृष्ण-चरित्र का सम्बंध ब्रज से था, इसलिए लोकनायक के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में ब्रजभूमि की प्रकृति को दृश्यों के भी चित्रण हुए। ब्रजकाव्य की प्रकृति गोपियों के हृदय की परछाई है। उसके दर्पण में उनके हृदय के अनुभाव-विभाव प्रतिबिंबित होते हैं। उसमें प्रकृति और मनुष्य की अन्यतम भावनाओं का इतना एकात्म्य है कि हम चकित हो जाते हैं। रीतिकाल की तुलना अँग्रेज़ी के पोप और ड्राइडन के काल की कविता से की जा सकती है। उस समय को कविता हुई वह पूर्णतय: नागरिक थी। उसका विकास नगरों में हुआ। उसमें या तो प्रकृति को कोई स्थान ही नहीं मिला या उसका परम्परा से आया रूप, अनुभूति न होने पर भी, स्वीकार किया गया। वह भी शृंगार के भावों, अनुभावों और विभावों के उद्दीपन के लिए। रीतिकाल की प्रकृति स्वतन्त्र नहीं

है। उसकी बाढ़ रुकती गई है। वह कवि की दासी है और उसके बुलाने पर वैश्या की तरह अनैसर्गिक शृङ्गार करके उसके सामने आती है। गृहिणी जैसा सरल, निश्छल और पातिव्रत्यपूर्ण व्यवहार उसका नहीं है।

एक कठिनाई प्रकृति से लिए हुए उपमानों के सम्बन्ध में सदा से हमारे कवियों के आगे उपस्थित रही है। संस्कृत काव्य में जो उपमान प्रकृति से लिये गये थे, वे अब हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में नहीं आते, वे उस समय ग्रहण किए गए थे जब नागरिक जीवन प्रकृति से इतनी दूर नहीं चला गया था जितनी दूर वह आज है। इस कारण वे उपमान आज प्रभावहीन हैं। कमल, मृग, करि, खंजन, लता, ये आज कल्पना की वस्तुएँ हैं, परन्तु हमारा साहित्य युगों से इनमें सोचता रहा है। इसका फल यह हुआ कि हमारे सारे प्राचीनकाल में कवियों ने प्रकृति को पूर्ववर्ती साहित्य के भीतर से देखा, फिर चाहे वे सूरदास की तरह प्रकृति के बीच में ही घिरे क्यों न रहे हों।

२२. वर्त्तमान हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण

(१) भारतीय प्रकृति की कुछ विशेषताएँ और उनका प्रकृति-चित्रण पर प्रभाव (२) आधुनिक युग में प्रकृति का स्वतन्त्र स्थान (३) आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण का इतिहास (४) द्विवेदीयुग की कविता में प्रकृति (५) छायावादी काव्य में प्रकृति (६) प्रकृति का यथातथ्य चित्रण (७) आधुनिक काव्य के प्रकृति-चित्रण का विश्लेषण।

हमारी भारतीय प्रवृत्ति अमानवीय को मानवीय के और चेतन को जड़ के ऊपर स्थान देती है। यही कारण है, कि हमारे कवियों ने प्रकृति को पश्चिम के कवियों की भाँति आगे की

पटभूमि में नहीं रखा। प्रकृति उन्हें परमात्मा की श्रेष्ठतम सृष्टि मनुष्य के समझने में सहायता देती है या परब्रह्म-प्राप्ति अथवा एक महान् सत्ता के अनुभव का उपादान बन सकती है। इनसे अलग प्रकृति जो है, माया है, भ्रम है। हमारे कलाकारों ने मनुष्य और उसके भावों को सामने रख कर उसके चित्रण को उत्तेजना और स्पष्टता देने के लिए ही प्रकृति का आह्वान किया है। महाकवि तुलसीदास प्रकृति के परिवर्तन-पर्यावर्तन की उपमाएँ देने के लिये मनुष्य के अन्तर और उसके मनोभावों तक जाते हैं।

परन्तु आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य में स्वतन्त्र रूप से स्थान मिला। उसकी एक अपनी अलग सत्ता प्रतिष्ठित हुई। आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य परिपाटी से उन्मुक्त करनेवाले पहले कवि पं० श्रीधर पाठक हैं जिन्होंने गोल्डस्मिथ की पुस्तकों से प्रेरणा प्राप्त की। उनकी काश्मीर-सुषमा आदि कविताओं ने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दिखाई—

चहुँ दिसि हिमगिरि सिखा हरि मनि मौलि अवलि मनु,
स्रवत सरित सितधार प्रवत सोई चन्द्रहार जनु।
फल फूलनि छवि छटा छुई जो बन उपवन की,
उदित भई मनु अवनिउदर सों निधि रतनन की॥

हिन्दी कविता के द्विवेदी युग के कवि पाठक जी की रचनाओं से प्रभावित रहे परन्तु उनमें से अधिकांश प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणनि से आगे नहीं बढ़ पाये। इन कवियों में पं० लोचन प्रसाद पांडेय और पंडित रूपनारायण पांडेय प्रभृति हैं। परन्तु इस समय भी कवियों का अधिकांश वर्ग काव्य-परिपाटियों के भीतर से देख रहा था एवं संयोग और विप्रलंभ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही उसका वर्णन कर रहा था। इसी समय कुछ कवियों ने प्रकृति का अच्छा अध्ययन किया और अपने

निरीक्षण के आधार पर उसका रूप स्थिर किया। ये कवि हैं—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध), पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री मैथिली शरण गुप्त। इन तीनों कवियों की रचनाओं में बड़ा अन्तर है। उपाध्याय जी प्राचीन परिपाटी के कुछ अधिक निकट हैं। वे प्रकृति के दृश्यों के संस्कृत एवं अलंकृत रूप को ही काव्य में स्थान देते है। संस्कृत शब्दों और वृत्तों का सहारा लेने से उनके प्रकृति-चित्रण में पौराणिकता एवं अलौकिकता आ जाती है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी में प्रकृति का विस्तृत, अलंकृत चित्रण पहले-पहल हरिऔध जी ने ही किया। उनका महाकाव्य प्रिय प्रवास प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है। उनके प्रकृति चित्रण की एक शैली है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखरों पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।

जिसका अन्यतम रूप यह हो गया है—

प्रफुल्लता कोमल पल्लवांविता,
मनोज्ञिता-मूर्ति नितांत रंजिता।
वनस्थली थी मकरंद मोदिता,
अकीलिता कोकिल काकिली नयी।

परन्तु उनके जिन चित्रों में भाषा संस्कृत गर्भित नहीं है वे इधर के कवियों के किन्हीं बड़े चित्रों से सफलतापूर्वक स्पर्द्धा कर सकते हैं—

तारे डूबे, तम टल गया, छा गई व्योमलाली,
पंछी बोले, तमचुर जागे, ज्योति फैली दिशा में।

शाखा डोली सकल तरु की, कंज फूले सरों में,
धीरे धीरे दिनकर कढ़े, तामसी रात बीती।
लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मन्द डोलीं,
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदनी-ओर छूटीं,
कूलों-कुंजों, कुसुमित वनों-क्योरियों ज्योति फूटी।

नवें सर्ग में ऐसे कितने ही चित्रण हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल को प्रकृति के प्रति तन्मयतापूर्ण अनुराग है। उन्हें गुलाब भी प्रिय है, कटीली झाड़ियाँ भी। प्रकृति के सामान्य रूपों को चित्रित करने में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्होंने ही पहली बार प्रकृति के अंतर्तम सौंदर्य का उद्घाटन किया और प्रकृति के रसबोध का शास्त्रीय विश्लेषण भी किया। उनकी निरीक्षण शक्ति इतनी तीव्र है कि प्रकृति के प्रसंगों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात उनसे छूट नहीं पाती। उनके "बुद्धचरित" काव्य से कितने ही उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी आदि पुस्तकों में प्रकृति के सुन्दर चित्र मिलेंगे। उनके महाकाव्य "साकेत" में उनकी प्रकृति-चित्रण-कला स्पष्ट होकर पूर्ण उतरती है। साकेतपुरी के प्रभात का चित्रण है—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

× × ×

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो लोचन कुमुद मुँदने लगे।

वेष भूषा साज ऊषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्कुराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी।
स्वप्न के जो रङ्ग थे वे घुल गए,
प्राणियों के नैन कुछ कुछ खुल गए।
दीपकुल की ज्योति निष्प्रभ हो गिरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी।

प्रकृति और मनुष्य के समय-समय के भावों का जो अस्पष्ट, किंतु गहन, संबंध है, उस पर भी उनकी क़लम खूब चली है। उर्मिला के प्राण श्री रामचन्द्र जी के साथ बनवास को चले गए। सूने प्रासाद-कोष्ठ में वह विरहिणी बाला आकाश की ओर ताकती है—

नभ ओर उर्मिला ने देखा, थी ईर्ष्या भरी दृष्टि रेखा
तब नभ भी मानों धधक उठा, सन्ध्यारुणिमा मिल भभक उठा
रीता दिन बीता रात हुई, ज्यों-त्यों वह रात प्रभात हुई
फिर सूनी संध्या बाँझ हुई, मानो सब बेला साँझ हुई

उर्मिला कभी तो रोती थी, फिर कभी शांत-सी होती थी। कहीं-कहीं उनके चित्रण विशाल भी बन पड़े हैं। साकेत के अंतिम छंद में प्रकृति का सुन्दर परिपूर्ण चित्र देखते ही बन पड़ेगा—

स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था
स्वादु मधुगंध से सुबासित समीर सोम।
समुदित चन्द्र किरणों का चौर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को देखने का दृष्टिकोण ही

बदल दिया। रङ्गों में, तूलिका में, अन्य उपादानों में बाहुल्य और बहुमूल्यता का समावेश हुआ। अंग्रेजी कविता के रोमांटिक कवियों (वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स) की भाँति उनकी पुकार थी—"प्रकृति की ओर लौटो।" अंग्रेजी रोमांटिक काव्य-धारा की एक विशेषता आश्चर्य-भावना है। इसने हमारे कवियों को प्रकृति की ओर विशेषरूप से खींचा। प्रकृति को उनकी कविताओं में कितना महत्व मिला है, यह इसीसे प्रगट होता है कि उनके तीन प्रमुख संग्रहों के नाम "लहर", "पल्लव" और "परिमल" हैं। प्रकृति और उसके कार्य-व्यापारों के प्रति आश्चर्य (पन्त), प्रकृति को विशद वृहद चित्रपट अंकित करने का प्रयास (निराला), मीनाकारी के सुन्दर सफल चित्र (प्रसाद, पन्त), प्रकृति में रहस्यमय शक्ति का अनुसंधान एवं आरोप (रामकुमार वर्मा, महादेवी) सहज सरल परिचित नागरिक एवं ग्रामीण चित्रण (भक्त, नैपाली)—ये उनके केवल कुछ प्रयोग हैं। सारे छायावाद काव्य में प्रकृति को मनुष्य की वीथिका में रखा गया है, उस पर मानवीय व्यवहारों का आरोपण किया गया है, उसका नारी रूप में चित्रण किया गया है और उसको मनुष्य के प्रति कभी सहानुभूतिपूर्ण दिखाया गया है, कभी उपेक्षापूर्ण। वास्तव में आधुनिक काव्य में प्रकृति को जो स्थान मिला है वह पहले नहीं मिला था। इसका कारण यह नहीं है कि कवि प्रकृति को अत्यन्त निकट से देखने लगा है। कारण बहुत कुछ—कम से कम जहाँ तक अधिकांश कवियों की बात है—इसके ठीक विपरीत है। हमारे अधिकांश कवि नागरिक हैं। उनका जीवन प्रकृति से दूर है। प्रतिक्रिया स्वरूप वे प्रकृति की ओर खिंचते हैं। उनका दृष्टिकोण रोमांटिक है। वे प्रतिदिन के कार्य-व्यवहारों से हट कर नवीन सृष्टि करना चाहते हैं। इसीलिए हमारे युग में प्रकृति-संबंधी अनेक "वाद" उठ खड़े

हुए हैं। जो हो, हमने आज मनुष्य के साथ प्रकृति को देखना आरम्भ किया है।

आधुनिक काव्य के अधिक प्रकृतिचित्र मनुष्य-सापेक्ष चित्र हैं, जैसे 'प्रसाद' का यह प्रभात चित्र—

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट पर डुबा रही ताराघट ऊषा नागरी
खग कुल कुल कलकल बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, वह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल नवल रस गागरी

अथवा 'निराला' का संध्या-चित्र।

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु ज़रा गम्भीर, नहीं है उनमें हास विलास,
हँसता है तो तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों में

परन्तु वस्तु-चित्रण भी कम नहीं हुआ है। पंत का पर्वत की क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति का चित्र—

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पला ताल

दर्पण-सा फैला है विशाल
मोती-सी लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर
गिरिवर के उर से उठउठ कर
तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
उड़ गया अचानक लो भूधर।

या 'निराला' का निशागम का यह चित्र।

एकटक चकोर कोर दर्शनप्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गंधा जगी
घेर रही चन्द्र को चाव से
शिशिर-भार व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए
आया कलियों में मधुर
मधु-उर यौवन-उभार

परन्तु वर्त्तमान कवियों में एक वर्ग ही ऐसा है जो प्रकृति का यथातथ्य चित्रण करता है। इस वर्ग के कवि प्रकृतिवादी कहे जा सकते हैं। श्री दिनकर, श्री गुरु भक्त सिंह भक्त और गोपाल सिंह नैपाली ऐसे कवि हैं। दिनकर की एक कविता में साँझ का वस्तु-चित्र है—

स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमंथन करतीं गायें आ रहीं रौंदती घास हरी

घर-घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते कँह अटके बनवारी

'भक्त' ने अपनी फुटकर कविताओं में और नूरजहाँ में प्रकृति का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। 'नैपाली' की नौकाविहार, धरहरा आदि कितनी ही प्रकृति-सम्बन्धी सुन्दर कविताएँ हिन्दी साहित्य की विशिष्ट रचनाएँ हैं।

द्विवेदी काल तक प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई थी। पश्चिमी सभ्यता के साथ नगरों का जीवन तेजी से बदल रहा था। प्रकृति के जो चिह्न विलासिता के पिछले युग में नगर में रह गये थे, वे भी नष्ट हो रहे थे। आर्थिक संघर्ष ने जीवन को और भी जटिल और नीरस बना दिया था। इससे कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर गई। वे नगर के रहनेवाले थे। उनकी भावुक सहानुभूति कभी काश्मीर की सुषमा पर जाती, कभी ग्राम्य जीवन की सरलता की ओर, कभी ग्राम प्रकृति की ओर। जो हो, उन्होंने प्रकृति की ओर देखा, चाहे उनका दृष्टिकोण उनके उस आदर्शभाव से प्रभावित होकर निरर्थक ही क्यों न हो गया है जिससे प्रेरित होकर बाद में प्रेमचन्द गाँवों पर मोहित हो गए थे। नवयुग के कवियों ने जीवन की इतिवृत्तात्मकता, यथातथ्यता और कटुता के प्रति भावुक विद्रोह किया और अपनी भावनाप्रिय प्रकृति के कारण उसकी उपेक्षा कर उन्होंने उसे आँख की ओट करना चाहा। उन्होंने Back to Nature की पुकार लगाई परन्तु वह "अति" की ओर झुक चुके थे, अतः उनके प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में एक आसक्तिपूर्ण भावुकता ने प्रवेश कर लिया। शीघ्र ही वे प्रकृति-रहस्यवादी हो गये। कितने ही कवियों के प्रकृतिचित्र उनके रहस्यवाद या उनकी रोमांटिक भावनाओं के कारण अतिरंजित हैं। उनमें न प्रकृति की स्वाभाविकता है, न उसकी विशदता। उनकी प्रकृति उनकी

कल्पना में रहती है, यद्यपि कहीं-कहीं वस्तुवर्णन भी बड़े सुन्दर मिलते हैं। नवीनतम कवियों ने प्रकृति के प्राकृतरूप की ओर दृष्टिपात किया है। वे प्रत्येक दिन के दृश्यों में सौन्दर्य भरने में सफल हुए हैं। उन्होंने उपेक्षित क्षेत्रों में प्रवेश किया है और उन्हें साहित्य-प्रेमियों के सामने रखा है यद्यपि उनका दृष्टिकोण आदर्शवाद से प्रभावित है। फिर भी वे प्रकृति के बहुत समीप हैं। महादेवी वर्मा के शब्दों में "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से विंब-प्रतिविंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।" कविता में यथार्थवाद की जो नई लहर आ रही है, उसने प्रकृति के अन्यतम प्रदेशों में प्रवेश किया है।

२३. संत काव्य

(१) संत काव्य की परम्परा (२) संत धारा की मूल भावनाएँ (३) संत काव्य केवल आध्यात्म का काव्य ही नहीं है, उसमें युग की साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा है (४) संतों निर्गुण में रूपगुण के अस्पष्ट आरोप का रहस्य (५) संतों का रहस्यवाद (६) संत और उनका समाज से आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक निरोध (७) संत का वातावरण (८) संतों के काव्य में आध्यात्म्वाद और लोकसंग्रह (९) संतकाव्य में सूफ़ी धारणाओं का प्रवेश (१०) संत काव्य का विश्लेषण।

निर्गुण भावना की एक परम्परा उपनिषदों के समय से चली आती है। उसमें रूपों के पीछे अव्यक्त सत्ता की स्थापना की गई है और अन्तस्साधना की उसकी प्राप्ति का साधन माना गया है। यह भावना ही बौद्ध साधकों (सिद्धों) और नाथपंथियों में होती हुई अधिक बलवती रूप में संतकाव्य में प्रकाशित हुई है।

अन्तस्साधना पर बल सन्तधारा की मूल भावना समझी जानी चाहिये। जिस युग में रामानन्द, कबीर आदि हुये उस युग में आचार्य और सवर्ण सन्त महात्मा वैष्णव पुनरुत्थान की ओर सचेष्ट थे। भागवत और रामायणों को लेकर राम और कृष्ण अवतारों की पूजा चली। देवी भागवत आदि के आधार पर आदि शक्ति के रूप चंडी आदि देवियों की कल्पना की गई। नीचे वर्गों के लोग सामाजिक दृष्टि से अस्पर्श्य थे, अतः सवर्णों के मन्दिरों और पूजा-स्थानों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। उनकी जागृति ने जातिपाति और छूआछूत द्वारा स्थापित वर्णभावना के विरोध का रूप धारण किया।

वास्तव में सन्तकाव्य के कई पक्ष हैं। उसमें सन्तों की साधना व्यक्त हुई है। अनेक स्थानों पर इसने अध्यात्मवाद या रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। साधना के आरम्भ में साधक की अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कुछ नैतिक गुणों का संग्रह आवश्यक बतलाया गया है। ये गुण हैं—अहिंसा, संतोष, दया, क्षमा, सार-संग्रह, सत्यभाषण, कामिनी-कंचन त्याग, सत्संग, विचारशुद्धि, जीवदया। सन्त साहित्य में इन सब के सम्बन्ध में सुन्दरतम विचार मिलेंगे। साधना के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उनसे युद्ध, और लौकिक पक्ष में मूर्तिपूजा; वर्णाश्रम संस्था, जाति विभेद, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, श्राद्ध, नमाज़ आदि वाह्याडंबर का विरोध—ये बातें साधक के लिए आवश्यक हैं। इनके साथ भक्ति का सम्मिश्रण है। सन्त निर्गुण के उपासक हैं परन्तु निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक् है। उन्होंने ज्ञान को भगवत्प्राप्ति का पहला चरण माना है। परन्तु ज्ञान से चरम शक्ति को जानने के बाद उसके पास तक पहुँचने के लिए भक्ति ही साधन है। यह भक्ति उतनी तन्मयता-प्रधान नहीं जितनी कथित भक्तों की भक्ति, परन्तु उसका रूप बहुत कुछ भिन्न भी नहीं है।

इसीके कारण संतों के निर्गुण में रूपगुण का अस्पष्ट आरोप हो जाता है।.

संतों के रहस्यवाद को समझने के लिए हमें पहले यह समझ लेना होगा कि उसकी रहस्यमयता के दो कारण हैं। एक, उनके आराध्य का निर्गुण होना; दूसरे, उनकी भक्तिभावना का अरूप के प्रति अर्पण होने के कारण अस्पष्ट ही रह जाना—विशेषत: जहाँ जीवात्मा-परमात्मा के मिलन अथवा मिलनानन्द का वर्णन है वहाँ संत भावों को केवल प्रतीकों में ही अभिव्यक्त कर सके हैं। इनका एक रूप उलटवाँसियाँ है, दूसरा रूप प्रकृति के व्यापार से लिए हुए प्रतीकों के प्रयोग का है।

संतों को अपने काव्य द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता हुई यह विचारणीय है। वे ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधनाओं का भली भाँति प्रकाशित कर सकी है। आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के संग्रह का आदेश किया है, वे प्रत्येक समाज के लिए प्रत्येक समय उपादेय हैं। उन्होंने साधना के वाह्य उपचारों की अवहेलना की। यह अधिकांश में उनकी सामाजिक स्थिति का फल था। उन्होंने समझ लिया था कि इन वाह्योपचारों ने आडम्बरों का रूप ग्रहण कर लिया है और ये जनता की जीवनशक्ति का शोषण कर रहे हैं। धर्म के नाते वर्ग बने जा रहे हैं। अत: उन्होंने वाह्योपचारों का विरोध कर उन मूल नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर संकेत किया जो सब धर्मों में समान रूप से प्रशंसित थे। वह युग धार्मिक संघर्षों का युग था। दो धर्म-प्रधान संस्कृतियाँ टक्कर ले रही थीं। अत: दोनों जातियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह

आवश्यक था कि उन्हें समान धरातल पर लाया जाय। संतों ने यह बात चार प्रकार से की। उन्होंने पूजाराधना के बाह्योपचारों और विधिविधानों का निषेध एवं खंडन किया, समान रूप से आदर पाये हुए नैतिक तत्त्वों पर बल दिया, पारिभाषिक शब्दों की एकता की घोषणा की और अन्ततः एक सामान्य भक्तिपथ का निरूपण किया। इस सामान्य भक्तिपथ को हम निर्गुण भक्ति का नाम दे सकते हैं जिसमें एक ओर सूफ़ियों के सिद्धान्तों का स्थान मिला है और दूसरी ओर अद्वैत के आधार पर प्रचलित हिन्दू भक्तिवाद (वेदान्त भक्ति) को। वास्तव में इन दोनों में कोई भेद भी नहीं था। धार्मिक एकता के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों में एकता उत्पन्न करने का ध्येय सफल नहीं हुआ। कारण था कि हिन्दू विजित थे, मुसलमान विजेता; मूल में राजनैतिक विरोध भी काम कर रहा था। शताब्दियों की संकीर्णता के कारण हिन्दुओं ने आगे बढ़ना छोड़ दिया था। एक प्रकार से वे नवागुन्तुकों का सामाजिक बहिष्कार किये हुए थे। सच तो यह है कि परिस्थिति इतनी सरल नहीं थी जितनी संतों ने समझी थी परन्तु इस असफलता के कारण उनके प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। इसी प्रकार अवर्ण-सवर्ण समस्या भी हल नहीं हुई। शक्ति सवर्णों के हाथ में थी। अधिकांश संत अवर्णों में हुए। सवर्णों ने उनके संदेशों को संदेह की दृष्टि से देखा और वर्णभेद मिटाने की उनकी चेष्टा का विरोध किया। वस्तुतः रामानन्द के बाद यह विरोध अत्यन्त तीव्र हो गया। उच्च वर्णों ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। "हरि को भजै सो हरि का होई"—इस सिद्धान्त के अनुसार अछूत संत भी उनमें सामान्य रहे परन्तु इस भावना को अधिक विस्तार नहीं मिल सका। प्रयत्न केवल नीचे से ऊपर की ओर हुआ। संतों के मांस-मदिरा-निषेध जैसे संदेशों ने नीची जातियों को ऊपर अवश्य उठाया परन्तु ऊँची जातियाँ

संकीर्णता को छोड़ कर और नीचे झुक कर उनको हृदय से लगाने के लिए तैयार नहीं थीं।

जो हो, संतों का दृष्टिकोण अत्यन्त यथार्थवादी था। वे परमार्थ तत्त्व के जिज्ञासु थे। भक्त थे। वैष्णव थे। वैष्णव सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने नीची जातियों के संस्कारों को ऊपर उठाया। हिन्दू-मुसलमानों को पास लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जीवन के सामान्य सिद्धान्तों एवं नैतिक गुणों की ओर संकेत किया। स्वयम आध्यात्मतत्त्व को लोकतत्त्व से बड़ा मानते हुए भी उन्होंने लोकसंग्रह की भावना अपने सामने रखी। उनकी तपस्या और साधना का रूप केवल वैयक्तिक ही नहीं था। वह लोकपक्ष को लेकर चलता था। शंकराचार्य के बाद जिस विरक्ति वैराग्य ने समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न कर दी थी, उसके विरुद्ध इन सन्तों ने कहा—"गृहस्थी के कर्मों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं, मन को स्वच्छ करो। वासना से लड़ कर विजय प्राप्त करो। संघर्षों से भागो नहीं। यही सहज मार्ग है। संसार से भाग जाना कायरता है।" इस प्रकार उन्होंने समाज की स्थिति को स्वीकार किया यद्यपि अपने समय के समाज के वर्ण व्यवस्था पर आश्रित रूप का उन्होंने विरोध भी किया। इस प्रकार हम देखते है कि संतकाव्य के अनेक उज्ज्वल पक्ष हैं, वह केवल अध्यात्म या काव्य ही नहीं है, उसमें युग की साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा भी है।

१२वीं, १३वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति का रूप बहुत कुछ निश्चित हो चला था। इस भक्ति के अनेक आराध्यदेव थे। बंगाल में राधाकृष्ण और देवी की उपासना प्रचलित हो रही थी। दक्षिण में शिवभक्ति की धारा प्रचंड बल से बह रही थी। गुजरात में कृष्ण और विठोवा की भक्ति पर बल दिया जाता था।

सारे उत्तर भारत में राम, कृष्ण, नारायण और शिव के भक्त अपने-अपने मतों के प्रचार में लगे थे। कबीर के समय तक आते-आते वैष्णव मतवाद की भक्ति का अंग इतना विकसित हो चुका था कि उसकी उपेक्षा असम्भव थी। संतों ने अवतारवाद को ग्रहण नहीं किया। यह अवतारवाद ही वैष्णव भक्ति का मूल था। परन्तु वे वैष्णवों की भक्ति भावना से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सके। उन्होंने वैष्णवों के रामकृष्ण को निर्गुण अर्थों में प्रयुक्त किया और उनकी भक्ति को नया रूप दिया। कबीर दाशरथि राम में ब्रह्म या विष्णु की सत्ता स्वीकार नहीं करते परन्तु अपने को निर्गुण राम की बहुरिया मान कर उनके प्रति उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं—

१—निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥ टेक॥

चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरना मरम न जाना॥
सेसनाग जाकै गरुण समाना। चरन कवल कवल नहिं जाना॥
कहै कबीर जाके भेवै नाहीं। निज जन बैठे हरि की छाँही॥

२—प्यारे राम मन ही मना।
कासूँ कहूँ करुन कौं नाही, दूसर और जना॥ टेक॥

इस प्रकार संतों की निर्गुण भावना सगुण भक्तिधारा के प्रभाव के कारण पूर्णतः शुद्ध नहीं रह सकी। यही विरोधी भवनाएँ—एक ओर निर्गुण, दूसरी ओर भक्ति—आलोचकों को भ्रम में डाल देती हैं। वस्तुतः मध्ययुग की निर्गुण भावना को औपनैषदिक निर्गुण भावना की परिभाषा से ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। वह निर्गुण इसी हद तक है कि उसमें अवतार-वाद की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, परन्तु संतों का निर्गुण ब्रह्म स्वरूप अव्यक्त होते हुए भी प्रेममय, भक्तवत्सल और करुणार्द्र है। उसे परिभाषित विशेषण से नहीं जाना जा सकता।

संतों की इस निर्गुण भक्ति भावना में और सूफ़ियों के इश्क में इतना अधिक साम्य था कि दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए। संतों ने अपनी साधना में सूफ़ियों की बहुत-सी बातें अपना लीं। उनके काव्य में, विशेषकर परवर्ती संतों के काव्य में, सूफ़ी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतंत्रता से प्रयोग में आते हैं। इससे एक तत्कालिक लाभ तो यह है कि संतों का संदेश उस जनता में भी बड़ी शीघ्रता से पहुँच जाता था जो सूफ़ियों को मानती थी। सच तो यह है कि संतों ने सूफ़ियों के सिद्धान्तों को स्वीकार कर और उन्हीं की तरह प्रेम-विरह-प्रधान भक्ति का प्रचार कर सूफ़ियों का कार्यक्षेत्र छीन लिया।

इस प्रकार हम संतकाव्य के सम्बन्ध में विचित्र परिस्थिति पाते हैं। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त मिलेंगे, वैष्णव भक्ति भावना मिलेगी, औपनैषदिक निर्गुणवाद मिलेगा, बौद्ध साधकों और नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे और सूफ़ी साधकों की साधना भी दिखलाई देगी। साथ ही संतों का आत्मानुभव रहस्यवादी उक्तियों के रूप में मिलेगा। इनके अतिरिक्त मुसलमान ऐकेश्वरवादी पैग़म्बर-धर्म का मूर्ति खंडन और ऐकेश्वरवाद और हिन्दू-मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थी, उनका प्रभाव सच तो यह है कि संतकाव्य अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें बहुत कुछ पुराना है परन्तु उस पुराने को नये रूप में उपस्थित किया गया है। निःसंदेह नया भी कम नहीं है।

२४. रामभक्ति काव्य और तुलसीदास

(१) रामभक्तिकाव्य में नैतिकता की परम्परा और हिन्दू गृहस्थ जीवन (२) उसकी पौराणिकता (३) रामभक्तिकाव्य में तुलसी के रामचरितमानस का स्थान (४) तुलसी के ग्रन्थ की विशेषता—

अनेक दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का समन्वय, भक्तिरस निरूपण, मर्यादा-भाव की वैयक्तिक और सामाजिक संस्थापना (५) तुलसी के मानस में रामभक्ति का रूप (६) उपसंहार।

रामभक्ति काव्य वैष्णव काव्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके प्रधान कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं।

रामभक्ति काव्य कई बातों में वैष्णवकाव्य की दूसरी प्रधान शाखा कृष्णकाव्य से भिन्न है। कृष्णकाव्य में राधाकृष्ण को लेकर ऐसे एकांतिक प्रेम का चित्रण किया गया है जो नैतिक आदर्शों एवं समाज और संयम की नितांत अवहेलना करता है। कृष्ण कविभक्त समाज को पीछे छोड़ कर भाव भूमि की ओर बढ़े हैं। रामभक्तिकाव्य में यह बात नहीं है। उसमें नैतिक आदर्शों को उच्चतम स्थान दिया गया है, समाज की कल्याण-भावना को कवि सदैव अपने सामने रखता है। उसमें मर्यादा भाव की प्रधानता है। एक प्रकार से उसकी दृष्टि हिन्दू संस्कृति के अभ्युत्थान की ओर है। यहाँ तक नहीं, कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ अतिनैतिक हो गया है जो आज के युग को अखर भी सकता है। परन्तु इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना ने रामकाव्य में हिन्दू गृहस्थ जीवन और दामपत्य प्रेम के अन्यतम चित्र उपस्थित किये हैं। सारे हिन्दी साहित्य में प्रेम का ऐसा सुन्दर संयमित और दामपत्यभावमूलक चित्रण और कहीं नहीं है जैसा तुलसी के रामचरितमानस में है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार इस युग का सारा काव्य पौराणिक कथाओं का आश्रय लेता है उसी प्रकार रामकाव्य भी। वह अत्यन्त बड़ी शृंखलाओं द्वारा संस्कृत महाकाव्यों और पुराणों से जुड़ा हुआ है। कृष्णकाव्य संस्कृत आधार पर इतना आश्रित नहीं है जितना रामकाव्य। तुलसी के काव्य को संस्कृत के अनेक रामकथा काव्यों ने पुष्ट किया है। उसमें पौराणिकता

का एक विशिष्ट अंग उपस्थित है। सूरदास के सूरसागर के पदों का संकलन भले ही श्रीमद्‌भागवत की कथा को सामने रख कर किया गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन पदों की रचना के पीछे श्री मद्‌भागवत की प्रेरणा ही भर है; न उसकी कथावस्तु से सहारा लिया गया है, न वह भागवत का अनुवाद ही है। यह सच है कि सम्पूर्ण भागवत अथवा उसके कुछ भागों के अनुवाद भी कृष्णकाव्य के अंग हैं परन्तु यहाँ हम उन्हीं रचनाओं की बात कर रहे हैं जिन्होंने कृष्णकाव्य को उसका विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया है। जो हो, कृष्णकाव्य रामकाव्य से अधिक मौलिक है। उसका आधार मध्ययुग के सम्प्रदायों की पूजा-पद्धति और धर्म भावना में है, पुराण कालीन धर्म भावना में नहीं।

हिन्दी के रामकाव्य का सर्वप्रथम कवि कौन है, यह निश्चित नहीं है। हमें दो कवियों के दो ग्रंथ प्राप्त हैं जो रामचरितमानस से पहले रचे गये हैं परन्तु रामकाव्य का ठीक-ठीक स्वरूप तुलसी के रामचरितमानस में ही स्थिर हो सका है।

मानस मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। वह एक ही साथ बहुत कुछ है—धर्मग्रंथ, महाकाव्य, चरित्रकाव्य, व्यवस्थाग्रंथ (शास्त्र), भक्तिकाव्य, दर्शनकाव्य। वह गीत पाठ के लिए है यह तुलसी की इन पंक्तियों से ही स्पष्ट है—

रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहि सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनुश्रम रामधाम सिधावहीं॥

इसीसे उसका निर्माण प्रचलित पुराण-पद्धति पर हुआ है। इस पद्धति में कथा की रचना संवाद-रूप में होती है। रामकथा जहाँ-जहाँ पौराणिक रूप में मिली है, वहाँ-वही संवाद-रूप में ही हमारे सामने आई है। इसीलिए तुलसी ने भी यही रूप ग्रहण किया है।

तुलसी के ग्रन्थ की विशेषता यह है कि वह किसी विशेष सम्प्रदाय के भीतर से नहीं आया है। इसी कारण उसमें किसी विशेष दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के मत का पोषण नहीं किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने आश्चर्यजनक समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है। इन्हीं कारणों से उसका ग्रन्थ सभी सम्प्रदायों को मान्य रहा। प्रत्येक सम्प्रदाय मानस को अपने ढंग पर अपनाता और अपने मत को उस पर आरोप करता रहा है। इतना होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि मानस के प्रधान अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई है।

यह प्रधान अर्थ क्या है? मानस का तात्पर्य है भक्तिरस निरूपण। मानस में कथा प्रसंग के अंतर्गत जितने भी रस आये हैं उन सबका उपसंहार भक्तिरस में हुआ है। सारा ग्रन्थ राम की ब्रह्म भावना से भरा हुआ है। राम ब्रह्म हैं। सीता शक्ति हैं। उनका लौकिक जीवन लीलामात्र है। संसार माया है। माया राम की दासी है, उन्हीं के इङ्गित से वह मनुष्य को नचाती है। मनुष्य मायाजन्य भ्रम के कारण ही परिस्थितियों पर सुख-दुख का आरोप करता है। सच्ची वस्तु स्थिति को वह समझता नहीं। माया का नाश भगवान राम की कृपा से ही हो सकता है। राम की कृपा का एक मात्र साधन भक्ति है। यह तुलसी का मौलिक मत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस की आधार भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठा कर कथा वस्तु से राम सीता मन्दिर की स्थापना की गई है। छन्द, रस, अलंकार, संवाद, वर्णन, स्तुतिओं और गीताओं का उपयोग इस विशाल मन्दिर की सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अंतर्कथाओं और कथा संकेतों के झरोखे लगे हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है।

प्रारम्भिक विनय चौपाइयों से पाठक भीतर प्रवेश करता है और शिव-पार्वती विवाह, नारदमोह, भानुप्रताप और स्वयंभू शतरूपा की कथाओं की ड्योढ़ियों को पार करता हुआ रामकथा के मुख्य मूर्तिभवन में प्रवेश करता है। यहाँ उसे भगवान राम, भगवती सीता और पार्श्वचद-स्वरूप लक्ष्मण-हनुमान की झाँकी मिलती है और राम ही के समान प्रभावशाली एक तापसमूर्ति सामने आती है यह भरत हैं। आदर्श चरित्रों से मण्डित तुलसी की रामकथा ने जनता के लिए एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षागृह का निर्माण कर दिया है।

उच्च से उच्च कल्पना के दर्शन करना हो तो तुलसीदास की उत्प्रेक्षायें देखिये और उनकी काव्य-प्रतिभा को देखना हो तो उनके रूपकों का निर्वाह देखिये। सीता के रूप की संयत, स्वच्छ और पुण्यमय कल्पना—

जौं पटतरिय तीय सम सीया।
जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनुपति जानी॥
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि-सुधा पयोनिधि होई।
परम रूप मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल॥

कवि-कल्पना की सर्वोच्च उड़ान है। इसके पश्चात् यदि तुलसी के आदर्शवाद को देखना है तो रथरूपक देखिये, उनकी

भक्ति को देखना है तो सारा अयोध्याकांड उत्तरार्ध उपस्थित है। मनोविज्ञान और हिन्दू गृहस्थ-जीवन के चित्रण अयोध्याकांड के पूर्वार्ध में मिलेंगे और दार्शनिक विवेचन से तो उत्तरकांड भरा पड़ा है।

हिन्दी साहित्य में तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने समय की दो प्रमुख काव्य भाषाओं का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रयोग किया है, अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रचना की है, अनेक छन्दों पर सरलता से लेखनी चलाई है और उनमें से प्रत्येक में रस, अलंकार और ध्वनि भरने में सफल हुए हैं। उनके रामभक्ति साहित्य में लोक और परलोक काव्य और धर्म, मृत्यु और अमृत्यु की सीमाएँ आ मिली हैं।

२५. विनयपत्रिका

(१) विनयपत्रिका के अनेक महत्त्व (२) तीन साहित्यिक शैलियों का प्रयोग (३) विनयपत्रिका और तुलसी की दैन्यपूर्ण भक्ति : एक विश्लेषण (४) तुलसी की निरंतर विकसित भक्ति भावना के अध्ययन में ग्रन्थ की उपयोगिता (५) विनयपत्रिका में तुलसी के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त (६) विनयपत्रिका में जीवन-निर्माण का उन्नत और उच्च आदर्श सन्निहित है।

विनयपत्रिका गोस्वामी तुलसीदास की अन्तिम और प्रौढ़तम रचना है। उसकी समाप्ति तक तुलसीदास जीवन के अन्तिम छोर तक पहुँच गये हैं।

विनयपत्रिका का महत्त्व कई प्रकार से है। एक, वह कवि की प्रौढ़तम रचना है। उसकी शैली कवितावली के कुछ छन्दों को छोड़ कर तुलसी के सभी ग्रंथों की शैली से अधिक पुष्ट है। भाव-व्यंजना में इतनी तीव्रता है कि कवि को एक से अधिक

भाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। दो, यह ग्रंथ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद तो सूर साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। तन्मयता, आत्मविस्मृति, भावसंगठन और गीतात्मकता गीतिकाव्य के प्रधान गुण हैं और तुलसी के इस ग्रंथ में ये सब गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। तीन, तुलसी की भक्ति के समझने के लिए इस ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति महत्त्वपूर्ण है। चार, तुलसी के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए यह ग्रंथ एक प्रकार से नई सामग्री उपस्थित करता है। यह आवश्यक है कि इस सामग्री को रामचरितमानस की सामग्री के साथ रखा जाय। इसी सामग्री के आधार पर तुलसी के जीवन-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं। पाँच, कुछ सामग्री कवि के लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखती है, यद्यपि इसमें से अधिकांश वृद्ध कवि के अन्तर्जगत का चित्र है।

विनयपत्रिका में तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है—स्तोत्र शैली, पद शैली, कवित्त आदि छंद शैली। तुलसी के स्तोत्र साहित्य दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनमें कवि भक्त ने संकृस्त स्तोत्रों का अनुकरण किया। इनमें से अधिकांश संस्कृत गर्भित हैं और साधारण हिन्दी पाठक के लिए क्लिष्ट हैं। इनमें अनेक देवी-देवताओं की लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है और एक ही प्रकार की बात की बार-बार पुनरावृत्ति हुई है। इन स्तोत्रों से तुलसी की भक्तिभावना-सम्बन्धी एक बात पर विशेष प्रकाश पड़ता है। तुलसी ने अनेक देवी-देवताओं की प्रार्थना की है परन्तु उनकी भक्ति अनन्य कोटि की है; सब देवता राम के निमित्त ही उपास्य हैं, तुलसी के लिए उनका स्वतंत्र रूप से कोई उपयोग नहीं।

विनयपत्रिका के पदों से तुलसीदास की दैन्यपूर्ण-भक्ति पर

विशेष प्रकाश पड़ता है। विनय भक्ति के से अंग माने गये हैं—
(क) प्रपत्ति अथवा अनुकूल होने का संकल्प (दास्य भाव),
(ख) प्रतिकूलस्यवर्जनम् (देवैच्छा के प्रतिकूल कुछ न करूँगा—
ऐसा भाव), (ग) रक्षिष्यतीति विश्वासो (भगवान की रक्षा में
विश्वास), (घ) गोप्तृत्वा वर्णनम् (भगवान को मुक्तिदाता
और भक्त-वत्सल जानना), (ङ) आत्मनिक्षेप (समर्पणभाव),
(च) कार्पण्य (भगवान के प्रति दीनता का भाव)। विनय-
पत्रिका के अनेक पद इनके उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये जा
सकते हैं। सच तो यह है कि विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय
के विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा-पूरा परिचय मिलता है।
वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय की सात प्रकार की भूमिकाएँ
होती हैं— १—दीनता, २—मान-मर्षता, ३—भयदर्शन,
४—भर्त्सना, ५—आश्वासन, ६—मनोराज्य, ७—विचारणा।
इन सात भूमिकाओं के अभाव में विनय अपूर्ण समझी जाती है।
तुलसी के विनय के पदों में ये सातों प्रकार की भूमिकाएँ भी
मिलती हैं। अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी तुलसी
के विनयपद उत्कृष्ट हैं।

अतः तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन करने
के लिए विनयपत्रिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, कदाचित् रामचरित-
मानस से भी अधिक। उससे तुलसीदास की वृद्धावस्था की भक्ति-
भावना पर प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि
रामचरितमानस की रचना के बाद भी तुलसी के आध्यात्मिक
विचारों में बराबर विकास होता गया और विनयपत्रिका में हमें
उनके पूर्ण विकसित-रूप के दर्शन होते हैं। रामचरितमानस की
भक्ति ज्ञान और कर्म को साथ लेकर चलती है। उसे हम
ज्ञानकर्म-समन्वित भक्ति कह सकते हैं। विनयपत्रिका की भक्ति
अनन्य भक्ति है। वह न किसी दूसरे देवता का आश्रय लेती है

न किसी दूसरी उपासना पद्धति का। ज्ञान और कर्म पीछे छूट जाते हैं। तुलसी उनकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखते। उनके लिए केवल भक्ति ही एक साधना है, जिससे वे अपने उपास्य के निकट पहुँचते हैं। यही नहीं, भक्ति उनके लिए केवल साधन नहीं, साध्य भी है। तुलसीदास प्रत्येक देवता से रामभक्ति की याचना करते हैं। स्वयम् राम से भी वे यही याचना करते हैं कि रामचरणरति प्राप्त हो। उनका कहना है—और काहि माँगिये। इस अन्तिम समय में तुलसी ने और नाते छोड़ कर केवल राम से नाता जोड़ रखा है। उनका और उनके उपास्यदेव का सम्बन्ध इस पद में पूर्णतः स्पष्ट है—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज हारी॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोंसो?
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसों॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥

इस रामभक्ति को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी तुलसी को कुछ कहना है। पहला साधन है। राम के शील स्वभाव का मनन—

सुनि सीता पति सील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ

दूसरा साधन है नामस्मरण

मति राम नाम ही सों, रति राम नाम ही सों,
गति राम नाम हीं कीं विपति हरनि
राम नाम सों प्रतीत प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढरैंगे राम अपनी ढरनि

तीसरा साधन आर्त निवेदन

बलि जाउँ हौं राम गोसाईं ।
कीजे कृपा आपनी नाईं ॥

चौथा साधन है सत्संग

सेवत साधु द्वैत-भय भागे ।
श्री रघुवीर चरन लय लागे ॥

इसीके अंतर्गत आ जाता है असाधु से असहयोग—

जाके प्रिय न राम वैदेही
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही

पाँचवाँ और कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है हरि कृपा। हरि कृपा के बिना अन्य साधन भी नहीं सधते। उसके बिना सत्संग की प्राप्ति तो असंभव ही है। यह कृपा तभी मिल सकती है जब राम करुणा से द्रवित हों, परन्तु राम को द्रवित करना कुछ कठिन बात नहीं है। भक्त पर कृपा करना तो राम की बानि ही है, उन्हें पता चल जाय कि उनसे प्रेम कर रहा है। परन्तु आवश्यकता यह है कि मनुष्य पहले राम की शरणागति में जाये। फिर हरिकृपा उसे अनायास ही प्राप्त होगी और उसके लिए हरिभक्त के साधन भी इकट्ठे हो जायेंगें।

परन्तु हरिभक्ति की आवश्यकता क्या है। इसकी आवश्यकता है इसलिए कि मनुष्य शांति चाहता है। शांति मन का विषय है। मन को शुद्ध और संयत करने से शान्ति प्राप्ति होती है परन्तु मन को शुद्ध और संयत रखना सरल नहीं है। इसके लिए अनेक साधन कहे गये हैं परन्तु इस कलियुग में सब व्यर्थ हैं। इसीलिए आवश्यकता है कि मन किसी एक वस्तु की ओर उन्मुख किया जाय। राम के चरणों में अनुरक्ति होने से सारे दुख दैन्य दूर हो जाते हैं और अब शुद्ध और एकनिष्ट होकर शांति को प्राप्त करता

है। मन की अशांति का कारण क्या है, इस पर भी तुलसीदास ने विचार किया है। यह है संसार की द्विविध सत्ता। यह संसार रमणीय दिखलाई पड़ता है परन्तु परिणाम में भयंकर है परन्तु वास्तव में यह संसार न रमणीय है, न भयंकर। यह संसार हमें भयानक लगता है इसका कारण ही भ्रम और अविवेक है। इस अविवेक और भ्रम को दूर करने के लिए क्या किया जाये ? इस अविवेक और भ्रम के दूर होने पर संसार की भयंकरता भी नष्ट हो जाती है। परन्तु यह भ्रम हरिकृपा के बिना नहीं छूटता। इस प्रकार भी हरिकृपा वाञ्छनीय है।

तुलसी की विनयपत्रिका प्रतिपादित भक्ति संसार को छोड़ कर चलती हो, यह बात नहीं। उसमें जीवन-निर्माण का एक अत्यंत उन्नत और उच्च-आदर्श सन्निहित है। उसकी नीव नैतिकता में है। संतोष, परहित चिन्तन, मृदुसंलाप, रागद्वेष-हीनता, मान-हीनता, शीतलता, सुखदुःख में समबुद्धि—ये कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपादेय हैं, भले ही वह रामभक्ति में विश्वास करे या नहीं। तुलसी ने अपने जीवन का आदर्श यही नैतिक जीवन रखा है।

२६. सूरदास

(१) हिन्दी साहित्य में सूरदास का स्थान (२) सूरदास की रचनाएँ, (३) सूरसागर का एक विश्लेषण (४) सूरसागर के दशम स्कंध में सूर की मौलिकता (५) सूरदास की महानता के कुछ कारण—स्वतंत्र उद्भावना, पांडित्य, रसज्ञता, उच्चकोटि की आध्यात्मिकता (६) सूरसागर में कृष्ण कथा, मौलिक लीलाओं, रूपकों, भक्तिपूर्ण भावनाओं और शुद्धाद्वैती धारणाओं का विचित्र संघटन (७) उपसंहार।

हिन्दी काव्य साहित्य में सूरदास का स्थान बहुत ऊँचा है। "सूरसूर तुलसी ससी" वाली उक्ति प्रसिद्ध ही है। सम्भव है सूर

और तुलसी की तुलना में हम किसी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके या जैसा पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानों का मत है, तुलसीदास सूरदास से बढ़-चढ़ कर हैं, परन्तु अन्य कोई कवि उनके समक्ष नहीं ठहरता, इसमें कोई मतभेद नहीं है।

सूरदास पुष्टिमार्गीय भक्त वैष्णव थे। वह सीधे पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः यह स्पष्ट है कि यह भक्त कवि थे। पुष्टिमार्ग में लीला-गान को महत् स्थान मिला था। श्री आचार्य ने स्वयं लिखा है—"लीलावत्तु कैवल्यम"। लीला मोक्ष है। इसीसे सूरदास ने आयु भर पुष्टिमार्ग के आराध्य श्री कृष्ण की लीला का गान किया। उनका सूरसागर यही लीलागान है। सूरसागर के अतिरिक्त सूर के दो प्रकाशित ग्रंथ हैं सूरसारावली और साहित्य लहरी। पहला ग्रन्थ सूरसागर की सूची कहा जाता है, परन्तु सूरसागर में और इस ग्रन्थ में अधिक सम्बन्ध नहीं है। यह एक स्वतंत्र रचना है, और संभव है, जाँच होने पर सूर की रचना सिद्ध न हो। साहित्य लहरी में सूरसागर के ही उन कूटपदों का संग्रह है जो अनेक प्रसंगों के समय सूरसागर में बिखरे पड़े हैं। आकार-प्रकार और काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से सूरदास की महानता सूरसागर से ही आँकी जाएगी। अन्य ग्रन्थ विशेष सहायक नहीं होंगे।

जिस रूप में सूरसागर उपलब्ध है, उसमें कथा श्रीमद्‌भागवत के अनुसार स्कंधों में बँधी हुई है। पहले नौ स्कंधों और अंतिम दो स्कंधों में लगभग वही क्रम है जो भागवत में है, यह अवश्य है कि भागवत की जितनी ही कथाएँ इनमें नहीं है और जो हैं भी वह बहुत ही संक्षेप में, कभी-कभी बदले हुए रूप में, मिलेंगी। इनमें नवमस्कन्ध की राम-कथा को छोड़ कर और कहीं भी उच्चकोटि के काव्य के दर्शन कभी नहीं होते। नवमस्कंध की रामकथा पदों में, शेष पहले स्कंध के कुछ सुन्दर पदों को छोड़ कर अधिक

कथायें वर्णनात्मक चौपाई या चौपाई छंद में लिखी गई हैं। वास्तव में चौपाई छंद में सूर की प्रतिभा का दशमांश भी दिखलाई नहीं पड़ता। प्रश्न यह होता है कि फिर उन्हें उन सब कथाओं को लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। उत्तर हो सकता है कि पुष्टिमार्ग में श्रीमद्भागवत की मान्यता ही इसका कारण है। या तो स्वयम सूर ने भागवत के ढाँचे पर रचना करने की बात सोची होगी या जब वे सूरसागर दशमस्कंध की कथाएँ लिख चुके तो स्वयं अपनी प्रेरणा से अथवा साथियों की इच्छा से उन्होंने भागवत के सभी स्कंधों का सार भाषा में लिख कर अपनी कथा में जोड़ दिया। परन्तु समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि सूरसागर दशमस्कंध पूर्वार्द्ध में भी वर्णनात्मक छंद चल रहा है और उसके कारण उन कथाओं की पुनरुक्ति हो रही है जो अत्यन्त ऊँचे काव्य गुणों के साथ पदों में कह दी हैं। सम्भव है सूरदास ने पदों की रचना से पहले वर्णनात्मक छंद में सारे भागवत को कथा कही हो और इस प्रकार जो कथा बनी उसीमें कभी बाद को उन्होंने ह: या किसी दूसरे ने स्थान-स्थान विषय के अनुसार पद भी जोड़ दिये और इस तरह सूरसागर का प्रस्तुत रूप उपस्थित हुआ। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सूर ने खंडिता, फाग, मान आदि जो नये प्रसंग गढ़े हैं, वे केवल पदों में, वर्णनात्मक छंदों में नहीं है।

वस्तुतः सूरसागर का मुख्य और महत्त्वपूर्ण भाग दशमस्कंध-पूर्वार्द्ध के पद हैं। इन्हें हम कई समूहों में इकट्ठा कर सकते हैं। पहले तो वे पद हैं जिनका सम्बन्ध कृष्ण की अलौकिक एवं असुरबध लीलाओं से हैं। पदों में विशेष प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, परन्तु कालियदमन और इन्द्रगर्वहरण-सी कुछ लीलाओं के विषय में हम यह नहीं कह सकते। उनमें हमें अत्युच्च कवि-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। साधारण आलोचक यही कहता है कि

इन स्थलों में सूर ने भागवत के अनुवाद के रूप में अरुचि-पूर्वक लिख भर दिया, परन्तु अध्ययन करने से यह पता लगेगा कि सूर की इन कथाओं और भागवत की कथाओं में अनेक भेद हैं। ये भेद क्यों हैं, इसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता कि सूर मौलिक होना चाहते थे। कहीं तो इस प्रकार की मौलिकता से कृष्ण-चरित्र में मानवीयता का अधिक समावेश हो गया है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर मौलिकता की कोई आवश्यकता नहीं थी। शेष पदों में कृष्ण के लौकिक चरित्र का ही विकास हुआ है। वाल्य और किशोर जीवन सम्बन्धी पदों में सूरदास भागवत के लगभग बिल्कुल भी ऋणी नहीं हैं। कृष्ण का बालचरित्र और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर का प्रकृतक्षेत्र है और यहाँ वे अद्वितीय हैं। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रसंग भागवत से लिए गये जैसे चीर-हरण परन्तु उन्हें सूरदास ने अपने ढंग पर बदल कर अपना लिया है; कुछ अन्य लीला प्रसंग सूर ने आप ही गढ़ लिये हैं जैसे दानलीला, मान, खंडिता, हिंडोला, फाग। राधा की सारी कथा ही सूर की उपज है। राधाकृष्ण के प्रथम परिचय से लेकर वियोगिनी राधा और राधाकृष्ण के मिलन की कथा तक सूर ने विस्तृतरूप से कही है। भागवत् में राधा का नाम भी नहीं है। इसीसे सूर की मौलिकता पर प्रकाश पड़ जायगा। पदों का एक मौलिक समूह ऐसा भी निकल आयेगा जो शृंगार-शास्त्र की पद्धति पर खड़ा किया गया है—भ्रमर-गीत प्रसंग। भागवत् के भ्रमरगीत और सूर के भ्रमरगीत में आकाश-पाताल का अन्तर है। शृंगार-शास्त्र को ध्यान में रखते हुए ही सूरदास ने वंशी के उद्दीपन विभाव, राधाकृष्ण के रूप-सौन्दर्य, उद्धव, पाती आदि प्रसंगों पर विस्तार-पूर्वक बहुत कुछ लिखा है। दूसरे समूह में वाग्वैदग्ध्य की ओर

ध्यान है जैसे कूट पद, नेत्रों और मुरली के प्रति कहे पद। भागवत में इन सबका अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के काव्य का महत्त्वपूर्ण अंश लगभग शतशः मौलिक हैं। वास्तव में मौलिकता के लिए इतना अधिक आग्रह हिन्दी के किसी कवि में नहीं मिलेगा। वल्लभाचार्य ने लीलागान को महत्त्व दिया था और, जैसी जनश्रुति है, उन्हीं के कहने पर सूरदास ने "भगवतलीला" गाई परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वह अक्षरशः लीलागान नहीं कर रहे हैं। राधा कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को हम भले ही लीलागान के रूप में स्वीकार कर लें, परन्तु दानलीला, मान, खंडिता और हिंडोला आदि में लीला से अधिक भी कुछ है। यह अधिक कुछ रूपक है। भागवतकार ने जिस उद्देश्य से "रास" के रूपक की रचना की थी, उसी उद्देश्य से सूरदास ने कई नये रूपक लिखे। दानलीला में कृष्ण गोपियों से सब अंगों का दान माँगते हैं। भ्रमरगीत, नेत्रों और मुरली के पदों एवम् गोपी विरह वर्णन में वे धर्मभावना या लीलागान से अधिक साहित्यिक पद्धति और परम्परा से प्रभावित हैं। परन्तु सूर की महानता इसीमें है कि उन्होंने विद्यापति के भाँति शृंगार-शास्त्र या रीति-शास्त्र को सब कुछ नहीं मान लिया, उससे धर्म-भावना की पुष्टि के लिए या कथासूत्र जोड़ने के लिए सहारा भर लिया। उदाहरण के लिए, नायिकाभेद, अभिसार, परकीया जैसे विषय सूरसागर में नहीं हैं। मान और खंडिता के प्रसंग भी आध्यात्मिक रूपक की सृष्टि के लिए अवतीर्ण हुए हैं। सूरदास की मौलिकता ने उन्हें रूढ़ होने से बचाया; उसीके कारण वे महान् हैं। उनके काव्य में काव्य-शास्त्र का प्रयोग भक्तिकाव्य की सृष्टि के लिए हुआ है, लौकिककाव्य के लिए नहीं। यह अनुताप का विषय है कि सूरदास के लिए क्या गौण है, क्या प्रधान, यह न समझ कर

आलोचकों ने उन्हें शृंगारिक कवि दिखलाने का प्रयत्न किया है। सूरसागर में राधाकृष्ण के संभोग, रति-विलास, विपरीत और सुरतांत के जो चित्र हैं, वे ब्रह्म वैवर्त्त पुराण और गीति गोविन्दम् के प्रभाव को सूचित करते हैं और उनसे जीवात्मा-परमात्मा के मिलन के रूपक का निर्माण करने की चेष्टा है। इन्हीं आध्यात्मिक भावनाओं के कारण सूरदास की गोपियाँ अविकसित ही रह गई हैं। शृंगार की परम्परा की दृष्टि से उनमें राधा के प्रति ईर्ष्या और असूया के भाव होना चाहिये, सूर के काव्य में वे राधा की सुरतांत छवि पर मोहित हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि ये मौलिक समूह एकदम अलग-अलग रखे जा सकते हैं। सच बात यह है कि सारे प्रधान प्रसंगों में चरित्र-चित्रण अथवा कथा के विकास के सूत्र इस तरह पिरो दिये गए हैं कि केवल कुछ भागों को (जैसे नेत्रों, मुरली, मधुकर के प्रति कहे पद) छोड़ कर हम शेष सब पदों को एक साथ पढ़ कर ही आनन्द बनाए रख सकते हैं। इस तरह प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का एक अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण सूरसागर में बन पडा है। यही नहीं, सूर ने बालक के रूप में ही शृंगार का आरोपण करके और गोपियों तथा बाद को राधा से प्रेम-प्रसंग चला कर बाल्य-जीवन के पदों को भी शृंगार-प्रधान भाग से जोड़ दिया है। रूपक आते हैं, जहाँ भाव की गहराई है वहाँ एक ही विषय पर अनेक पद आते हैं, कवि की भक्ति-भावना का प्रकाशन भी स्थान-स्थान पर मिलता रहता है और कथा की धारा भी अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती है, यह सूर का चमत्कार है। वास्तव में हिन्दी संसार में एक भ्रांतिपूर्ण धारणा यह फैली हुई है कि सूर ने पदों में कोई क्रम नहीं रखा, एक लीला को अनेक बार कहा, एक प्रसङ्ग को अनेक बार गाया, परन्तु बात ऐसी नहीं। कदाचित् एक कारण यह है कि सूर को

अंधा माना गया है। भला अंधा गायक कोई क्रम बाँध कर गाता है। दूसरा कारण है यह धारणा कि सारे पद श्रीनाथ जी के मन्दिर में गाने के अवसर पर ही बने। ऐसे पद बाल्य-लीला तक ही सीमित हैं। जो आलोचक यह समझते हैं कि बसन्त, हिंडोला. फाग आदि के उत्सवों पर बने पद सूरसागर में होंगे, वे भ्रम में हैं। सूरसागर के पदों में एक सूत्रता है। सूर ने सारे सागर को एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रख कर कहा है। उसमें फुटकर रूप में लिखे हुए पद अवश्य स्थान-स्थान पर हैं, परन्तु इनका कथा से कोई सम्बन्ध नहीं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं। यह कहना भी भ्रम है कि सारा सूरसागर तानपूरे के तारों पर बना है। वर्णनात्मक छन्दों के विषय में क्या कहा जायगा ? कई बड़े-बड़े पृष्ठों तक चलती हुई कथा की इतिवृत्तात्मक धारा तानपूरे पर नहीं निकल सकती।

जो हो, सूरदास की प्रतिमा इतनी विचित्र है कि उसे कहीं एक स्थान पर पकड़ा नहीं जा सकता।

२७. सूर की विनयभावना

(१) सूर की विनयभावना का आधार (२) आलम्बन के गुण (३) विनय की भूमिका—माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना (४) आत्म-प्रवंचना आत्म-शुद्धि और आत्म-प्रबोध के रूप में भक्त का प्रयत्न (५) भक्त की तीन साधनाएँ—नाम स्मरण भगवद् कथा गान भगवद्-स्वरूप चिंतन (६) आत्म-समर्पण और तज्जन्य गर्व (७) तुलसी और सूर की विनय-भावनाओं का भेद (८) सूरसागर में विनय के पदों का स्थान।

विनय के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे आधार की आवश्यकता है जिसके प्रति विनय की जाय। सूर ने आरम्भ में ही इस विषय में अपना मत निश्चित किया है। उनकी विनय का आलम्बन

निर्गुण का सगुण अवतार है। "अविगत" निर्गुण के प्रति इस प्रकार की भावना रहस्यमूलक, अस्पष्ट और भ्रामक हो सकती है, अतः सूरदास ने अपना आधार सगुण माना—

अविगत गति कछु कहत न आवै
ज्यौं गूँगै मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै
मन-पानी कौं अगम अगोचर सो जाने जो पावै
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै

अब प्रश्न है यह "सगुण" रूप कौन-सा है जिसके प्रति सूर की विनयभावना परिचालित है। वह है "वासुदेव" "जदुनाथ गुसाईं।" परन्तु सूरदास यह जानते हैं कि सगुण रूप कितने ही हैं यद्यपि सब एक ही हैं। निर्गुण के सगुण रूप में अवतार लेने के दो कारण हैं :

१—ब्रह्म की लीला।

२—भक्तों को आनन्द देना या भक्त का दुःख से त्राण करना।

इस प्रकार भक्ति के आलम्बन के निश्चित हो जाने पर सूरदास अपनी विनय आरम्भ करते हैं।

पहले वे भगवान के स्वभाव का वर्णन करते हैं क्योंकि भक्त को उसी स्वभाव का आश्रय लेना है। यह स्वभाव ही उन्हें विशेष कर्म की ओर प्रेरित करता है। न भगवान की "करनी" की गति जानी जा सकती है, न उनके स्वभाव की। इस स्वभाव के अंग हैं—

(१) भक्त-वत्सलता,
(२) भक्त की ढिठाई का सहन,
(३) भक्त का कष्ट-हरण,

(४) शरणागत-वत्सलता,
(५) दीन-ग्राहकता,
(६) गाढ़े दिन की मित्रता,
(७) अभयदान ।

इस स्वभाव के विश्वास को लेकर भक्त आगे बढ़ता है। वह सांसारिक ऐश्वर्य को तिलांजलि दे देता है और भगवान की सम्पत्ति में ही अपने को धनी मानता है—

कहा कमी जाके राम धनी
मनसा नाथ मनोरथ पूरन सुख निधान जाकी मौज धनी
अर्थ, धर्म अरु काम मोक्ष फल चारि पदारथ देत गनी
इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी

यही नहीं, वह आगे बढ़ कर अपने को महाराजों का भी महाराज मानता है; भगवान का ऐश्वर्य ही उसका ऐश्वर्य है :—

हरि के जन की अति ठकुराई
महाराज, रिषिराज, राजमुनि देखत रहे लजाई

यहाँ तक मन को विश्वास करने के बाद भक्त विनय की भूमि में उतरता है। वह पहले भगवान से माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना करता है। वास्तव में भगवद्-भक्ति के ये दोनों प्रबल शत्रु हैं। सारे संसार का झमेला इन्हीं के कारण है। और सच तो यह है कि ये दोनों एक हैं। माया की ओर मन का निरंतर आकर्षित होना ही तृष्णा है। जो भगवान के लिए "माया" है, कौतुक है, वही भक्त के लिए तृष्णा का कारण बनती है। माया का ही काम है भ्रम उत्पन्न करना। भ्रम की उत्पत्ति ही दुःख का कारण है—

नारद मगन भये माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयौ
साठि पुत्र अरु द्वादस कन्या कंठ लगाए जोयौ

संकर को मन हर्यौ कामिनी सेज छाँड़ि भू सोयौ
चारु मोहिनी आइ आँध कियौ तब नखसिख तैं रोयौ
सौ भैया दुरजोधन राजा पल मैं गरद समोयौ
सूरदास कंचन अरु काँचहिं एकहिं धगा पिरोयौ

इस प्रकार माया-जन्य भ्रम के कारण मन सार वस्तु (भगवान) से हटता है। कालांतर में इसी भ्रम के कारण हिंसा, मद, ममता, आशा, निद्रा, काम, तृष्णा, परनिन्दा, शरीर-सेवा, वाह्याडम्बर, विषय-मुखता, राजस, अविहित वादविवाद का जन्म होता है। इसीलिए माया का अनिष्टकारिणी गाय का रूपक बाँध कर कवि भगवान की शरण में जाता है—

माधौ, नेंकु हटकौ गाइ
भ्रमत निशि बासर अपथ-पथ अगह गहि नहिं जाइ

और अपनी निर्बलता को स्वीकार कर लेता है—

नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ
ताहि कहु कैसें कृपानिधि सकत सूर चराइ

परन्तु जहाँ भक्त का अन्तिम आश्रय भगवान का अनुग्रह ही है क्योंकि वही माया-तृष्णा से उसका त्राण करेगा, वहाँ उसे भी स्वयं अपनी ओर से प्रयत्नशील होना होगा। इसलिए भक्त का प्रधान प्रयत्न अपनी आत्म-प्रवचना, आत्म-शुद्धि और आत्म-प्रबोध ही होता है। वह सबसे प्रथम मन को भाँति-भाँति के सम्बोधन करके उसे वस्तुस्थिति से परिचित कराता है—

रे मन जग पर जनि ठगायौ
धनमद, कुलमद, तरुनी कैं मद, भवमद, बिसरायौ
रे मन छाँड़ि विषय कौ रँचिवौ
रे मन गोविन्द के ह्वै रहियौ

कवि मन को विश्वास दिलाता है कि वह मूलरूप से सात्विकी है,

वस्तुतः उसकी प्रवृत्ति बदली नहीं है, उसे केवल सांसारिकता से ऊपर उठ कर भगवान की ओर उन्मुख भर हो जाना है। वस्तुतः, मन को अपना रूप पहचानना है—

रे मन आपु कौं पहचानि

इस मन की स्वच्छता के लिए हरि-कृपा तो वांछित है ही, प्रथम और अन्तिम साधन वही है परन्तु स्वयं भक्त क्या करे? सूरदास भक्त के लिए तीन साधनाएँ आवश्यक मानते हैं—

(१) नामस्मरण,
(२) भगवद्कथागान,
(३) भगवद्-स्वरूप चिन्तन।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कर्म भी विदित हैं—गुरु-भक्ति, दीनता, सत्संग। इन साधनाओं के साथ-साथ चलते रहना चाहिए आत्म-प्रताड़न (हरिजू मोसों पतित न आन), शरणागति (अब हौं हरि शरणागति आयौ), भगवान की अनुकंपा के प्रति आस्था (बहुत पतित उद्धार किये तुम हौं तिन कौं अनुसर तौं)। इन्हीं भावनाओं के कारण भक्त ढीठ हो जाता है। वह भगवान से कहता है—

जानहौं अब बाने की बात
मोसौं पतित उधारौ प्रभु जौ तौ बदिहौं निज तात

वह तो आत्म-समर्पण कर देता है (हमें नन्द नन्दन मौल लिये), फिर वह ढीठ क्यों न हो जाये। उसकी तो भावना है अनन्य। इसी दृढ़ता के बल पर वह कहता है—

जौं पै तुमहीं विरद विसारौ
तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय कठिन करम कौ मारौ

यहाँ तक की अंत में वह भगवान के अनुकंपामय स्वभाव से उत्साहित होकर अड़ ही जाता है—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं
कै तुमहीं कै हमहिं माधौ, अपन भरोसैं लरिहौं
हौं तौ पतित सात पीढ़िनि कै पतितै ह्वै निस्तरिहौं
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं तुम्हैं विरद बिन करिहौं
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायौ हरि हीरा
सूर पतित तबही उठिहै प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा

यह है सूर की विनय-भावना के मूल में काम करनेवाला मनो-विज्ञान। केवल एक स्थान पर वह तुलसी की तरह भक्ति की याचना करते हैं—

अपनी प्रभु भक्ति देहु जासौं तुम नाता

परन्तु अन्य सभी स्थलों पर वह भगवान से मुक्ति की ही याचना करते हैं और अपना पतितावस्था और भगवान की "पतित-उद्धारन बानि" का सहारा लेते दिखाई पड़ते हैं यद्यपि सूरदास ने तुलसीदास की तरह विनय की शास्त्रीय-पद्धति (वैष्णव विनय-पद्धति) को अपने सामने नहीं रखा है, परन्तु विनय की समस्त भूमिकाएँ उनके पदों में मिल जाती हैं यद्यपि सूर के विनय पद प्रधान रूप से जिस भावना से परिचालित हैं वह है "पतित-भावना" जिसके सत्यरूप को समझने के लिए सूर की पंक्तियाँ सदैव स्मरण रखनी होंगी :

अद्भुत जस विस्तार करन कों हम जन कौं बहु हेत
भक्त पावन कोउ कहत न कबहूँ; पतित पावन कहि लेत

सूरदास की यह भक्तिभावना जिस कृष्णरूप के प्रति प्रकट हुई है, वह "निर्गुण" से कम अविगत नहीं है, परन्तु सगुण रूप होने के कारण उसकी सुन्दरता भक्त के मन में समा जाती है, जिससे वह कुछ तृप्त अवश्य हो जाता है। वास्तव में सूरदास का विषय इसी अलौकिक, अविगत सगुण सौन्दर्य का अवलोकन,

आस्वादन और ध्यान है और विनय के पद भूमिका-स्वरूप हैं। इस रूप के चमत्कारिक वर्णन से सारा सूरसागर भरा पड़ा है, परन्तु भूमिका-रूप में यह पद दिया जा सकता है—

यहई मन आनन्द अवधि सब
निरखि सरूप विवेक नयन भरि या सुख तैं नहिं और कछू अब
चित चकोरगति करि अतिसय रति तजि स्रम सघन विषय लोभा
चिंति चरन मृदु चारुचंद्र नख, चलत चिन्ह चहु दिसि सोभा

नामस्मरण, कथा-कीर्तन और ध्यान में यह ध्यान ही सूरदास ने सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रमाण सूरसागर है जिसमें राधाकृष्ण का ध्यान सैकड़ों रूपों में अतः चक्षुओं के सामने उपस्थित किया गया है। सूरदास की विनयभावना ध्यान के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करती है।

२८. बिहारी की सतसई

(१) हिन्दी काव्य में सतसई का स्थान (२) सतसई रचना सम्बन्धी कथा (३) सतसई का विश्लेषण (४) सतसई और "शृङ्गार" (५) सतसई में प्रकृति-चित्रण (६) सतसई के काठिन्य के कुछ कारण—समास-शैली, साहित्यिक परंपराओं का पालन, श्लेष, ध्वनि (७) बिहारी की सौन्दर्य निष्ठता (८) बिहारी की रसिकता (९) सतसई के कुछ दोष (१०) उपसंहार।

हिन्दी काव्य-जगत में रामचरितमानस के बाद यदि कोई पुस्तक सबसे अधिक प्रिय हुई है तो वह कविवर बिहारी लाल की सतसई है। बिहारी के समय में ही इसकी इतनी प्रसिद्धि हो गई थी कि मतिराम जैसे कवि पर इसका प्रभाव पड़ा और टीकाओं की वह शृंखला आरम्भ हुई जो अब तक अटूट चली आती है। टीकाएँ भी एक-दो नहीं, आधे शतक से ऊपर टीकाओं को तो श्री

जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' ने ढूँढ़ निकाला है, पता नहीं कितनी और कालकलवित हो गईं अथवा अभी प्रकाश में नहीं आईं। ब्रजभाषा के लगभग प्रत्येक कवि पर भाषा और भाव की दृष्टि से बिहारी सतसई का प्रभाव पड़ा है, और शृंगार के दोहों, कवित्तों, सवैयों का एक बड़ा मुक्तक-साहित्य बिहारी के काव्य को पकड़ कर खड़ा हो सका है। हिन्दी-साहित्य-जगत में न इतना अनुकरण सूर को छोड़ कर किसी और कवि का हुआ, न किसी का इतना प्रभाव ही पड़ा।

सतसई का रचनाकाम १६६२ ई० है। इसमें ७०० दोहे हैं जो किसी एक निश्चित समय पर नहीं बने, समय-समय पर बनते रहे। बाद में बिहारी ने इन्हें संग्रहीत करके सतसई का रूप दिया जैसा अंतिम दोहे से स्पष्ट है—

हुकुमु पाइ जयसाहि को हरिराधिका प्रसाद
करी बिहारी सतसई भरी अनेक संवाद

दोहों के बनने के समय में एक जनश्रुति इस प्रकार है। आमेर नरेश मिर्ज़ा जयसाहि (जयसिंह) नई बहू को ब्याह लाये थे। उसके ही रंग में रँग गये थे। राज-काज देखना छोड़ बैठे थे। बड़ी चौहानरानी और सारी प्रजा असंतुष्ट थी। इतने में बिहारी घूमते-फिरते उधर आ निकले। वे उधर आया ही करते थे। सब कर्मचारी उनके कविकौशल और वाग्वैदग्ध्य से परिचित थे। रानी ने कहा—कोई उपाय करो। बिहारी ने एक उपाय सोचा। एक दोहा लिखकर रनवास (अन्त:पुर) में भिजवा दिया—

नहिं पराग नहीं मधुर रस नहिं विकास इहिं काल
अली कलीसों ही बिंध्यो आगे कौन हवाल

जयसिंह इस दोहे को पढ़ कर बाहर निकल आये। बिहारी को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। कहा, प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फ़ी देंगे।

बिहारी दोहे लिखते, अशर्फियाँ ले आते। इस प्रकार सतसई के दोहे बने।

बिहारी ने जो दोहा रनवास में भेजा था उसका आधार सातवाहन की गाथा सप्तशती की एक गाथा थी—

> यावन्न कोश विकासे प्राप्नोतीषन्मालतीकलिआ
>
> मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि

(अभी मालती की कली में कोष का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरन्द को पान करने के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया।)

परन्तु बिहारी ने थोड़ा-सा परिवर्तन करके उसे परिस्थिति पर घटा दिया है—

"आगे कौन हवाल ?" मध्ययुग के राजनैतिक संघर्ष में रहने-वाले महाराजा के लिए कितनी सार्थक व्यंजना थी ? इस प्रकार के कितने ही दोहे बिहारी-सतसई में हैं जिनमें बिहारी के प्राचीन कवियों, विशेषकर सातवाहन, गोवर्धनाचार्य्य और अमरुक से लाभ उठाया है, परन्तु प्रत्येक अवसर पर उन्होंने अत्यन्त सार्थक, सफल और चमत्कारी परिवर्तन किये हैं जिन्होंने अपहरण को "कविकर्म" में बदल दिया है। अमरुक का शार्दूल विक्रीडि छंद है—

> सून्यं वासगृहं विलोक्य शयनायुत्थाय किञ्चिच्छनै
>
> तिंद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्य पत्युर्मुखम्
>
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात पुलका मालोक्य गण्डस्थली
>
> लज्जा तम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता

बिहारी कहते हैं—

> मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिग जाइ
>
> हँस्यौ खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ

परिवर्तन किस प्रकार का है, यह स्पष्ट है। उससे भाव की व्यंजना और मार्मिकता कितनी अधिक बढ़ गई है।

इस प्रकार बिहारी का काव्य व्यंजना-प्रधान है। वह उस प्रकार का काव्य है जिसे मुक्तक, उद्भट काव्य, सूक्ति या सुभाषित कहा गया है। उसमें जो कुछ कहा गया है, वह चमत्कार की दृष्टि से कहा गया है, परन्तु जो कुछ कहा गया है वह जीवन और साहित्य के पलड़ों पर पूरा उतरता है।

सतसई का मूल विषय शृंगार है, यद्यपि भक्ति, दर्शन, नीति और इतिहासविषयक दोहे भी मिल जाते हैं। सतसई की प्रसिद्धि ६०० के लगभग इन्हीं शृंगारी दोहों पर ही है। इन दोहों में नायिका के सौन्दर्य, दीप्ति, कांति, नखशिख, हावभाव, अनुभाव, केलिबिलास आदि शृंगार की समस्त भूमि उपस्थित है। नेत्रों और अनुभावों एवं हावों के वर्णन में तो सूर को छोड़ कर बिहारी अद्वितीय ही हैं। कहीं-कहीं एक ही दोहे में अनेक हाव भर दिये हैं—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ
सौंह करैं भौंहनु हँसै दैन कहै नटि नाइ
भौंह ऊँचे, आँचरू उलटि, मौरि मोरि, मुहु मोरि
नीठि-नीठि भीतर गई दीठि-दीठि सौं जोरि

विभ्रम अनुभाव का एक उदाहरण है—

गहैं दुहेंड़ी ढिग धरी भरी मथनिया बारि
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनिहारि

परन्तु बिहारी हावों और अनुभावों पर ही नहीं रुक जाते हैं। वे प्रेम के अत्यन्त प्रकृत रूप का चित्रण करते हैं—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं ही जमुहाइ

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात
कहिहैं सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात
करलै चूमि चढ़ाइ सिर उर लुगाइ भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि
कर-मुंदरी की आरसी प्रतिबिम्बित प्यौ पाइ
पीठि दियें निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा कि बिहारी प्रेम की भारतीय रीति से कितने परिचित थे। प्रेमी की तन्मयता, बेबसी, मोह—सभी का अत्यन्त सुन्दर चित्रण बिहारी सतसई में मिलेगा। हमारे सारे साहित्य में कोई एक ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका के संयोग-वियोग के सम्बन्ध में इतनी मार्मिक सूक्तियाँ हों।

प्रेम ही नहीं, प्रकृति के चित्रण में भी बिहारी अन्य कवियों से बहुत आगे हैं। हिन्दी कविता में प्रकृति को आलंबन बना कर बहुत ही कम रचनाएँ हुई हैं, अधिकांश कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में उपस्थित किया है, परन्तु बिहारी में हमें दोनों रूप मिलते हैं। उन्होंने अनुप्रास, शब्द-योजना और नाद-सौन्दर्य से अपने प्रकृति-चित्रण को पुष्ट किया है। उनके बसंत समीर का वर्णन तो बेजोड़ है--

रूनित भृंग घंटावली झरत दानु मधुनीर
मन्द-मन्द आवत चल्यो कुंजर कुंज कुटीर
चुवत सेदु मकरंद कन तरु तरु तर बिरमाय
आवत दच्छिण देस ते थक्यो बटोही बाय
लपटीं पुहुप-पराग पट सनी सेद मकरंद
आवति नारि नवौढ़ लौं सुखद बाय गति मन्द

इन्हीं चित्रों पर मुग्ध होकर अंगरेज आलोचकों ने कहा है—

"He (Bihari) is particularly happy on his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an India Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal south, adust, not from the weary road but from his pollen quest brow headed with rose dew for sweat, and lingering, beneath the trees, resting himself, and inviting others to repose........."

वास्तव में बिहारी सतसई भाषा, भाव और चित्र-सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम है। साधारण पाठक को उसके अर्थ समझने में कठिनाई होती है। कुछ इसलिए कि बिहारी ने ४८ मात्राओं के अत्यन्त छोटे छन्द में बड़े-बड़े प्रसग भर दिए हैं, कुछ इसलिये कि कितने ही दोहों के लिए संदर्भ जानने की आवश्यकता है और कितने ही दोहों का अर्थ समझने के लिए रीति-साहित्य की परिपाटी से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। बिहारी का एक सुन्दर दोहा है—

> रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबै को त्यौनार।
> लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाये बार॥

सन्दर्भ इस प्रकार है—नायक-नायिका की वेणी गूँथ रहा है। परन्तु सूखे बालों से पानी किस प्रकार गिरने लगा यह समझ में नहीं आता है। जो साहित्य-परम्परा से परिचित है वही जान सकता है कि स्पर्श से दंपति को स्नेह सात्विक भाव हुआ है। नायिका स्वाधीनपतिका है। गर्व संचारी भाव है। इसके अतिरिक्त दोहे के रस को पूर्णतः ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पाठक यह भी जाने कि इस दोहे में पञ्चम विभावना ("वर्णन हेतु विरुद्ध ते उपजत है जहँ काज")

और व्याजोक्ति है। इस प्रकार रस और अलंकार एवं ध्वनि की शास्त्रीय-पद्धति से परिचित होकर ही बिहारी के काव्य का रसास्वादन सम्भव है। जो पाठक शास्त्रज्ञान को लेकर बिहारी सतसई की ओर बढ़ते हैं; वही उसकी ठीक-ठीक महानता जान सकते हैं।

बिहारी की प्रकृति अत्यन्त रसिक थी। वह सौन्दर्य और प्रेम के अनन्य उपासक थे। नायिका की एक-एक अदा उन्हें प्रिय थी। नायिका दोनों हाथ उठा कर सिकहर में दहेंड़ी रखती है। ऐसी दशा में नायक ने उसके तने हुए शरीर और अधखुले पीनपयोधरों को देख कर यह कहा है।

> अहे दहेंड़ी जिनि धरै जिनि तू लेहि उतारि।
> नीके है छींके छुए ऐसी ही रहि नारि॥

(हे प्यारी, न तो तू दहेंड़ी को सिकहर पर रख और न वहाँ से नीचे उतार। इसी प्रकार सिकहर छुए खड़ी रह, तेरी यह अदा मुझे बहुत भली मालूम होती है।)

इसी रसिकता ने बिहारी से कुछ ऐसे भी दोहे कहलाए हैं जो उनके समय की सामाजिक शिथिलता पर प्रकाश डालते हैं और सुन्दर परिहास उपस्थित करते हैं—

> बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
> बैद बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँहु चाहि॥

वैद्य जी स्वयम् तो नपुंसक हैं पर रोगी की नपुन्सकता दूर करने के लिए पारे की भस्म दे रहे हैं।

> परतिय-दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
> कसु करि राखी मिश्र हूँ मुँह-आई मुसकानि॥

कथावाचकजी स्वयम् परस्त्रीगमन के अपराधी हैं, परन्तु

परस्त्री वहिष्कार का उपदेश दे रहे हैं। इसी प्रकार ज्योतिषीजी पुत्र की जन्म कुंडली में पितृमारक योग देख कर दुखित थे, कि देखा कि लड़का जारज सन्तान है, खिल उठे कि जान बची।

चित पितमारक जोगु गनि, मयौं, भयें सुत, सोगु
फिरि हुलस्यो जिय जोइसी समुझें जारज-जोगु

इस प्रकार के दोहे बिहारी सतसई को और भी सरस बना देते हैं।

परन्तु सतसई में दोष भी हैं और बड़े दोष हैं। उस पर फ़ारसी विरह-निरूपण-पद्धति का असंयत प्रभाव है। नायिका विरह में इतनी दुबली हो जाती है कि निश्वासों के साथ-साथ छः-सात हाथ आगे, छः-सात हाथ पीछे झूलती रहती है, जैसे हिंडोले पर झूल रही हो। विरहताप इतना अधिक है कि जाड़े के दिनों में भी उसकी सखियाँ गीले कपड़े की आड़ देकर उसके पास जाती हैं, उसके गाँवों में लुएँ चलती रहतीं, गुलाब की शीशी उस पर छिड़की जाती है तो गुलाब जल का एक छींटा भी उसके शरीर पर नहीं पड़ता, गुलाब जल बीच में ही भाप बन कर उड़ जाता है, यहाँ तक कि मौत भी उसके पास आने से डरती है कि जल न जाये। साहित्यिक दोष भी मिल जाते हैं— दो-एक दोहों में पतित प्रकर्ष दोष है, अनेक स्थानों पर लिङ्ग वचन की विभिन्नता मिलेगी, चमक और अनुप्रास के फेर में पड़ कर कहीं-कहीं भाव की उच्चता और कथन की स्पष्टता पर ध्यान नहीं रहा है। और भी कुछ दोष है। परन्तु सतसई के अमित गुणों के सामने इन छोटे-बड़े दोषों का आप ही परिहार हो जाता है।

सच तो यह है कि बिहारी की सतसई हिन्दी की अमूल्य निधि है। भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में से उसकी जोड़ की चीज है ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी एक ही

स्थान पर इतने साहित्य-गुणों के साथ प्रेम, विरह और सौन्दर्य-सम्बन्धी इतनी सूक्तियाँ अलभ्य हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बिहारी को सौन्दर्य-निष्ठ रसिक कवि के रूप में देखा जाय और शृंगार-साहित्य के अन्य अनेक वासना भ्रष्ट कुरसिक कवियों की मंडली में उन्हें न मिला दिया जाय। जिस दिन हम शृंगार-साहित्य को सौन्दर्य-शास्त्र और प्रेमशास्त्र के ऊँचे पैमाने से परखने लगेंगे उस दिन बिहारी का स्थान सर्वोच्च होगा।

२६. प्राचीन हिन्दी गद्य

(१) प्राचीन पद्य सम्बन्ध राहुलजी की नवीन खोज (२) गद्य और पद्य—पद्य की पूर्वपरता और अधिक प्रचार का कारण (३) पिंगल गद्य (४) ब्रजभाषा गद्य का जन्म और विकास (५) प्राचीन खड़ी बोली गद्य (६) नवीन खड़ी बोली गद्य का जन्म।

श्री राहुल सांकृत्यायन की खोजों से हिन्दी पद्यसाहित्य का प्रारम्भ आठवीं तथा नवीं शताब्दी में सिद्ध हो चुका है परन्तु हिन्दी गद्यसाहित्य के सर्वमान्य अवतरण चौदहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलते। हमारे गद्य और पद्य के आरम्भ में इस प्रकार लगभग पाँच शताब्दियों का अंतर पड़ जाता है और साहित्य के विद्यार्थी का इस अंतर के कारण को खोज निकालना आवश्यक हो जाता है।

लगभग सभी देशों में गद्य का विकास पद्य के बाद ही हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि पद्य-साहित्य गीतात्मक होने के कारण अब तक सरलता से कंठाग्र किया जा सकता था और वह व्यवहार के साथ आनन्ददायक भी होता था। छापे के आरम्भ से पहले देशी और विदेशी लगभग सभी साहित्यों में गद्य का अंश नहीं के बराबर था। यह नहीं कि गद्य का साहित्य बना ही नहीं परन्तु यदि वह धार्मिक नहीं था तो अपने को

स्थायी रूप देने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार पद्य का प्रचार अधिक होने के कारण उसमें शीघ्र ही पौढ़ता आ गई और उससे ही गद्य का काम निकलने लगा। फिर भी यह नहीं माना जा सकता कि १४वीं शताब्दी के पूर्व गद्य का प्रयोग नहीं होता था। अनेक व्यावहारिक कार्यों के लिए गद्य का प्रयोग आवश्यक रहा होगा परन्तु लौकिक साहित्य होने के कारण आज उसके नमूने उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़े-बहुत मौजूद भी हैं उनकी सत्यता के विषय में सन्देह है।

१४वीं शताब्दी के पूर्व साहित्य की भाषा डिंगल थी। राजपूत दरबारों की भाषा यही थी। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व की डिंगल भाषा के जो नमूने पाये जाते हैं उनके विषय में मतैक्य नहीं है परन्तु १४वीं शताब्दी के बाद गद्य-साहित्य ख्यात और वार्त्ता के रूप में उपलब्ध है। १४वीं शताब्दी के पूर्व के गद्य को हम "नमूने का गद्य" कह सकते हैं। इस समय हिन्दी प्रदेश की व्यापक साहित्यिक भाषा राजस्थानी थी जिसमें अपभ्रंश का काफ़ी पुट था। ब्रजभाषा धीरे-धीरे प्रांतीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी परन्तु उसका कोई साहित्यिक रूप नहीं था। इस काल की रचनाओं के सम्बन्ध में अभी खोज नहीं हुई है। कुछ शिलालेख आदि मिले हैं परन्तु उनकी प्रामाणिकता में सन्देह है। इस समय का अधिकांश राजस्थानी साहित्य पद्य में है परन्तु जैन धर्म-सम्बन्धी कुछ साहित्य गद्य में है। यह प्राचीन राजस्थानी गद्य में है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव है। इस काल के उत्तर में एक तीसरी भाषा खड़ी बोली का प्रयोग भी साहित्य के लिए होने लगा था। डिंगल गद्य के ही नमूने अधिक मिलते हैं जिससे यह कल्पना की जा सकती है कि १००० से १४०० तक पिंगल गद्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई होगी जो आज अप्राप्त या संदिग्ध दशा में प्राप्य है।

१४वीं शताब्दी के बाद हिन्दी गद्य दो माध्यमों द्वारा प्रकाशित हुआ। वे थे ब्रजभाषा और डिंगल। डिंगल गद्य की परम्परा पहले से चली आ रही थी और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश के राजकीय कामों में डिंगल गद्य का प्रयोग होता था। १४वीं शताब्दी तक ब्रजभाषा काव्य-बोली के रूप में विकसित हो चुकी थी और गोरखपंथ या साधु मत के प्रचार के लिए उपयोग हो रहा था। लगभग सन् १३५० ई० के गोरखपंथी ग्रंथ इस बात की पुष्टि करते हैं।

संत संप्रदाय जन-समुदाय में एक नवीन धार्मिक संदेश पहुँचाने के लिए निकला और उसने पश्चिमी जनभाषा का प्रयोग किया परन्तु ब्रजभाषा को सबसे बड़ा प्रोत्साहन १६वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति वैष्णव आन्दोलन से मिला। जहाँ सूरदास ने लोक गीतों का सहारा लेकर साहित्यिक गीतों की सृष्टि की, वहाँ श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने बोलचाल की भाषा लेकर प्रारम्भिक ब्रजभाषा गद्य की सृष्टि की। कृष्ण भक्ति संप्रदाय में संगीत की प्रधानता थी और मंदिरों में गानवादन की प्रथा शीघ्र ही प्रचलित हो गई। आचार्य धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार संस्कृत गद्य में करते थे। इसलिये हिन्दी गद्य को भक्तों की महिमा गाथा के प्रकाशन का साधन बनाया गया। उत्तरकाल में वल्लभ संप्रदाय के भक्तों ने हिन्दी गद्य की इस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। फलस्वरूप हमें दो ग्रंथ मिलते हैं—चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा २५२ वैष्णवों की वार्ता। इन ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य अपने सर्वप्रौढ़ रूप में आता है। हम देखते हैं कि ब्रजभाषा इस काल के प्रारम्भ में एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन का माध्यम बन गई थी, विशेष कर पद्य में। इसने धीरे-धीरे राजस्थानी को पद्य के क्षेत्र से हटा दिया परन्तु राजस्थानी गद्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में चलता रहा। इसका कारण यह है कि गद्य व्यावहारिक

है और धर्म में व्यावहारिकता की अपेक्षा आंतरिक प्रेरणा और उल्लास को अधिक स्थान मिलता है और उसका क्षेत्र पद्य है। भक्तों की व्यावहारिकता केवल प्रचार तक सीमित थी, अतः उन्होंने ब्रजभाषा का जो गद्य लिखा वह थोड़ा लिखा और प्रचार की दृष्टि से लिखा। राजस्थानी गद्य में इस काल में बहुत-सी रचनाएँ हुईं जो अधिकांश ख्यातों और बातों के रूप में हैं। इनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं और जो प्राप्य हैं उन पर खोज नहीं हुई है। ये ख्यातें ऐतिहासिक गाथायें हैं जिनमें राजवंशावली और ऐतिहासिक राजकृतियों के साथ-साथ कल्पनात्मक कथासूत्र भी चलता रहता है। इन ख्यातों की परम्परा कई शताब्दियों तक चली आई है और इनमें हमें राजस्थानी गद्य अपने सबसे प्रौढ़ रूप में मिलता है। राजस्थानी गद्य की सबके महत्वपूर्ण रचनाएँ जैनों द्वारा लिखी गई हैं परन्तु उनके सम्बन्ध में अभी खोज नहीं हुई है। इस काल में पश्चिमी-दक्षिणी भारत में जैन धर्म का प्रचार हो रहा था और ये जैन रचनाएँ प्रचार-कार्य से ही सम्बन्धित हैं।

बोलचाल के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन है। इसका प्रमाण यह है कि चन्द और नरपतिनाल्ह की कविताओं में भी खड़ी बोली के रूप मिलते हैं। पद्य के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग खुसरो और बाद में कबीर की कविताओं में मिलता है। परन्तु गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत बाद में हुआ। उर्दू के विद्वानों की खोज से पता चला है कि दक्षिण में खड़ी बोली गद्य का प्रयोग सूफ़ी औलियाओं द्वारा १३वीं १४वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। हिन्दी खड़ी बोली गद्य का केवल एक नमूना हमारे सामने है। इसे ही हम हिन्दी गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण कह सकते हैं। यह अकबर के दरबार के कवि गंग भाट का "छन्द चन्द बरणन की कथा" है।

१७वीं शताब्दी के बाद वैष्णव धर्मोत्थान पतन को प्राप्त हुआ। उसमें विलासता ने घर कर लिया। प्रचार के लिये प्रयत्न कम हो गया। इस उत्तर भक्तिकाल में साहित्य की सृष्टि न गद्य में इतनी अच्छी हुई, न पद्य में। रीतिकाल का आरम्भ हुआ। इस काल में संस्कृत आचार्यों का काम कवियों ने ले लिया था जिसने गद्य के विकास को हानि पहुँचाई। उस काल के साहित्य से यह स्पष्ट पता चलता है कि जनता और पण्डितों को साहित्य-शास्त्र के ज्ञान के प्रति अभिरुचि थी। ऐसी परिस्थिति में छन्द, गुण, अलंकार आदि को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक ग्रंथ लिखे जा सकते थे परन्तु कवियों ने अपनी रचनाओं में गद्य का काम पद्य से ही लिया। फलस्वरूप वे शास्त्रीय विचारों को स्पष्ट न कर सके और जो गद्य लिखा जा सकता था वह न लिखा गया। हाँ, टीकाओं के रूप में इस काल में गद्य हमारे सामने आया। ये टीकाएँ प्राचीन गद्य के बिगड़े हुए रूप में लिखी गई हैं। एक तो शैली की स्वतन्त्रता के लिए टीका में यों ही अधिक स्थान नहीं है, दूसरे टीकाकार संस्कृत टीकाओं का नमूना हमेशा अपने सामने रखते थे। फल यह होता था कि टीकाओं का गद्य बिलकुल अव्यवस्थित है। उसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। यह गद्य लगभग १९वीं शताब्दी की टीकाओं तक में चलता रहा और उसमें उस प्रौढ़ गद्य के दर्शन नहीं होते जो एक बार वार्ताओं में दिखलाई पड़ा था।

ब्रजभाषा में जो रचनाएँ हुई उन्हें हम कई विभागों में बाँट सकते हैं (अ) टीकाएँ। इनकी मात्राएँ सबसे अधिक हैं परन्तु ये कोई साहित्यिक शैली सामने नहीं रख सकीं। (ब) अनुवाद—अनुवाद अधिकतर संस्कृत से हुए। ये या तो प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद हैं (जैसे दामोदर दास दादू पन्थी का मारकण्डेय पुराण का अनुवाद) या संस्कृत कथाओं के अनुवाद

(नासिकेतोपाख्यान, वैताल पच्चीसी और हितोपदेश)। इन अनुवादों से पता चलता है कि कथा सुनने-सुनाने की प्रवृत्ति का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी में ही हो गया था। फ़ारसी से कुछ ग्रन्थ अनूदित हुए (जैसे आईने-अकबरी की भाषा वचनिका)। इन अनुवादों की भाषा कहीं भी प्रौढ़ नहीं है। अधिकांश लेखक अपने अनुवाद में व्यापक व्रजभाषा के व्याकरण के साथ-साथ प्रान्तीय भाषा के प्रयोगों को मिला देते हैं जिसके कारण भाषा अव्यवस्थित हो जाती है। भाषा-शैली की दृष्टि से कहानी-अनुवादों की भाषा और "भाषा वचनिका" की भाषा महत्त्वपूर्ण है। इन पर हम आगे सुन्दर व्रजभाषा गद्य की नींव डाल सकते थे, परन्तु शीघ्र ही खड़ी बोली गद्य के उत्थान ने व्रजभाषा गद्य को क्षेत्र से बाहर कर दिया।

राजस्थानी गद्य का प्रयोग चलता रहा। पिछले राजस्थानी गद्य से इस गद्य में विशेष अन्तर है। इसका कारण यह है कि इस पर व्रजभाषा का प्रभाव है। इस समय पूर्वी राजस्थानी मिश्रित व्रज की एक शैली ही चल पड़ी थी। राजस्थानी गद्य अधिकतः ख्याति और "वचनिका" (वार्ता) के रूप में है। "वचनिका" वास्तव में एक साहित्य शैली है। सैकड़ों ख्यातें और हज़ारों वार्ताएँ लिखी गईं। साहित्य की दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है।

इस समय खड़ी बोली का गद्य में प्रयोग होना आरम्भ हो गया था। कुछ रचनाएँ राजस्थानी मिश्रित और कुछ व्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली में मिलती हैं। इससे पता चलता है कि खड़ी बोली धीरे-धीरे व्यापक प्रभावों से स्वतन्त्र हो रही थी।

३०. उन्नीसवीं शताब्दी का खड़ी बोली गद्य

(१) आधुनिक खड़ी बोली की सबसे पहली पुस्तक (२) फोर्ट

विलियम कालेज और हिन्दी गद्य (३) हिन्दी गद्य का स्वतंत्र विकास—सदा सुखलाल और इंशाअल्ला खाँ (४) ईसाई धर्म प्रचारकों का गद्य (५) मध्य उन्नीसवीं शताब्दी का गद्य—पाठ्य पुस्तकें, धर्म प्रचार-सम्बन्धी पुस्तकें और जनतोषी कथा-कहानियाँ (६) धर्मान्दोलन और हिन्दी गद्य (७) १९वीं शताब्दी के पिछले १० वर्षों में गद्य साहित्यिकों के हाथ में रहा—भारतेन्दु और उनके साथी (८) शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य की बहुमुखी चेष्टाएँ (९) गद्य शैली का जन्म एवं विकाश।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि आधुनिक खड़ी बोली गद्य की सबसे पहली पुस्तक पं० दौलतराम वैद्य का पद्मपुराण का अनुवाद है। इस पुस्तक के उद्धरण भी प्रकाशित किये गये हैं। इनसे यह कल्पना की जा सकती है कि इस पुस्तक के पहले भी काफी गद्य लिखा जा सका होगा, विशेष कर अनुवादों के रूप में और इस पुस्तक में अपने पूर्व के अनुवादों की शैली का अनुकरण किया गया होगा। यह खोज ईसाई विद्वानों के इस मत का खंडन करती है कि खड़ी बोली गद्य का पहला प्रयोग फोर्ट विलियम के अधिकारियों द्वारा हुआ। १८०० के लगभग हिन्दी के गद्य के जो प्रयोग हो रहे थे, उनमें वर्ग विशेष की बोलचाल का पुट रहता था। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने उर्दू गद्य को प्रश्रय दिया। हिन्दी गद्य केवल मुहावरा सिखाने के लिए लल्लूलाल की प्रेम-सागर के रूप में स्वीकृत किया गया।

वस्तुतः हिन्दी गद्य का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। फोर्ट विलियम कालेज से पहले मुं० सदासुखलाल नियाज और इंशा अल्लाखाँ अपनी रचनाएँ उपस्थित कर चुके थे। पहले की रचना धार्मिक थी, दूसरी साधारण जन-समाज के लिए कहानी के रूप में थी। दोनों रचनाएँ अपने समय की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती

हैं। मध्यवर्गीय जनता जहाँ एक ओर अभी तक धर्मप्राण थी वहाँ उसमें दूसरी ओर लौकिक दृष्टिकोण भी पैदा हो रहा था। मुसलमानी राज्य के पतनकाल में मनोविनोद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और लोग दूषित और हलके कुतूहल में आनन्द लिया करते थे।

इन स्वतन्त्र लेखकों के बाद हम पहिली बार हिन्दी गद्य का सुसंगठित प्रयोग देखते हैं। यह दो रूपों में हमारे सामने आता है—एक तो अधिकारियों द्वारा फोर्ट विलियम के माध्यम से और दूसरे ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा। फोर्ट विलियम के अधिकारी शासन से सम्बन्धित थे। उनका उद्देश्य "Civilians" को ऐसी भाषा का अध्ययन कराना था जिसका प्रयोग उत्तरी भारत के राजकीय काम में सम्पर्क में आनेवाले मध्यवर्गीय जनता में कर सकें।

इस समय तक जनता फारसी और उर्दू हिन्दी की अपेक्षा अधिक समझ रही थी इसलिए अधिकारियों का ध्यान पहले उर्दू की ओर गया। यह अवश्य है कि उन्होंने "भाषा" के प्रयोग की आवश्यकता समझी क्योंकि जनता का जो वर्ग मुसलमानों के सम्पर्क में नहीं आया था। उससे उर्दू द्वारा काम निकालना असम्भव था। अधिकारियों के सामने खड़ी बोली गद्य अधिक प्रयोग में नहीं आता था. अतः जब उन्होंने "भाषा" में रचनाएँ कीं तो वे समझे कि एक नई भाषा की नींव डाल रहे हैं। जॉनगिलक्रिस्ट ने अपनी भूमिकाओं में इस बात का उल्लेख किया है और इन्हीं के आधार पर उर्दू लेखक कहते हैं कि हिन्दी गद्य उर्दू गद्य से फ़ारसी शब्दावली हटा कर और उस पर संस्कृत का आरोपण करके बनाया गया है। सच बात यह है कि इस भ्रांति के लिए स्थान है क्योंकि फोर्ट विलियम के हिन्दी लेखकों के आगे अधिक प्रौढ़ उर्दू का नमूना था। फोर्ट विलियम में जहाँ उर्दू के

१०-१२ लेखकों के नाम मिलते हैं, जहाँ हिन्दी के केवल दो पाये जाते हैं। ये लेखक लल्लूलाल और सदल मिश्र हैं। कुछ दिनों बाद शासकों ने राजकीय कार्य का माध्यम अँग्रेजी बना दिया और बंगालियों को एतदर्थ दीक्षित किया। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने देखा कि उनकी आवश्यकता नहीं रही, अतः कालेज बन्द कर दिया गया।

फोर्ट विलियम के गद्य के साथ ईसाई पादरियों का गद्य चलता रहा। हिन्दी गद्य के इतिहास के लिए ईसाइयों का गद्य महत्त्वपूर्ण है जहाँ अधिकारियों का सम्पर्क मध्यवर्गीय जनता से था, वहाँ इनका सम्पर्क निम्न वर्ग से था। इसलिए इन्हें वह भ्रांति नहीं हुई जो फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों को हुई। मध्यवर्ग का पेशा नौकरी था और वह उर्दू भाषा और साहित्य से परिचित था। निम्न वर्ग वाणिज्य, व्यवसाय और कृषि करता था। यह स्थानीय भाषाओं को व्यवहार में लाता था परन्तु इस समय पश्चिम के बड़ी-बड़ी इस्लामी मंडियाँ और नगर उजड़ चुके थे और व्यवसायी पूर्वी प्रदेशों में फल गये थे। अतः ये अपने साथ अपनी पश्चिमीय खड़ी बोली भी लाये थे। वही बोली धीरे-धीरे वाणिज्य-व्यवसाय में जन-साधारण की व्यापक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी। ईसाइयों ने देखा कि अधिकांश जनता हिन्दू है और उन्होंने इसी व्यापक भाषा को प्रचार का माध्यम बनाया। १८०६ ई० में जो बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित हुए वे ठेठ बोलचाल की भाषा में थे। बाद की भाषा पर लल्लूलाल के प्रेमसागर की भाषा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है परन्तु ये आरम्भ के अनुवाद उस समय की ठेठ व्यापक हिन्दी का रूप हमारे सामने रखते हैं।

फोर्ट विलियम कालेज और ईसाई पादरियों के बाद हिन्दी गद्य साहित्य तीन प्रकार से निर्मित हुआ (१) पाठ्य-पुस्तकों

द्वारा, (२) धर्म प्रचार द्वारा, (३) जन-साधारण की अभिरुचि को संतुष्ट करनेवाली कथा-कहानियों द्वारा । सबसे पहली पाठ्य-पुस्तकें श्रीरामपुर के पादरियों ने अपने स्कूल के लिए बनाईं। फोर्ट विलियम कालेज की पाठ्य-पुस्तकें इनसे पहले सामने आ गई थीं परन्तु वे साहित्यिक पुस्तकें थीं। पादरियों की आगरेवाली शाखा ने भिन्न-भिन्न विषयों पर भी पाठ्य-पुस्तकें लिखाईं। इसी समय युक्त-प्रांतीय सरकार ने अपने प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी का चलन किया और स्वतन्त्र रूप से पाठ्य-पुस्तकें लिखी जाने लगीं। प्रांत भर में पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के कई केन्द्र हो गये और धन के लोभ से अनेक अच्छे लेखकों की शक्तियाँ इधर लगीं। इन पाठ्य पुस्तकों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हिन्दी गद्य प्रचार में सहायता दी और पहली बार विषय की विभिन्नता की ओर ध्यान आकर्षित किया।

परन्तु सबसे अधिक हिन्दी गद्य का प्रयोग और विकास धर्म-प्रचार द्वारा हुआ। ईसाइयों का धर्म प्रचार हिन्दी माध्यम द्वारा हो रहा था। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप तीन शक्तियाँ क्षेत्र में आईं। वे थीं ब्रह्म समाज, आर्य समाज और सनातन हिन्दू धर्म। सबसे पहले ब्रह्म समाज का अभ्युदय हुआ। यह एक सुधार आन्दोलन था जो वैदिक ईश्वरवाद और औपनिषिदिक सत्य को महत्त्व देता था। सं० १८१६ ई० में राजा राममोहनराय ने वेदान्त सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया। प्रचार सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखीं। इन्होंने ही सन् १८२६ ई० में बंगदूत नाम का हिन्दी समाचार-पत्र निकाला और इस तरह हिन्दी गद्य प्रचार में एक नई शक्ति का आर्विभाव किया। लगभग आधी शताब्दी तक ब्रह्म-समाज ने हिन्दी गद्य को सहायता दी। पंजाब के नवीनचन्द्र ने अनेक पाठ्य-पुस्तकें और धर्म पुस्तकें लिखकर उर्दू के गढ़ में हिन्दी का प्रवेश कराया।

ब्रह्म समाज आन्दोलन मुख्यतः पूर्वी भारत का आन्दोलन था। यह आन्दोलन पहले उठा इसलिए कि ईसाइयों का प्रहार पूर्व प्रदेश पर ही पहले हुआ। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों के विरुद्ध पहली प्रतिक्रिया मुसलमानों में हुई और तबलीग़ के आंदोलन का जन्म हुआ। इसके कुछ समय बाद ही स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज को दो मोरचों पर लड़ना पड़ा। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी जितनी प्रतिक्रियावादी तबलीग़ी मुसलमानों की। आर्यसमाज ने मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा प्रचार रोकने के लिए शुद्धि और संगठन के आंदोलनों को जन्म दिया। यह ध्यान देने की बात है कि आर्यसमाज आक्रमणकारी संस्था नहीं थी। ब्रह्म समाज की तरह उसका उद्देश्य भी हिन्दू जातीयता का पुनरुत्थान था आर्यसमाज का आधार एक मात्र वेद था और उसने प्रगतिशील हिन्दी समाज को जन्म दिया। स्वामी दयानन्द और उनके शिष्यों ने हिन्दी को अपना माध्यम बनाया। ब्रह्म समाज की तरह आर्यसमाज भी मध्यवर्गीय आंदोलन था और उसके मतावलम्बी विद्वान बहुधा अरबी और फारसी के अच्छे ज्ञाता होते थे। उनके द्वारा हिन्दी की पुष्टि बहुत शीघ्रता से हुई और शैली में पहली बार खण्डन-मण्डन के द्वारा बल आया।

रूढ़िवादी हिन्दू समाज ने आर्यसमाज आन्दोलन को सन्देह की दृष्टि से देखा और उसके विरुद्ध प्रचार की चेष्टा की। इस प्रकार की प्रतिक्रिया ने अनेक सनातनी कथावाचकों और व्याख्याताओं को जन्म दिया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पंजाब के श्रद्धाराम फुल्लौरी हैं। ये सनातनी नेता जहाँ एक ओर आर्यसमाज की प्रगतिशीलता का विरोध करते थे वहाँ दूसरी ओर इन्हें ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमण आत्म-रक्षा के लिए

तत्पर होना पड़ता था। उस समय का सनातनी साहित्य एक नये दृष्टिकोण को हमारे सामने रखता है।

इन धार्मिक धाराओं के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार बढ़ा और गद्य शैली में प्रौढ़ता आ गई। समय कुछ ऐसा था कि साहित्यिक प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में नहीं हुए। भारतेन्दु के पहले पाठ्य-पुस्तकों को छोड़ कर बहुत कम साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। केवल दो साहित्यिक शैलीकार राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हमारे सामने आते हैं। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिन्दी गद्य ने बहुत कुछ स्थिरता और एकरूपता प्राप्त कर ली थी। साहित्यक्षेत्र में कई शैलियाँ प्रसिद्ध हो चली थीं। जहाँ एक ओर राजा शिवप्रसाद उर्दू-प्रधान भाषा का प्रयोग करते थे वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह और हिन्दू जातीयता के पुनरुत्थान के समर्थक आर्यसमाज और ब्रह्मसमाजी संस्कृत-प्रधान हिन्दी को श्रेय देते थे। पाठ्य पुस्तकों के कारण विषय की अनेकरूपता भी सामने आई थी। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में अनेक शक्तियाँ काम कर रही थीं परन्तु उन्हें एक केन्द्र पर लानेवाला कोई नहीं था। इसी समय भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की एक निश्चित शैली स्थिर की। यह शैली संस्कृत शब्दों के साथ बोलचाल के फ़ारसी शब्दों को भी पचा लेती थी। भारतेन्दु की प्रधान रचनाएँ इसी शैली में हैं। इनमें रस की दृष्टि से शैली का प्रयोग प्रथम बार हुआ है।

भारतेन्दु के बाद कोई एक प्रधान शक्ति गद्य क्षेत्र में नहीं रही। यह अवश्य था कि उनकी शैली का अनुकरण अनेक लेखकों ने सफलता से किया परन्तु कुछ नेतृत्व के न होने और कुछ नवीन विकसित दृष्टिकोणों के कारण भारतेन्दुकाल के लेखकों में वैयक्तिकता की मात्रा बहुत अधिक रही। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि साहित्य-क्षेत्र में अनेक शैलियों का जन्म हुआ परन्तु एक

हानि यह हुई कि एक व्यापक शैली कुछ दिनों के लिए नष्ट हो गई। इस समय की शैली की एकरूपता का कारण पत्रों का विकास भी था। अधिकांश साहित्य सेवी अपना एक पत्र क्षेत्र में लाये। जो नहीं लाये वे भी पत्रों में लिखने लगे। इससे साहित्यिक विद्वेष और खंडन-मंडन को स्थान मिला। एक तरह से हिन्दी के विकास के लिए यह आवश्यक भी था। १९वीं शताब्दी के अन्त तक पत्र-पत्रिकाओं का यह अनिश्चित क्रम जारी रहा। साहित्य में नेतृत्व करनेवाला कोई न था। बँगला के अनुवाद आरम्भ हो गए थे। साहित्य की शैली पर इनकी भाषा का प्रभाव पड़ने लगा था और व्याकरण आदि के प्रयोग में अनिश्चितता आती जाती थी। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो गया था और लेखक अंग्रेजियत की छाप हिन्दी पर लगाने लगे थे। शैली की दृष्टि से आधुनिक काल का पूर्वार्द्ध कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं दिखाई पड़ता। यह अवश्य है कि पत्रकारों द्वारा हमें शैली के अनेक साहित्यिक प्रयोग मिलते हैं। अनेकरूपता और व्यंगपरिहास की दृष्टि से हिन्दी गद्य कभी इतना प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ जितना वह आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध में था।

हिन्दी साहित्य में गद्य का महत्त्व १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ हुआ परन्तु हमारे यहाँ पद्य का महत्त्व अधिक माना जाता था और इसलिये गद्य को अपना स्थान बनाने में लगभग आधी शताब्दी का समय लगा। गद्य के विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि सामायिक जीवन में काव्य का स्थान रह ही नहीं गया था। विज्ञान ने शंकालु हृदय उत्पन्न कर दिये थे और धार्मिकता का स्थान लौकिकता ने ले लिया था। आर्थिक समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई थी और इसने साहित्यिकों के दृष्टिकोण में एकदम परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इसके अतिरिक्त पश्चिम से जो विषय हमें प्राप्त हुए और जीवन को

देखने का जो दृष्टिकोण मिला, उनके लिए गद्य का आश्रय लेकर चलना आवश्यक था। इसीसे आधुनिक काल में हम लौकिक साहित्य की सृष्टि देखते हैं। यह सब साहित्य गद्य में है और अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ है। हमारा साहित्य कभी भी इतने विभिन्न रूपों और माध्यमों में प्रकाशित नहीं हुआ था। प्रयोग की इस बहुलता के कारण शैलियों के अनेक भेद हो गए।

साहित्य के विभिन्न अंग अपनी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न शैलियाँ चाहते हैं। नाटक और उपन्यास की शैली समान नहीं होती। इसी प्रकार उपन्यास और कहानी के आकार-प्रकार के अन्तर से भाषा शैली में भी भेद हो जाता है। किसी एक नाटक या उपन्यास में भी रसात्मकता और पात्रों की व्यक्तित्व की विभिन्नता के कारण लेखक को अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग करना पड़ता है। रस, पात्र, विवेचना और कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शैलियों के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए।

संक्षेप में, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में मोटे रूप से साहित्य में अभिव्यक्ति के दो ढंग थे। एक में साहित्यिकता की मात्रा अधिक थी और उसका प्रयोग मुख्यतः पाठ्य पुस्तकों और साहित्यिक लेखों में होता था। दूसरा ढंग पत्रकारों ने ग्रहण किया और धीरे-धीरे एक हिन्दी उर्दू-मिश्रित शैली विकसित की। इसमें उपयोगिता पर अधिक ध्यान रखा गया, साहित्यिकता पर बहुत कम। बाद में अनेक साहित्यिक आन्दोलनों के फलस्वरूप साहित्यिक और पत्रकार पास-पास आ गये और उनकी शैलियों में भी अधिक एकरूपता होती गई। इस एकरूपता का एक कारण यह भी था कि अधिकांश लेखकों को अपने साहित्य को पत्रों द्वारा साधारण जनता के लिए प्रकाशित करना पड़ता था। साधारण जनता भी धीरे-धीरे साहित्यिकता की माँग करने लगी थी।

३१. भारतेन्दु हरिश्चंद्र

(१) भारतेन्दु का भाषा परिमार्जन सम्बन्धी कार्य (२) हिन्दी-उर्दू का संघर्ष और भारतेन्दु (३) भारतेन्दु के परिष्कृत गद्य का रूप (४) पद्य के क्षेत्र में भाषा-संस्कार (५) भारतेन्दु द्वारा हिन्दी साहित्य के अंतरंग में क्रान्ति की आयोजना हुई (६) भारतेन्दु काव्य में नवीन विषय—देशभक्ति, समाज-सुधार (७) प्रकृति के प्रति भारतेन्दु का दृष्टिकोण।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी प्रदेश के नवीन जागरण और आधुनिक हिन्दी साहित्य के पिता हैं। गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में उनकी सेवायें अमूल्य हैं।

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन। इनमें गद्य की भाषा का परिमार्जन विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारतेंदु से पहले हिन्दी गद्य का नवीन खड़ी बोली रूप जनता के सामने आ अवश्य गया था परन्तु उसका कोई भी रूप स्थिर नहीं हुआ था। १९वीं शताब्दी के आरम्भ होते हुए ही मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की खड़ी बोली गद्य की रचनाएँ हमारे सामने आती हैं, परन्तु उनमें आपस में तो वैभिन्नता है ही, उनमें से किसी की कोई परम्परा ही नहीं बनी। लल्लूलाल की भाषा में ईसाई पादरियों ने थोड़ा-बहुत गद्य अवश्य लिखा, परन्तु साहित्य और प्रचार की दृष्टि से उसका भी कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इंशाअल्लाखाँ का गद्य "बाज़ीगरी" की दृष्टि से लिखा गया था। लेखक का दावा था—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से

खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो। "हिन्दवीपन" भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वहीं डौल रहे और छाँह किसी की न दे……।"

स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा व्यवहार की भाषा नहीं हो सकती थी। लल्लूलाल की भाषा के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें पण्डिताऊपन, कथावाचकपन और ब्रज-भाषापन की ऐसी खिचड़ी थी जिसने उसे एकदम अव्यावहारिक बना दिया था। सदासुखलाल और सदल मिश्र ने अवश्य व्यवहार-योग्य चलती भाषा का नमूना तैयार किया था परन्तु पण्डिताऊपन और प्रान्तीय भाषा के सम्मिश्रण से वे भी बच नहीं सके थे। सुखसागर की खड़ी बोली उस ढंग की है जिस ढंग की संस्कृत के पण्डित काशी, प्रयाग आदि पूरब के नगरों में बोलते हैं यद्यपि मुंशी जी खास दिल्ली के रहनेवाले थे और उर्दू के अच्छे कवि और लेखक थे, पर हिन्दी गद्य के लिए उन्होंने पण्डितों की ही बोली ग्रहण की। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाये", "उसे दुःख होयगा", "बहकानेवाले बहुत हैं", इस प्रकार के प्रयोग उन्होंने बहुत किये हैं। रहे सदल मिश्र, उनकी भाषा में पूरबीपन बहुत अधिक है। "जो" के स्थान पर "जौन", "माँ" के स्थान पर "महतारी", "यहाँ" के स्थान पर "इहाँ", "देखूँगी" के स्थान पर "देखोंगी" ऐसे शब्द बराबर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा या काव्य भाषा के ऐसे-ऐसे प्रयोग जैसे "फूलन के" "चहु दिशि", "सुनि" भी लगे रह गये हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इनमें से किसी की परंपरा नहीं चली। आधी शताब्दी बीतने के बाद राजा शिवप्रसाद और लक्ष्मणसिंह ने स्वतन्त्र रूप से दो नई शैलियों का अनु-

संधान किया। राजा शिवप्रसाद की भाषा में पहले "हिन्दीपन" ही अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे उसमें अरबी फ़ारसी शब्दों की मात्रा बढ़ती गई। राजा लक्ष्मणसिंह का लक्ष्य था ठेठ और विशुद्ध हिन्दी जिसमें संस्कृत की प्रधानता हो। संस्कृत महाकाव्य "रघुवंश" के अनुवाद के प्राक्कथन में उन्होंने कहा था—"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।"

फलत: दोनों गद्यकार अपनी-अपनी हठ पर अड़े रहे और जहाँ राजा शिवप्रसाद की भाषा और उर्दू में लिपि के सिवा और कोई भेद नहीं रह गया वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इतनी संस्कृत गर्भित हो गई कि वह एक दम अव्यावहारिक थी। यह परिस्थिति संवत् १९३० (१८७३ ई०) तक रही जब बाबू हरिश्चन्द्र ने "हरिश्चंद्र मैगज़ीन" के साथ व्यावहारिक हिंदी की नींव डाली और लेखक निर्माण के द्वारा उसकी परंपरा स्थापित की। इससे पहले भारतेंदु कई नाटक लिख चुके थे, परन्तु तब तक भाषा [illegible] किसी निश्चित सिद्धांत पर वे नहीं पहुँचे थे।

भारतेंदु ने प्रांतीय शब्दों और प्रयोग को एकदम तिलांजलि दे दी। पण्डिताऊपन को भी उन्होंने दूर रखा। उन्होंने संस्कृत और अरबी-फारसी के झमेले से बीच का मार्ग पकड़ा। उन्होंने इतने संस्कृत शब्द और फारसी-अरबी के शब्द आने दिये जिनसे भाषा में हिंदीपन बना रहता और वह इन भाषाओं

से अनभिज्ञ पाठकों को दुरूह न हो जाती। यह सचमुच कठिन काम था जिसमें सफलता का अर्थ था ऐसी भाषा का जन्म जिसकी उर्दू से स्वतंत्र अपनी सत्ता हो। ऐसी भाषा गढ़ने का श्रेय भारतेंदु को ही मिला। उनके समकालीन लेखकों ने भाषा-संस्कार-संबंधी उनके महत्व को स्वीकार कर उस हिंदी पर, जिसका उन्होंने समाचार-पत्रों और पुस्तकों की गद्य में प्रयोग किया, उनकी छाप देकर उसे "हरिश्चंद्री हिंदी" कहा। आज की खड़ी बोली इसी हरिश्चंद्री हिंदी का विकसित रूप है।

भारतेंदु ही पहली बार वाक्यों के रखने के ढंग में सफाई लाये। उनके पहले के लेखक सारे वाक्य एक में ही गूँथते चलते थे, यह नहीं देखते थे कि वे गुँथ भी सकते हैं या नहीं। उन्होंने संयोजक अव्ययों और विरामों का प्रयोग राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद से भी अच्छा किया।

यही नहीं, पद्य के क्षेत्र में उन्होंने भाषा संस्कार की चेष्टा की और वे सफल हुए। भारतेंदु को पद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली मान्य नहीं थी। वे ब्रजभाषा के भक्त थे। उस समय काव्य की भाषा में कई दोष आ गये थे। १—काव्यभाषा व्यवहार की ब्रजभाषा से दूर जा पड़ी है, २—उसमें चक्कवै, ठायो, करसाइल, ईठ, दीह, ऊनो, लोय जैसे रूढ़, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग होता था जिससे वह सब-साधारण के लिए दुरूह हो गई थी, ३—सूरदास के समय से ही काव्य में प्रयुक्त भाषा को "तोड़ना-मरोड़ना" चला आता था। बिहारी, धनानन्द आदि कुछ ब्रज कवियों को छोड़ कर शेष ने शब्दों का तोड़-तोड़ कर उनका रूप ऐसा विकृत कर दिया कि उन शब्दों के मूल-स्वरूप तक पहुँचना ही असम्भव था। भारतेंदु ने इन तीनों दोषों को अपनी काव्य-भाषा से दूर कर दिया। इसी कारण उनके

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावैं
मेरो उराहनो है कछु नाहि सबै फल आपने भाग को पावैं
जो हरिचंद्र भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासो सुनावैं
प्यारे जू! है जग की यह रीति, बिदा के समय सब कंठ लगावैं

जैसे चलती भाषा में लिखे छंद जनता की जिह्वा पर नाचने लगे। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की ब्रज भाषा कविता पर हरिश्चंद्र की भाषा, कविता शैली और प्रकाशन भंगिमा का बहुत प्रभाव है।

परन्तु वाह्यांग ही नहीं, उन्होंने हिंदी साहित्य के अंतरंग में भी क्रांति कर दी। वह संक्रांतियुग में उत्पन्न हुए थे और अनेक प्रकार की प्राचीन परंपराओं और रूढ़ियों से बँधे हुए थे। उनके शृंगारी और भक्तिपूर्ण कविताओं में रीति साहित्य और हिंदी-साहित्य की परंपरा ही मिलेगी, परंतु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु ने ही हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर उन्मुख किया। काव्य साहित्य में देशभक्ति रंजित और समाज सुधार गर्भित रचनाओं को प्रमुख स्थान देना इस बात को बतलाता है कि वह सामयिकता को पकड़ कर चले थे और उनका हृदय युग के साथ-साथ स्पंदन कर रहा है। उनके समय में युग बदल गया। देश में नई-नई भावनाओं का संचार हो गया था, परंतु काव्य और साहित्य प्राचीन पगदंडी पर ही चल रहे थे। उन्मुक्त वातावरण से उनका परिचय ही नहीं हुआ था। इसीलिए शिक्षित जनता साहित्य से दूर रहती थी। हरिश्चंद्र ने इस परिस्थित को देखा-समझा और साहित्य में अत्यंत साहस से उन समस्त नवीन विषयों का समावेश किया जो शिक्षित समाज को प्रिय हो चले थे। उनका अपना दृष्टिकोण भी अत्यंत विकसित और सुधारवादी था। स्त्री शिक्षा के संबंध में उन्होंने कहा—

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग
वीर प्रसविनी बुध वधू होइ दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिनि होय

साम्प्रदायिक विद्रोह और सामयिक कुरीतियों पर भी उनकी दृष्टि पड़ी और उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाये
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाये
जाति अनेकन करी ऊँच अरु नीच बनायो
खानपान सम्बंध सबनि सों बीजि छुड़ायो
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो

इस दुरवस्था से आर्त्त होकर उन्होंने आर्य मग, आर्य संस्कृति के लिए व्याकुल होकर परमात्मा से प्रार्थना की—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर
चद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये कितै गिर
कहाँ राज का तौन साज जेहि जानत है चिर
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयौ धूरहिं धूर दिखात जग
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपुनो आर्यमग

इस प्रकार यह सिद्ध है कि उन्होंने कविता को एक नये मार्ग पर खड़ा कर दिया। नील देवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों में लिखी कविताएँ, "विजय वैजयंती" आदि, उन्हें सचमुच क्रांतदृष्टा कवि सिद्ध करती है। उन्होंने मर्म पर चोट करके भारत को ललकारा था—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होय एहि नासा ।
अब तजहु बीरबर भारत की सब आसा ॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै ।
मंगलमय भारतभुव मसान ह्वै जैहै ॥

उन्होंने ही पहली बार "हाय भारत" कह कर पुकारा—

हाय वहै भारत भुव भारी । सबही विधिसों भई दुखारी ॥
हाय पंचनद, हा पानीपत । अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ॥
हाय चितौर, निलज तू भारी । अजहुँ खरी भारतहिं मँझारी ।
तुममें जल बहि गंगा जमुना । बढ़हु बेगि किन उबल तरंगा ॥
बोरहु किन झटि मथुरा कासी । धोवहु यह कलंक की रासी ॥

यह अवश्य है कि उन्होंने प्रकृति को किसी नये रूप में नहीं देखा, वस्तु वर्णन और उद्दीपन के प्रचलित रूप में भी उन्होंने प्रकृति का बहुत कम वर्णन किया, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने समाज के नये बदलते हुए रूप को देखा और अपने युग को पहचाना । आज हिंदी कविता उन्हीं के दिखलाये हुये पथ पर बढ़ रही है ।

३२. भारतेन्दु की भाषा-शैली

(१) भारतेन्दु पूर्वकाल की भाषाशैली (२) भारतेन्दु की सामञ्जस्य उपस्थित करने की चेष्टा (३) भारतेन्दु की दो प्रिय शैलियाँ (४) भारतेन्दु की शैली उनके समसामयिकों के हाथ में (५) भारतेन्दु के नाटकों की शैलियाँ और परवर्ती नाटक साहित्य पर उनका प्रभाव ।

भारतेन्दु पूर्व काल में भाषाशैली के विषय में लोगों का दृष्टिकोण निश्चित नहीं था । प्रान्तीयता की प्रधानता थी। जो लेखक जिस प्रांत का होता, वह उसकी बोली से अपने गद्य

को भर देता था। इस प्रकार भाषाशैली का निश्चित रूप कोई नहीं बन पड़ता था। लेखकों की भाषाशैलियों में बड़ा भेद रहता। इंशा, लल्लूलाल जी और सदल मित्र की भाषा शैलियों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इंशा की भाषा पर लखनऊ की बोली का प्रभाव है तो लल्लू जी की भाषा पर ब्रज की बोली का। इंशा लखनऊ में रहते थे, लल्लूलाल जी आगरे में। एक दूसरी बात यह थी कि इससे पहले गद्य का प्रयोग टीकाओं के लिए और पण्डितों द्वारा मौखिक रूप से कथा के लिए चल पड़ा था। टीकाओं की भाषा पण्डिताऊ और शैली संस्कृत अन्वय के ढंग की थी। कथा-पाठ की शैली तो आज के पण्डित-वर्ग में चल रही है और हम उसके रूप से भली भाँति परिचित हैं। इस पंडिताऊ शैली की ओर भी पण्डितों को बार-बार झुकना पड़ता था। सदल मिश्र की भाषा के पण्डिताऊपन को दृष्टि की ओर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय हिंदी गद्य प्रांतीयता के मोह और संस्कृत भाषाशैली के ढंग के भाषा संस्कार (पण्डिताऊपन) के बीच में से गुज़र रहा था। इन दो महत्त्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि उस समय तक पद्य की प्रधानता होने के कारण लेखक गद्य लिखते समय पद्य की ओर झुक जाते थे। संस्कृत-काव्य से परिचित लोगों को अलंकार प्रयोग, अनुप्रास, शब्दालंकारों के चमत्कार और समास के प्रति भी मोह था। कादम्बरी की भाषा उन्हें अपनी ओर खींचती थी। उर्दू गद्य में भी इस समय मुसज्जा और मुक़फ़्फ़ा गद्य की प्रधानता थी। इसको देख कर हिन्दी में भी अन्त्यानुप्रास का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। वैसे थोड़ी-बहुत तुकबंदी (वाक्यखंडों अथवा वाक्यों के अंत में तुक का प्रयोग) पण्डित गद्य में चली आती थी। यह दोष राजा शिवप्रसाद ने दूर करना चाहा

परंतु वे असफल रहे। इसका कारण यह था कि सरकारी क्षेत्र में उनका प्रभाव चाहे जितना हो गद्य लेखकों में उनका प्रभाव अधिक नहीं था। फल यह हुआ कि इन दोषों और शैलियों के साथ ही उनकी भी एक शैली प्रतिष्ठित हो गई। इस उनकी शैली के भी अपने दोष थे—अधिक संख्या में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग और वाक्यों की रचना उर्दू के ढंग पर। राजा साहब की इस शैली का विरोध भी खूब हुआ जिसने एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदी लेखकों का एक वर्ग संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत ढंग पर वाक्य-रचना की ओर मुड़ा। यह प्रतिक्रिया थी। इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ वह तत्समगर्भित, साधारण बोल-चाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं। बोल-चाल के शब्द ग्रामीण समझ कर दूर रखे जाते। इस भाषा-शैली के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे।

संक्षेप में, भाषा और शैली के सम्बन्ध में यही परिस्थिति थी। रस पुष्टि के रूप में भाषा का प्रयोग बहुत ही कम हुआ था, वैज्ञानिक विषयों की ओर प्रवृत्ति और टेक्स्टबुक सुसाइटी आदि के अनुवादों के कारण सरल सुबोध भाषा-शैली ने जन्म अवश्य ले लिया था परन्तु उसका प्रयोग स्कूल कालेजों से बाहर नहीं हुआ था। बाहर के क्षेत्र में प्रान्तीयता, पण्डिताऊपन, उर्दू-फारसी और संस्कृत शब्दावली मंडित भाषा और शैली का प्राधान्य था। प्रतिदिन के व्यवहार के शब्द और मुहावरे उपेक्षित थे।

भारतेन्दु ने सामञ्जस्य उपस्थित करने की चेष्टा की। उन्होंने बोल-चाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया। इसीलिए उन्होंने ऐसी भाषाशैली की सृष्टि की जिसमें तत्सम शब्दों का अभाव था। जो तत्सम शब्द आते थे, वे चाहे फारसी के हों, अरबी के

हों या संस्कृत के, अपने विकृत रूप में तद्भव बन कर आते। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया जो प्रतिदिन के व्यवहार में आकर हिन्दी-शब्द-कोष में सम्मिलित हो गये थे। शब्द-कोष-सम्बन्धी एक अत्यन्त संयत दृष्टिकोण को उन्होंने अपने सामने रखा।

भारतेन्दु ने जिसके सम्बन्ध में कहा है—"हिन्दी नई चाल से ढली सन् १८७३ ई०" वह भाषा-शैली उनकी शुद्ध हिन्दी ही है। १८८४ ई० में भारतेन्दु ने "हिन्दी भाषा" शीर्षक एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्होंने अपने समय की भाषा-शैलियों पर विचार किया है और अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया: (१) जो शुद्ध हिन्दी है—उन्होंने अधिकांश गद्य, विशेष कर अपने नाटकों का गद्य, इसी शैली में लिखा। साधारण और सरल विषयों पर लेख लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया। परन्तु यह शैली उन्हें सर्वत्र मान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना-सम्बन्धी विचारपूर्ण और गम्भीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसरों पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिए चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिए। उनकी दूसरी शैली नं० २ वह है जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।

परन्तु जब कोई लेखक तत्सम शब्दों का प्रयोग करना आरम्भ कर देता है तो वह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उसे कहाँ जाकर रुकना है। यही बात भारतेन्दु के सम्बन्ध में भी लागू रही। उनके कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत शब्द बहुत अधिक मिलते हैं। भारतेन्दु न राजा शिवप्रसाद की फारसी-अरबीप्रधान भाषा चाहते थे, न राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतप्रधान भाषा ही उन्हें प्रिय थी। उन्होंने सामञ्जस्य से आरम्भ किया परन्तु शीघ्र ही गद्य उनके हाथ से निकल कर अन्य लेखकों के हाथ में गया।

लाला श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी "प्रेमधन" ने प्रचुर गद्य साहित्य उपस्थित किया और उपन्यास, नाटक और निबन्ध साहित्य की रचना की। विषयों और रुचियों की विभिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। यह सब भारतेन्दु मंडली के लेखक कहे जाते हैं परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इन सबका गद्य अनेक रूपों में स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए, श्री निवासदास के गद्य में उर्दू शब्दावली नहीं के बराबर है और संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है परन्तु प्रतापनारायण मिश्र के लेखों में संस्कृत और फारसी दोनों प्रकार की शब्दावली का समप्रयोग पाते हैं। उन्होंने शैली को सरस और सजीव बनाने की बड़ी चेष्टा की। इससे वे उर्दू शब्दावली को त्याग नहीं सकते थे। भट्ट जी बोलचाल के अधिक निकट रहते थे। चौधरी जी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी है। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कला के अनुसार भाषा को गढ़ना और उनके अपने शब्दों में अपनी शैली को "सुडौल और सुन्दर" बनाना प्रारम्भ किया। अनुप्रास चमत्कार और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उनकी भाषा-शैली को उनके समकालीन लेखकों की भाषा-शैली के समक्ष विचित्र-सा बना देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के नई शैली चलाने (१८६३) के कुछ वर्ष बाद शैली उनके हाथ से निकल कर संस्कृत पण्डितों तक पहुँच गई थी। भाषा की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई थी। वह अत्यन्त शीघ्रता से प्रौढ़ हुई। भारतेन्दु के अंतिमकाल के लेखों से स्पष्ट है कि उनके समकालीन लेखकों की संस्कृतगर्भित भाषा का प्रभाव उन पर भी पड़ा और उन्होंने अधिक-अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने गद्य शैली की स्वाभाविक प्रवृत्ति को समझ लिया था। उनके "नाट्य रचना" शीर्षक लेख में

इसी प्रकार की संस्कृत प्रधान शैली का प्रयोग हुआ है। कदाचित् इसका एक और भी कारण था। उनका विषय अत्यन्त गम्भीर था। उसमें संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आवश्यक था और ऐसी दशा में उनकी शैली न शुद्ध हिन्दी हो सकती थी, न ऐसी हिन्दी जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग कम हो। इस लेख से स्पष्ट है कि यदि भारतेन्दु जी अधिक जीवित रहते तो उनकी गम्भीर और प्रौढ़ साहित्यिक रचनाएँ इसी शैली में होतीं। भाषा को सरल करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी, ऐसी प्रवृत्ति ही हिन्दुस्तानी के मूल में रही है, परन्तु उसको बनाए रखना कठिन था।

भारतेन्दु के नाटकों में शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से हुआ है और परवर्ती रचनात्मक साहित्य पर उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। भाषा क्लिष्ट न हो जाय, इस विषय में वे विशेष सतर्क हैं। इसके लिये जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं, वहाँ भावों की दृष्टि से वे अत्यन्त प्रचलित भाव ही सामने रखते हैं और जहाँ पौराणिक कथाओं आदि को इंगित करना होता वहाँ वे यह ध्यान रखते कि वे जनप्रसिद्ध हों। उनकी अधिकांश भाषा चित्रप्रधान है जिसमें उन्होंने अत्यंत सुन्दर चित्रों को बड़ी सफलता के साथ अंकित किया है—

सखी, सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समा बँधी है वैसी है झूलने वाली है। झूलने में रंग-रंग की साड़ी की अर्द्ध-चन्द्राकार रेखा इन्द्रधनुष की छवि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठंडी-ठंडी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे, लाँग कसे पेंग मारती हैं, कोई गाती हैं, कोई डर कर दूसरी के गले-गले में लपट जाती हैं, कोई उतरने को अनेक सौगंध देती हैं, परन्तु दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती हैं।"

यही नहीं, उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों

के उत्थान-पतन को प्रकट करने में वे अत्यन्त सफल हैं। इस गुण को रागात्मकता कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली लिखने में उन्नीसवीं शताब्दी का कोई भी लेखक भारतेन्दु के जोड़ का नहीं। आवेशपूर्ण स्थलों पर भारतेन्दु छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, उनका गठन भी एक ही प्रकार का होता है। उनमें प्रवाह की मात्रा बहुत रहती है। ऐसे स्थलों पर सरल शब्दों का प्रयोग करते हैं, प्रचलित उर्दू शब्दों को भी नहीं छोड़ सकते यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रहती है भाषा बोलचाल के अधिक निकट रहती है। सारे पद की गति अत्यन्त क्षिप्र। साधारण वर्णनात्मक वाक्यों के साथ प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि बोधक वाक्यों का प्रयोग अवश्य होता है। जहाँ इस प्रकार के वाक्य नहीं भी होते वहाँ प्रश्नसूचक अथवा विस्मयादि सूचक कुछ शब्द अवश्य रखे रहते हैं। ऐसे स्थलों पर भारतेन्दु नये-नये संबोधन गढ़ते हैं और मुहावरों एवं अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं। जहाँ लम्बे वाक्यों का प्रयोग होता है वहाँ वे शिथिल होते हैं और वाक्यांशों में एक प्रकार की लय होती है। संक्षेप में, भाषा ऐसी होती है जो ऐसे असंयत अवसरों पर बोली जाती है—

"झूठे! झूठे! झूठे!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघात क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठा कर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते। भला क्या काम था जो इतना पचड़ा किया? किसने यह उपद्रव और जल मरने को कहा था?"

क्षोभ के स्थलों पर भारतेन्दु साधु एवं गम्भीर भाषा का प्रयोग करते हैं। वाक्य साधारण वाक्यों से कुछ बड़े होते हैं तथा कहीं-कहीं कोई उद्धरण—विशेष कर किसी कविता का उद्धरण—उनमें मिला होता है। साथ ही चिंतना भी चलती रहती है। परन्तु भारतेन्दु करुण-रस और शृङ्गार-रस में सबसे अधिक सफल

हैं। करुण-रस के अवसर उनके वाक्य अत्यन्त छोटे होते हैं। एक ही भाव की कई वाक्यों में पुनरुक्ति भी हो जाती है। भाषा सरल बोल-चाल की जिसमें न कहीं तोड़ मरोड़, कहीं कृत्रिमता। प्रत्येक शब्द शोक की व्यंजना करता है—

"हाय-हाय रे! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया! हाय लाल! हाय रे! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया! हाय मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया। बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय मेरा बसा घर किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी? हाय! मेरा कलेजा किसने निकाल लिया। हाय! लाल! कहाँ गये?"

भारतेन्दु के भाषा संयोग और विप्रलंभ दोनों अवसरों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। परन्तु दोनों अवसरों पर प्रयुक्त शैलियों में भेद है। संयोग के अवसर पर शैली काव्यात्मक एवं चित्रात्मक हो जाती है, तद्भव शब्दों के साथ-साथ संस्कृत तत्सम शब्द भी आते हैं—

"अहा! इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनन्द चंद्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनंद का अनुभव और किसको है।" परन्तु विप्रलंभ शृङ्गार के अवसर पर प्रयुक्त भाषा-शैली में भाषा अधिक नीचे उतर आती है और उसमें प्रान्तीय तथा बोलचाल के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। शैली आत्माभिव्यक्ति की ओर अधिक बढ़ती है और कभी प्रलापपूर्ण बन जाती है। मुहावरों-कहावतों और कविता के उद्धरणों का प्रयोग विशेष रूप से होता है—

"प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुण सीखे वहाँ प्रीति निवाहना क्यों न सीखा? हाय, मझधार में डुबा कर ऊपर से उतराई माँगते हो, प्यारे सो

भी दे चुकी; अब तो पार लगाओ। प्यारे, सब्र की हद होती है। हाय! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुड़ा कर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन-सी बात है। हाय! सबकी आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर-दुर, उस पर यह गति। हाय! "भामिनी ते भौंड़ी करी, मानिनी तें मौंड़ी करी कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।"

३३. प्रेमचंद की कहानियाँ

(१) भूमिका (२) उनकी कहानियों में भारतीय संस्कृति की रक्षा काप्रयत्न (३) प्रेमचंद की कहानियों के अनेक वर्ग—सांस्कृतिक कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, राष्ट्रीय कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ, जन आन्दोलनों-सम्बन्धी कहानियाँ, गाँव और नारी की कहानियाँ (४) प्रेमचंद की कहानियों में समाज सुधार (५) प्रेमचंद का मानव प्रकृति का अध्ययन (६) प्रेमचंद की कहानी का "आदर्शोन्मुख याथाथवाद" (७) प्रेगचंद की कहानियों का विश्लेषण।

प्रेमचन्द्र ने हिंदी साहित्य को ढाई-तीन सौ कहानियाँ दी हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है और समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेक अंगों को स्पर्श किया है। यदि हम उनकी कहानियों को कला की दृष्टि से देखें तो भी हम अनेक प्रयोग पायेंगे। उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को हमारे सामने उपस्थित किया है और अनेक स्थान पर अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचन्द की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण है और उनके कला का प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है।

सबसे पहली बात जो प्रेमचन्द की थोड़ी ही कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक को स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि

प्रेमचन्द भारतीय-संस्कृति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं हमारी संस्कृति का हृदय कहाँ है और उससे जो जीवनधाराएँ निकलती हैं; वे किस ओर बहती हैं। भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह है कि उसने देह से अधिक आत्मा पर बल दिया है; उसका आधार आत्यात्मिक है, भौतिक नहीं। प्रेमचन्द इस बात को जानते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में दैवीगुणों की प्रधानता है। वे हमें एक बार भौतिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द का एक सांस्कृतिक सन्देश है जो उनका रचना पर भारतीयता की छाप लगा देता है। पश्चिम ने जहाँ हमारे सामने ज्ञानविज्ञान के अनेक मार्ग रखे वहाँ उसने हमारी आत्मा का रस चूस लिया। हम धीरे-धीरे पुराने आदर्शों से हट गए। हम इस समय संक्रांतिकाल में हैं। यदि इस युग में हम अपने प्राचीन महत् आदर्शों को अपनी आँख की ओट कर देते हैं और पश्चिम के दिखाये हुए मार्ग पर अंधे की तरह बढ़ते चले जाते हैं तो हमारा भविष्य निश्चय ही काला है। प्रेमचन्द ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है और हमें चेतावना दी है। उन्हें प्रत्येक उस बात से प्रसन्नता होती है जो उन्हें पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को स्पष्ट करने का अवसर देती है। उन्होंने भौतिकता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता से हाथ नहीं धो लिया वरन् इन दोनों सीमाओं के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की।

प्रेमचन्द की कहानियों के अनेक वर्ग किए जा सकते हैं। इनमें एक वर्ग उनकी सांस्कृतिक कहानियों का भी होगा। इस प्रकार की कहानियों में हम उनकी ऐतिहासिक कहानियों को भी गिन सकते हैं। प्रेमचन्द की प्रतिभा ऐतिहासिक कहानियों में दिलचस्पी नहीं लेती थी। भारतीय इतिहास का उनका इतना अच्छा अध्ययन भी नहीं था, जितना "प्रसाद" का। प्रसाद जब

कोई ऐतिहासिक कहानी लिखते थे तो उस विशेष काल के सम्बन्ध में सूक्ष्म खोज करते थे जिसका सम्बन्ध उनकी कहानी से होता और उस काल की संस्कृति के बिखरे हुए तत्त्वों को कहानी का रूप देकर हमारे सामने रखते थे। वे न कोई सांस्कृतिक संदेश देना चाहते थे और न कोई भौतिक संदेश। वे उस काल की संस्कृतिमात्र का चित्र हमारे सामने रख कर अलग हो जाते थे। उनका ध्यान विशेष वातावरण और विशेष मनोविज्ञान पर रहता था। प्रेमचंद इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने ऐतिहासिक-कहानियाँ इसलिए लिखीं कि वे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हमारे सामने उन्हीं के द्वारा रख सकते थे। उन्होंने हमारे इतिहास के ऐसे पृष्ठों को ही चुना जो हमें विशेष सांस्कृतिक शिक्षा दे सकते थे। उनकी अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों, ठाकुरों की कहानियाँ हैं जो बात पर जान देते थे, देश-प्रेम जिनका ईश्वरमंत्र था, जो शरणागत की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे, फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्ति हुआ करती थीं। अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिये वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुए पति के लिए उनके द्वार बन्द थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो चाहे कहानी दुखांत हो परन्तु भौतिक शक्ति के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकती। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचंद का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीजमंत्र भी है।

राजपूतकाल के सिवा प्रेमचंद ने उत्तर-मुगलकाल और पूर्व अंग्रेजकाल पर भी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उन्होंने हमारे सांस्कृतिक पतन के चित्र दिये हैं और समाज के घुनों की

ओर इशारा किया है। उनके इन कालों की कहानियाँ राजपूतों की कहानियों के संदेश को और भी जगमग बना देती हैं। जहाँ एक ओर राजपूत योद्धा अपने राजा के लिये और अपने देश के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में भी विलंब नहीं लगाते, वहाँ अवध की नवाबी के विलासतापूर्ण दिनों में मिर्जा और सैयद अपने बादशाह को अपनी आँखों के सामने बंदी हुआ देख कर भी उत्तेजित नहीं होते, यद्यपि वे शतरंज के बादशाह पर जान दे देते हैं।

प्रेमचंद की दूसरी कहानियाँ वे हैं जिन पर ऊँचे दरजे का गहरा स्थानीय रंग है। जिस स्थान और जिस समाज का वह चित्रण करते हैं वह हमारे सामने जीवित हो जाता है। प्रेमचंद की इस प्रकार की कहानियों के हम दो भाग कर सकते हैं—(१) मध्यवित्त नागरिक के घरेलू जीवन की कहानियाँ, (२) गाँव की कहानियाँ। एक तीसरे प्रकार की कहानियाँ उनकी वे कहानियाँ हैं जिनका सम्बन्ध मजदूरों से है परन्तु उन्होंने मजदूर-वर्ग का चित्रण कहानी से अधिक कहीं अच्छा उपन्यास में किया है।

प्रेमचंद से पहले जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें कल्पना का रंग सत्य के रंग से कहीं गहरा रहता था। वे अधिकतः नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखती थीं परन्तु उनका उद्देश्य समाज-सुधार होता था। जीवन के भीतर पैठने की कोई चेष्टा नहीं होती थी और सामाजिक विकारों को मनोविज्ञान का विषय बनाया जाता था। प्रेमचंद जब क्षेत्र में आये तब उन्होंने पहले-पहल ऐसी कहानियाँ लिखीं जिनका विषय समाज-सुधार था। वे आर्यसमाज के धर्म-सुधार से प्रभावित भी थे। इस क्षेत्र में भी उनकी कहानियाँ अन्य कहानियों से विशिष्ट हैं। शीघ्र ही उन्होंने अपनी दृष्टि मनोविज्ञान से हटा कर समाज-सुधार पर

डाली। उन्होंने मध्यवित्त लोगों और उत्तमवित्त लोगों के मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक संघर्षों के यथार्थ चित्र उपस्थित किए। प्रतिदिन के साधारण जीवन में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की खोज करने वाली दृष्टि उन्होंने पाई थी। उनसे पहले घरेलू जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना नहीं हुई थी यद्यपि मनोविज्ञान कहानी का विषय बन गया था।

प्रेमचंद का सबसे अधिक मौलिक क्षेत्र भारतीय गाँव था। प्रेमचंद से पहले देहाती जीवन की कहानियाँ नहीं लिखी गई थी। देहात का जीवन भी किसी कहानी का विषय हो सकता है—यह कदाचित किसी लेखक ने नहीं सोचा था। प्रेमचंद ने इस क्षेत्र को अपनाया और उन्होंने इसका इतना अध्ययन किया कि और लोग उनके पदचिह्नों पर भी न चल सके। आज यदि हम चाहें कि एक विदेशी हमारे देश से भलीभाँति परिचित हो जाय तो हम प्रेमचंद की कहानियों को छोड़ कर उसे क्या देंगे? भारत की नाड़ी कहाँ दुख रही है?—यह उनके सिवा और किसने अधिक समझा है! भारत का सच्चा प्रतिनिधि उसका किसान है और प्रेमचंद की कहानियों में उसका सच्चा रूप हमें मिलेगा। प्रेमचंद की देहाती कहानियों को हमें कला और विषय दोनों की दृष्टि से देखना होगा। देहाती किसान की भौतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ क्या हैं; जमींदार, महाजन, पुलिस और पटवारी—इन सबके बीच में वह किस तरह पिस जाता है; सामाजिक परंपराएँ उसे क्या कष्ट देती हैं और स्वयम् उसके पराजित भाव किस प्रकार उनके मन में विष की बेल बो देते हैं; वह कैसे उन कष्टों को सहता है और ईश्वर विश्वास के सहारे अपनी नाव पार लगाना चाहता है; किस प्रकार अन्त में जैसे सारी प्रकृति उसके विरुद्ध हो जाती है—जहाँ पानी का एक छींटा काफ़ी होता, वहाँ प्रलय के बादल टूट पड़ते हैं या आकाश ताँबे

की तरह तपता है और एक बूँद पानी नहीं देता। अनावृष्टि है, बाढ़ है, ओला पाला है; फिर पशु हैं जो आँखें बचते ही पकी खड़ी खेती चर जाते हैं और अन्त में परस्पर की ईर्ष्या और द्वेष से उसके महीनों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है। किसान इन सभी भौतिक बाधाओं से लड़ता है और एक दिन अन्त में हार कर अपना ईश्वर विश्वास भी खो देता है। प्रेमचंद ने इन सभी परिस्थितियों में किसान का चित्रण किया है। मनुष्य की आध्यात्मिक विजय यही है कि वह महान् अदृष्ट विरोधी शक्तियों से अंत तक लड़ता है और उसकी हार अवश्यम्भावी होने पर भी हम उसकी आत्मा की महानता के क़ायल हो जाते हैं।

इन कहानियों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनके लेखक का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है और गाँव, वर्ग-विशेष एवं स्थान-विशेष से परिचित पाठक के लिए ऐसी कहानियों का महत्त्व ही नहीं रह जाता क्योंकि उसे उनमें आनन्द नहीं आ सकता। एक हद तक यह बात ठीक हो सकती है और प्रेमचन्द से छोटे कलाकार के हाथ में इस प्रकार की कहानियों का अधिक महत्त्व नहीं होता परन्तु प्रेमचंद ऊँचे कलाकार हैं। वे यह जानते हैं कि कहानी में विश्वव्यापी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को किस प्रकार स्थापित किया जाता है। उनकी प्रत्येक देहाती या घरेलू कहानी के मूल में मानव जीवन और मानव प्रकृति के ऐसे तत्त्व हैं जो सब स्थान और सब वर्गों के मनुष्यों के लिए एक ही रहते हैं। उन्होंने स्थानीय और समसामयिक घटनाओं को ऊँचे मनोवैज्ञानिक सत्य और ऊँचे आदर्श को स्थापित करने का साधन बनाया है। उनकी कहानी में देहात और घर वीथिका मात्र है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिदिन के जीवन की धाराएँ एक विशेष स्थान और समय तक सीमित रहती हैं परन्तु

चिन्तनशील कलाकार उन घटनाओं के पीछे छिपे हुए मनोभावों पर विचार करता है और उनमें ऐसे विश्वजनीन कारणों की स्थापना करता है जो समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठे हुए होते हैं। अधिकांश समालोचक प्रेमचंद की घरेलू और देहाती कहानियों को घर और देहात तक सीमित समझ कर भूल करते हैं। वे उनके पीछे छिपी हुई विराट् मानवीयता और विश्वजनीनता को नहीं देखते।

एक और महत्त्वपूर्ण बात जो हमें प्रेमचंद में मिलती है वह उनका मानव प्रकृति का गहरा अध्ययन है। उसे दूसरे शब्दों में हम मनोविज्ञान कह सकते हैं। यही मनोविज्ञान प्रेमचंद का बल है। मनुष्य एक ही तरह की घटना से किस तरह प्रभावित होता है? सुख दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को मनुष्य अपने कार्यकलाप में किस प्रकार प्रकट करता है—ये सब बातें मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। अपने विशेष व्यक्तित्व के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अनेक बातों में अभिन्न है। यही कारण है कि कहानी को विश्वजनीन बनाने और उसमें ऊँचे तत्त्वों की स्थापना करने के लिए कहानीकार मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंसे भरी पड़ी हैं।

मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण ही प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवाद को विशेष स्थान मिला है, उनका दृष्टिकोण और जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भले ही यथार्थवादी हों। यही कारण है कि हम उनकी कहानियों और पात्रों को प्रतिदिन के साधारण जीवन में पा सकते हैं। परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो प्रेमचंद अपनी प्रत्येक कहानी के अंत में यथार्थवाद से दूर हट जाते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का अंत एक विशेष नैतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करता है।

उनकी धारणा कदाचित् यह जान पड़ती है कि प्रत्येक भले काम का फल भला होता है। अंधकार पर ज्योति और पाप पर पुण्य की विजय होती है। हम जिस जीवन से परिचित हैं उसमें साधारणतः ऐसा नहीं होता। प्रेमचंद कहानी के अंत में अपने प्रधान पात्र को सुधार देते हैं और दुखांत की ओर जाती हुई कहानी को सुखांत बना देते हैं। यथार्थवादी प्रेमचंद को यही उपालंभ देते हैं। परन्तु यदि हम प्रेमचंद की सब कहानियों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचंद की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें अंत किसी दूसरी प्रकार से नहीं हो सकता और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। यदि दोष किसी का है तो वह प्रेमचंद के मूलतः आदर्शवादी दृष्टिकोण का है जिसके कारण वे जीवन में से ऐसी परिस्थितियाँ चुनते हैं जिनका अंत सुखमय हो। वे अपने चरित्र-चित्रण और कथा-वस्तु में यथार्थवादी हैं परन्तु दृष्टिकोण में आदर्शवादी। फिर भी प्रेमचंद की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी सुधारक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और इसी कारण इस प्रकार की कहानियों का अंत कुछ अप्राकृतिक हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा कुछ विशेष नैतिकतत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहता है। कला की दृष्टि से यह वांच्छनीय नहीं हैं।

प्रेमचंद की कहानियों से उनकी कला के विकास-क्रम और विषय-विभाग के अनुसार कितने ही भेद किये जा सकते हैं। विकास-क्रम के अनुसार उनकी कहानियाँ ३ वर्ग में बँटेंगी—

(१) प्रारम्भ की वे कहानियाँ जिनमें घटनाचक्र और सामयिकता की प्रधानता है, कोई मूल विचार लेकर लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लॉट ही सब कुछ है, बीजविचार और चरित्र-चित्रण गौण है। इन कहानियों में बुरे का भला बुरा है, भले का

भला। पलड़ा सदा बराबर रहता है। यह स्पष्ट है कि यह वास्तविकता नहीं है।

(२) (अ) चरित्रप्रधान और आदर्श प्रधान कहानियाँ— वास्तव में पूर्णत: चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचंद ने अधिक नहीं लिखी हैं। वे कला में उपयोगिता का मिश्रण आवश्यक समझते थे। इन कहानियों में बहुधा आदर्श चरित्रचित्रण को ढक लेता है। इन कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय का पता लग जायगा जैसे "माता का हृदय" "स्वर्ग की देवी।"

(आ) विचार-प्रधान और चरित्रमूलक आदर्शात्मक (सुधारात्मक) भावनामंडित कहानियाँ। लेखक समाज की प्रत्येक कुरीति को लेता है और कर्म, करुणा, मनुष्यता आदि का सहारा लेकर उनका परिहार करना है जैसे "स्त्री और पुरुष", "दिवाला" "नैराश्यशीला", "उद्धार"। प्रेमचंद की सुधारात्मक भावना सहारे के लिए अतीत की ओर देखती है, पश्चिम से हटती है (देखिये "शांति")।

(इ) घटना-मंडित कहानियाँ जिनमें ऊपर की प्रवृत्तियों के होते हुये भी घटनाचक्र की प्रधानता है जैसे "शूद्र", "आधार", "निर्वासन", "कौशल"

(ई) चरित्र-प्रधान और संघर्ष (अंतर्द्वन्द)। प्रधान कहानियाँ ऐसी कहानियाँ कम हैं जैसे "दुर्गा का मन्दिर", "डिक्री के रुपये", "ईदगाह", "माँ", "घरजमाई", "नरक का मार्ग" इन कहानियों में प्रेमचंद बराबर आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़े जा रहे हैं। फिर भी सभी कहानियाँ सुखांत हैं केवल कुछ को छोड़ कर जैसे "शांति" जिसमें विवाह को विंदु बना कर चित्रण है।

(उ) ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र-चित्रण के साथ प्रभावात्मकता पर भी ध्यान रखा गया है और कहानी को अत्यन्त

कलात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है। प्लॉट कम है, या है ही नहीं। फिर भी प्रेमचंद न आत्महत्या को छोड़ पाते हैं, न सुधार भावना को, जैसे "घासवाली", "धिक्कार", "कायर", "पूस की रात"।

(३) इन्हीं कहानियों का विकसित रूप वे कहानियाँ हैं जो "कफ़न और अन्य कहानियाँ" शीर्षक से संग्रहीत हैं। इनमें लेखक आदर्शवादियों की पंक्ति से निकल कर वस्तुवादियों की पंक्ति में आ बैठा है। "कला उपयोगी हो" यह विचार दूर हो गया है, परन्तु कहानी समाज का मर्मस्थल पर नग्न चित्रण के कारण ही चोट करती है।

३४. हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव

(१) भूमिका (२) मुस्लिम संस्कृति की विशेषताएँ और संत-साहित्य पर उनका प्रभाव (२) मुस्लिम सूफ़ी-साहित्य (३) रीति काव्य के कवियों पर फारसी प्रभाव (४) बंगाली उपन्यासों के अनुवाद और उनका प्रभाव (५) अंग्रेजी साहित्य का द्विवेदी जी और छायावादी काव्य पर प्रभाव (६) आधुनिक हिन्दी-कथा पर यूरोपीय कथा साहित्य का प्रभाव (७) इतने प्रभ वों के होते हुए भी हिन्दी ने अपनी मौलिकता बनाये रखी है।

१६वीं शताब्दी के आरम्भ में एक नई संस्कृति की दृष्टि भारत पर पड़ी। धीरे-धीरे उसने अपनी राजनैतिक शक्ति द्वारा अपनी नींव हिन्दी-प्रदेश में जमा ली। लगभग उसी समय हिन्दी भाषा का जन्म हुआ था और साहित्य भी बहुत थोड़ा बन पाया था। पहले नवीन संस्कृति और उसके साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर नहीं पड़ा परंतु समय बीतने पर धीरे-धीरे यह प्रभाव पड़ने लगा। पहले विदेशी फ़ारसी-अरबी भाषाओं का प्रभाव पड़ा, संस्कृति और साहित्यमूलक विशेषताओं का बाद में। चंद के

महाकाव्य रासो में फ़ारसी शब्द बहुत से मिलते हैं परन्तु उसकी आत्मा पूरी तरह भारतीय है। उनके काव्य का रूप, रंग, गठन सब संस्कृत महाकाव्यों की रूपरेखा पर दृढ़ किया गया है। रासो की रचना के ६० वर्ष बाद के दिल्ली के अमीर खुसरू की कविताओं में हमें पहले-पहल मालूम होता है कि अब मुस्लिम संस्कृति रंग लाने लगी है।

मुस्लिम संस्कृति की कई विशेषताएँ थीं। वह ऐकेश्वरवादी थी। वह फक्कड़ी जीवन, ऐशो-आराम और विलास पर क़ुर्बान हो रही थी। उसमें एक ऐसा दल था जो अपने को सूफ़ी कहता है और जिसके आत्मा-परमात्मा-संबंधी विचार वेदान्त के समान थे। यह दल भावात्मक प्रक्रियाओं द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधना करता था। 'प्रेम' और 'विरह' इसकी साधना के प्रधान अंग थे। हिंदी साहित्य पर सबसे पहले प्रभाव दूसरी विशेषता का पड़ा। अमीर खुसरू ने मुकरी, पहेली, रेखता जैसी चीजें लिखीं जिन्हें हम "मनोरंजन काव्य" कह सकते हैं। परन्तु विजित हिन्दुओं के तत्कालीन साहित्य में इस प्रकार के मनोरञ्जन के चित्र नहीं दिखलाई पड़ते। इसका कारण है कि इसी समय भक्ति के आन्दोलन का सूत्रपात हो गया। यदि यह आन्दोलन उठ खड़ा न होता तो अवश्य ही हिंदी-साहित्य शासकों की सस्ती भावुकता का शिकार हो गया होता जैसे इस आन्दोलन के शिथिल होते ही हो गया। यह आंदोलन आत्मरक्षामूलक था और इसकी भित्ति पौराणिक धर्म पर रखी गई थी। जब तक इसमें बुद्धिवाद की प्रधानता रही तब तक वह इस्लामी भावनाओं से प्रभावित नहीं हुआ और बाद में जब भावुकता के कारण इसके साहित्य ने इस्लामी रङ्ग पकड़ा तब भी इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। मुग़लों के समय तक जनता में मुस्लिम मनोवृत्ति बहुत कुछ घर कर गई

थी। वह भी विलासी हो गई थी। धर्म ने रङ्गीला रूप ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे इस विलासी मनोवृत्ति ने भक्ति को निगल लिया। पहले जो विलासभाव अंश रूप से भक्ति-साहित्य में राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं के चोले में घुस आया था, वह वामन अब तीन डग में साहित्य के सारे संसार को नाप गया और कला के दूसरे लोकों में भी जा पहुँचा। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का जन्म हुआ।

रीतिकाल के कवियों ने फ़ारसी कवियों की विरह-वर्णन-संबंधी अतिश्योक्तिपूर्ण शैली को अपना लिया। प्रेमी की कृशता, उसके ख़ून के आँसू, माशूक़, (प्रेमिका) की बेवफ़ाई के प्रति उपहासजनक गिलेशिकवे—फ़ारसी साहित्य की यह सम्पत्ति कुछ इसी रूप में, कुछ बदले रूप में हिन्दी में भी आ गई। यह अतिरंजित कलुषित प्रेमभावना तीन शताब्दियों तक हिन्दी के गले मढ़ी रही। वर्तमान हिंदी साहित्य ने एक बार फिर मुस्लिम वैभव के चिह्न प्याले, सुराही और शराब को अपनाया है परन्तु इस बार प्रच्छन्न रूप में। उस पर आध्यात्मिक रूपक के आरोप की चेष्टा की गई है।

मुसलमान संस्कृति की दूसरी विशेषता सूफ़ी भावना ने हिंदी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। स्वयं सूफ़ी मुसलमानों के साहित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं हो सकता, परंतु संत-साहित्य का एक बड़ा भाग सूफ़ी भावनाओं से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त कितने ही हिन्दू सूफ़ियों की कविताएँ भी हमारे साहित्य की स्थाई सम्पत्ति हैं। मुस्लिम संस्कृति की ऐकेश्वरवादी भावना का प्रभाव हमें संत-साहित्य के रूप में मिलता है।

मुसलमान-साहित्य फ़ारसी-साहित्य और उससे प्रभावित उर्दू-साहित्य के दो रूपों में हिंदी-प्रदेश में विकसित हुआ।

इसमें भावना की प्रधानता थी। अतिरंजित विरहवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। जीवन के प्रति इसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण था परन्तु इसकी कथा-कहानियों में घटना-वैचित्र्य कम नहीं होता था। सूफ़ी कवियों के हिंदी-प्रबंध-काव्यों और प्रारम्भिक हिंदी उपन्यासों पर घटना-प्रधान आश्चर्य-मूलक फ़ारसी कथाओं का प्रभाव लक्षित है। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में उर्दू में गद्य का विकास हो चुका था, दिल्ली और लखनऊ की शैलियाँ बन चुकी थी, अलिफ़लैला के ढङ्ग के उपन्यास काफी मात्रा में लिखे जा चुके थे। इनकी काव्यशैली, इतिवृत्तात्मकता और ऐयारी तिलिस्मी वातावरण ने चंद्रकांता संतति, भूतनाथ प्रभृति हिंदी कथाओं को जन्म दिया।

१६०५ क. बंग-विच्छेद की घटना ने हिंदी प्रांत का ध्यान बंगाल की ओर आकर्षित किया। बङ्गाली उपन्यासों के अनुवाद होने लगे। इनसे जहाँ एक ओर सस्ती भावुकता और भावात्मक शैली का हिंदी में प्रचलन हुआ, वहाँ दूसरी ओर उर्दू के घटना-वैचित्र्य से भी पीछा छूटा। अंग्रेज़ी साहित्य के ब्लेक और शरलाकहोम्स के जासूसी उपन्यासों की शैली पर गोपालराम गहमरी और कितने ही अन्य लेखकों ने जासूसी उपन्यास लिखे। फिर बङ्गाली उपन्यासों के अनुकरण में मराठी, गुजराती और अंग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवाद होने लगे। अब भी शरद् और रवींद्र बाबू की उपन्यासों और कहानियों का प्रभाव है। रवि बाबू का प्रभाव १६१४ में पड़ना आरम्भ हुआ। उनके "गीताञ्जली" ग्रंथ के अनुवाद की शैली पर गद्य में एक नई प्रकार की शैली का जन्म हुआ जिसे उपयुक्त नाम न मिलने के कारण हम "गद्यगीत" कहते हैं। पद्य में "छायावाद" शैली की कविताओं का जन्म हुआ जिनमें लाक्षणिकता का आधिक्य था और कवि किसी रहस्यमय सत्ता के प्रति उन्मुख होता जान पड़ता था।

अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भी कम नहीं है। पं० श्रीधर पाठक की कविताओं पर गोल्डस्मिथ का प्रभाव है। छायावादी कविताओं पर शैली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, टेनीसन आदि रोमांटिक कवियों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द के बाद हिन्दी समाज में वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई जैसी उन्नीसवीं शताब्दी से अंग्रेज़ी समाज की थी, अतः कवि आँग्ल साहित्य के १९वीं शताब्दी के काव्य की ओर पड़े। उन्होंने उसकी लाक्षणिकता, उसकी काव्य-शैली और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों के भी अनुवाद अपना लिए जैसे "स्वर्णिम हास" और "रेशम के से बाल" जिनके लिए Golden laughter और "Silken hair" पहले से उपस्थित हैं। पंत की कविता में इनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। आँग्ल साहित्य के प्रभाव से अंग्रेज़ी ढंग की कविताएँ लिखी जाने लगी और Lyric के ढंग पर गीतिकाव्य या गीति, ode के ढंग पर सम्बोधन के रूप में लिखी जाने वाली कविताओं, narratives के ढङ्ग पर वर्णनात्मक कविताओं का प्रवेश हुआ। कवियों ने विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण, मानवीकरण आदि अनेक पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। कथा-साहित्य में उपन्यास और कहानी दोनों पर अंग्रेज़ी साहित्य और अनुवाद के रूप में अंग्रेज़ी के माध्यम से रूसी और फ्रांसीसी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा। प्रेमचंद जी ने टालस्टाय और थेकरे प्रभृति उपन्यासकारों का प्रभाव स्वीकार किया है। गैल्सवर्दी का प्रभाव भी कम नहीं है। प्रेमचंद के बाद उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। जेम्स ज्वाइस और डी० एच० लॉरेंस की विश्लेषण-प्रधान मनोवैज्ञानिक शैलियों का प्रचलन हुआ। अज्ञेय, भगवती प्रसाद बाजपेई, जैनेंद्र आदि कई नए लेखक इस प्रकार की शैली

में लिख रहे हैं। उपन्यास के भाव-जगत पर फ्रूड के मौन-मनोविज्ञान का प्रभाव भी पड़ने लगा है। जैनेंद्र के "त्याग पत्र" से इसकी सूचना मिली है। इधर भावजगत पर समाजवादी पश्चिमी लेखकों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ रहा है। समाजवाद स्वयम् एक विदेशी भावना है। चूँकि हम अभी समाजवाद का भारतीय रूप नहीं बना सके हैं, इसलिये हम समाजवादी साहित्य का भी भारतीय रूप सामने नहीं ला सके हैं। समाजवाद का संबंध रूस से होने के कारण आज के लेखकों के एक वर्ग का ध्यान रूस की ओर गया। वास्तव में १६१६ के बाद हमारा लेखक-वर्ग उधर आशा की दृष्टि से देखने लगा था। यूरोपीय उपन्यासकारों और कहानीकारों में टाल्सटाय, चेखव, गोर्की, और अनातोले फ्रांस का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। इस प्रकार हमारा कथासाहित्य विदेशी साहित्य से बहुत कुछ बल लेकर आगे बढ़ रहा है। आलोचनात्मक साहित्य, निबंध और ज्ञान-विज्ञान की जितनी भी शाखाओं में साहित्य की रचना हो रही है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित है। अब हमारे साहित्य में अंग्रेजी के सिवा दूसरी यूरोपीय भाषाओं के विद्वान् भी जन्म ले रहे हैं। शीघ्र ही उन भाषाओं का सीधा प्रभाव पड़ेगा जो अंग्रेजी का माध्यम से पड़े प्रभाव से अधिक गहरा होगा।

इतने प्रभावों के होते हुए भी हिंदी ने अपनी मौलिकता बनाये रखी है। यही नहीं, उसने उनसे बल प्राप्त किया है। शीघ्र ही वह उन विदेशी भाषाओं के समकक्ष हो जायगी जिनका प्रभाव आज उस पर पड़ रहा है और जो उससे कई क्षेत्रों में आगे हैं।

३५. हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का स्थान

(१) भूमिका (२) तुलसी के काव्य का वाह्यांग (३) तुलसी के काव्य का अंतरंग और उसका महत्त्व (४) रामचरितमानस की श्रेष्ठता और उसके कारण (५) उपसंहार ।

हिंदी साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग पद्य में है, गद्य अभी प्रौढ़ता और वैभिन्न्य की ओर अग्रसर ही हुआ है, उसमें अभी भाषा और भाव की वे भंगिमाएँ नहीं भरी जा सकी हैं जो काव्य में भरी जा चुकी हैं। सचमुच, हिंदी का प्राचीन पद्य-साहित्य अमूल्य है। उस जैसी सम्पत्ति भारतवर्ष की किसी भी प्रांतीय भाषा को प्राप्त नहीं। सूरदास, कबीर, दादू, तुलसी, बिहारी—इनमें से प्रत्येक स्वयम् एक महत् प्रकाशस्तंभ है। परंतु यदि इनमें से किसी एक को काव्योत्कृष्टता और प्रभाव की दृष्टि से चुना जायगा तो तुलसी ही को सर्वसम्मति से चुना जा सकेगा।

तुलसी के साहित्य में काव्य का अंतरंग और वहिरंग दोनों पूर्णरूप से पुष्ट हैं। काव्य के वहिरंग में आते हैं—भाषा, शैली, छंद। तुलसी ने अपने समय की दोनों साहित्य—भाषाओं (व्रज और अवधी) में कविता की मुक्तक, गीत, प्रबंधकाव्य सभी शैलियों पर सफलता से लेखनी दौड़ाई और आधे शतक छंदों का अत्यंत कौशलपूर्ण प्रयोग किया। प्रत्येक भाषा, प्रत्येक शैली, प्रत्येक छंद में वह अद्वितीय रहे। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अवधी पर अधिक अधिकार था या व्रज पर, विनय-पत्रिका के गीत रामचरितमानस की दोहा-चौपाइयों से प्रौढ़ हैं या किसी विशेष छंद के प्रयोग में तुलसी असफल या कम सफल रहे हैं। सूरदास गीतों में अत्यंत सफल रहे, चौपाइयों में चूक गये; बिहारी की प्रतिभा प्रबंधकाव्य की रचना नहीं कर सकती

थी, यह निश्चय है। परन्तु तुलसी कहाँ कम महान् हैं, यह समझ में नहीं आता।

परन्तु काव्य का वहिरंग इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना अंतरंग। इस अंतरंग के कई अंग हैं—रस, कल्पना, चरित्र-चित्रण, भाव—जगत, अध्यात्म, कथानक। यहाँ भी प्रत्येक कवि सभी अंगों में सफल नहीं हो सकता। कोई रस-सृष्टि में अद्वितीय है, कोई भावजगत के निर्माण में, कोई चरित्र-चित्रण में। सूरदास के काव्य से चरित्र-चित्रण और कथानक का कोई पुष्टरूप हमारे सामने नहीं आता। जहाँ तक रसोद्रेक, भावसृष्टि और कल्पना—वैचित्र्य का संबंध है, वे तुलसी के समकक्ष हैं, शृंगार रस, विशेषतः विरहकाव्य में तुलसी से श्रेष्ठ भी हैं। अकेले तुलसी सब में श्रेष्ठ हैं। हो सकता है कि कहीं अधिक श्रेष्ठ हों, कहीं कम। काव्य के सब अंगों को इतनी श्रेष्ठता से निभाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई रंग कभी दब जाता, और रङ्ग कहीं उभर आता, परंतु काव्य के अंतरंग का इतना सब कुछ और कहीं इतना सुंदर नहीं मिलेगा, यह निश्चय है।

तुलसीदास के काव्य में भी गीतावलियाँ, विनयपत्रिका और रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें पिछले दो ग्रंथों के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन अधिक श्रेष्ठ है। कुछ विद्वान् विनयपत्रिका को रामचरितमानस से अधिक उत्तम मानते हैं। कुछ रामचरितमानस को यह श्रेय देते हैं। यदि हम इन दोनों ग्रंथों को लेकर इनके जोड़ का कोई एक ग्रंथ किसी साहित्य में ढूँढ़े तो हम निराश होंगे। साहित्य का मूलाधार है संस्कृति। मध्ययुग की हिंदू संस्कृति का हृदय है विनयपत्रिका और मस्तिष्क है रामचरितमानस। परंतु रामचरितमानस में हृदय का आलोड़न-विलोड़न और भक्तिरस का परिपाक भी कम नहीं है। स्वयम् तुलसी ने उसे अपनी भक्ति-

भावना को पुष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखा है। रामचरितमानस को समाप्त करते हुए वे कहते हैं—

जाकी कृपा लवलेश ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

जो हो, मूलतः इन्हीं दोनों पुस्तकों के बल पर तुलसीदास को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है।

रामचरितमानस काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ है। बिहारी सतसई की भाँति वह व्यञ्जनामूलक काव्य नहीं है, न सूरसागर की भाँति भावनाबहुल। परन्तु यही उसकी श्रेष्ठता का कारण भी है। इस अभिधात्मक कथाकाव्य में तुलसी रस, चरित्र-चित्रण और भक्तिभावना के साथ भावों और शैली का इतना सुन्दर गठबंधन कर सके हैं कि संपूर्ण काव्य के अध्ययन के बाद उनकी प्रतिभा पर मुग्ध होना पड़ता है। श्रेष्ठ साहित्य नैतिकतामूलक होता है। रामचरितमानस में नैतिक संदेशों की कमी नहीं है। उसमें कथावस्तु के साथ सामाजिक, नैतिक, और वैयक्तिक आदर्शों को एक सूत्र में इस तरह गूँथ दिया गया कि उन्हें किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता। तुलसी का यह ग्रंथ एक साथ जीवन दर्शन, व्यवहार—शास्त्र, महाकाव्य और धर्मशास्त्र (भक्तिशास्त्र) है।

३६. मुसलमानों की हिन्दी सेवा

(१) भूमिका (२) हिन्दी-सेवक मुसलमान साहित्यकारों का वर्गीकरण-सूफ़ी कवि, राधा-कृष्ण भक्ति के वातावरण से प्रभावित कवि, रीति-परम्परा से प्रभावित कवि, सहृदय हिन्दी भक्त हिन्दी सेवी (३) आकार-प्रकार और वैभिन्न्य की दृष्टि से मुसलमानों की रचनाएँ किसी प्रकार भी विदेशी नहीं हैं (४) मुसलमान लोगों के हिन्दी साहित्य की अधिक सेवा न कर सकने के कारण (५) मुसलमान आश्रयदाता।

धर्म, संस्कृति और भावना की दृष्टि से हिन्दी साहित्य हिन्दुओं का साहित्य है और हिन्दी प्रदेश की संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य का उत्तराधिकारी है। यह मुख्यतः हिन्दुओं का ही साहित्य है, यह इससे भी स्पष्ट है कि मुसलमानों में इस साहित्य के पठन-पाठन का प्रचलन नहीं है। जो साहित्य उनमें प्रिय हैं, उसकी भाषा, शैली और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा हिन्दी भाषा की इसी प्रकार की सम्पदा से नितान्त भिन्न है। फिर भी मुसलमानों ने हिन्दी में काम किया है और उनके कितने ही ग्रंथ आज हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है।

जिन मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की रचना की है उन्हें पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग सूफ़ी मुसलमानों का है जिन्होंने हिन्दी को एक विशेष प्रकार का कथात्मक काव्य-साहित्य दिया। इस साहित्य की महत्ता इसीसे प्रकट हो जायगी कि पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रबन्ध-काव्यों में रामचरितमानस के बाद सूफ़ी कवि जायसी के पद्मावत को ही प्रमुख स्थान देते हैं। कुतबन, नूर मुहम्मद, मंझन आदि कवि इसी वर्ग में आते हैं और यद्यपि वे जायसी की उच्चता को नहीं पहुँचते, तदापि हिन्दी कथाकाव्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन मुसलमानों कवियों का मूल उद्देश्य था सूफ़ी धर्म का प्रचार था और उन्होंने इस प्रचार के लिए जहाँ अनेक प्रकार के प्रयत्न किये वहाँ काव्य को भी अपना माध्यम बनाया। हर्ष की बात है कि उन्होंने एक अत्यन्त मौलिक बात सोची—क्यों न हिन्दुओं में प्रचलित या अर्धकल्पित कथाओं को इस प्रकार लिखा जाय कि उनमें सूफ़ी धर्म का सन्देश भर जाये। नये मुसलमानों में इस प्रकार के ग्रंथों के प्रचार की बड़ी आशा थी। परन्तु जब अत्यन्त भावुक-हृदय सूफ़ी कवि लिखने बैठे तो प्रचार-ग्रंथ से अधिक लिख गये। हिन्दी सूफ़ी काव्य के रचयिताओं का मूल ध्येय न काव्य

रचना था, न हिन्दी की सेवा करना। अपने काव्य के द्वारा वे हिन्दू जनता तक इस तरह पहुँचना चाहते थे कि वे उस पर प्रभाव डालते थे। प्रसंग-वश वे हिन्दी-भाषी नवीन मुसलमानों के लिए साहित्य भी रच रहे थे। सूफ़ियों ने धर्म-परिवर्तन-बवंडर में तटस्थता से काम नहीं लिया था, अतः यह स्पष्ट है कि वे अपने काव्यों द्वारा हिन्दुओं के प्रति अकारण सहानुभूति नहीं दिखा रहे थे। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि सूफ़ी कवियों ने हिन्दी साहित्य के भांडार में सुन्दर वृद्धि की है। इस प्रकार की रचना न उर्दू सूफ़ी साहित्य में है, न फ़ारसी सूफ़ी साहित्य में। दूसरे वर्ग में वे सहृदय मुसलमान कवि आते हैं जिन्हें मध्ययुग के राधा-कृष्ण-भक्ति के वातावरण ने प्रभावित किया जैसे रसखान, सुजान, आलम। उनके साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि वह भक्ति साहित्य से भी उतने ही प्रभावित थे जितने मधुर भक्ति से। ये प्रेमी जीव थे। तीसरे वर्ग के कवि मुख्यतः साहित्य-परम्परा से प्रभावित हुए, विशेष कर रीति-परम्परा से और उन्होंने उस साहित्य में अपनी रचनाओं द्वारा योग दिया। रहीम ने सतसई, बरवै, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक आदि कविता-ग्रंथों की रचना की। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुंडलियाँ लिखीं। इस वर्ग के कवियों की ही संख्या सबसे अधिक है। रीतिकाल में जिस साहित्य का सृजन हुआ उसकी शृंगारभाव और अभिव्यक्ति की बंकिम शैली से मुसलमान फ़ारसी काव्य द्वारा पहले ही परिचित थे, अतः शृंगारमूलक रीति साहित्य के रूप में उन्हें प्रकृत क्षेत्र मिल गया। चौथे वर्ग के कवि विनोदी जीव थे। उनकी तबियत सैलानी थी। वे फ़ारसी और उर्दू साहित्य के कवि थे, मन-बहलाव के लिये हिन्दी में भी उछल-कूद मचा देते थे। रंगीन तबियत ही जो ठहरी। इनकी कविता और गद्य में जो रंग है वह सारे हिन्दी साहित्य में नहीं मिलेगा। अमीर

खुसरू और इंशाअल्लाखाँ इसी वर्ग के लेखक हैं। पाँचवें वर्ग में वे मुसलमान कवि व लेखक रखे जा सकते हैं जैसे मुं० अमीर अली मीर, जिन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य से प्रेम होने के कारण ही हिन्दी के भांडार को भरा है। इस वर्ग के लोग थोड़े हैं, उन्होंने कोई विशेष महत्त्व का काम भी नहीं किया, परन्तु इनके प्रति हमें विशेष कृतज्ञ होना चाहिए। ये हमारी पंगत के ही आदमी हैं।

आकार-प्रकार और वैभिन्न्य की दृष्टि से मुसलमानों की हिन्दी रचनाएँ किसी प्रकार भी विदेशी नहीं जान पड़ती, वे सम्पूर्णतः हिन्दी की चीज़ हैं और उन्होंने हिन्दी साहित्य को गौरवांवित किया है। संख्या की दृष्टि से मुसलमान लेखक दो शतक से ऊपर पहुँच सकते हैं, परन्तु उनमें ऐसे थोड़े ही हैं जिनका हिन्दी साहित्य में स्थान बन सका हो। सूफ़ी काव्य का तो हिन्दी साहित्य में अपना एक अलग स्थान है ही। कृष्णकाव्य में रसखान को नहीं भुलाया जा सकता जिनका

> मानुष हौं तो वही रसखानि बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन
> जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन
> पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो करछत्र पुरन्दर कारन
> जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन

छंद—भक्तिभावना में पुष्टिमार्ग के कवियों से टक्कर ले सकता है। रीतिकाव्य में रहीम, आलम, रसलीन और पठान सुलतान का अपना-अपना निश्चित स्थान हैं। इनमें रहीम सबसे महत्वपूर्ण हैं। अमीर खुसरो और इंशाअल्लाखाँ क्रमशः खड़ी पद्य और गद्य के आदिम काल में लिख रहे थे। साहित्य के इतिहास के दृष्टि से भी इनका मूल्य कम नहीं है। यदि हमें इनमें से भी चुनना पड़े तो हम जायसी, रहीम, रसखान और

इंशाअल्लाखाँ को चुनेंगे। हिन्दी प्रदेश में मुसलमानों की जितनी संख्या है, उसे देखते हुए यह सेवा कम नहीं है। बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र प्रान्त के मुसलमानों की उस प्रकार की समस्या नहीं है जिस प्रकार की हिन्दी-उर्दू की समस्या हमारे प्रदेश में है। ऐतद्देशीय मुसलमान बँगला भाषा-लिपि, गुजराती भाषा लिपि और मराठी भाषा-लिपि का ही प्रयोग करते हैं। परन्तु मुसलमानों ने उन भाषाओं को इससे अच्छा साहित्य नहीं दिया है जितना उन्होंने हिन्दी को दिया है।

यदि मुसलमान लोगों ने हिन्दी साहित्य की अधिक सेवा नहीं की है तो उसके कारण भी हैं। उर्दू के रूप में उनका अपना अलग साहित्य बराबर बनता रहा है। भाषा, शब्दकोष और व्याकरण बहुत कुछ खड़ी बोली हिन्दी से अभिन्न है, परन्तु उस साहित्य की आत्मा मुसलमानों की संस्कृति से समीप पड़ती है। अब तक फ़ारसी राजभाषा रही है और उसके नाते मुसलमानों ने उसे अपनी निजी भाषा समझा है। उर्दू को उन्होंने फ़ारसी के स्थान पर खड़ा किया और अब धीरे-धीरे उर्दू ही उनके धर्म, संस्कृति और साहित्य की भाषा हो गई है। यह भाषा फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है, अतः उसके साहित्यिक फारसी भाषा और साहित्य से बहुत कुछ उधार ले लेते हैं और भारतवर्ष की संस्कृति, प्रकृति और जनभावना की ओर से आँखें मूँद लेते हैं। लिपि और भाषा का सम्बन्ध बड़ा गहरा होता है। बङ्गाल प्रभृति प्रांतों में जहाँ मुसलमानों ने वहाँ की लिपियों को अपना लिया, मुसलमानों के साहित्य में बङ्गाल प्रदेश और जनता की ही भावनाएँ भरी गई हैं। हिन्दी प्रदेश में ऐसा नहीं हो सका। फल यह हुआ कि हिन्दी के प्रति मुसलमानों का कोई अपनत्व नहीं रहा और उन्होंने हिंदी की जो कुछ सेवा की वही बहुत मानी जानी चाहिये।

एक दूसरे प्रकार की सेवा भी हिन्दी सेवा मानना पड़ेगी। हमारा संकेत मुसलमान आश्रयदाताओं द्वारा की गई हिन्दी की सेवा से हैं। समस्त मध्ययुग में मुसलमान बादशाह और रईस फ़ारसी कवियों के साथ हिन्दी के कवियों को भी आश्रय देते गये। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी का सम्मान ही नहीं किया, उसकी परम्परा की भी रक्षा की। इन आश्रयदाताओं में हुमायूँ (क्षेम वंदीजन), अकबर (गङ्ग, नरहरि, करण, होल, ब्रह्म, अमृत, मनोहर आदि), दारा (वनमालीदास), शाहजहाँ (कवीन्द्र, सुन्दर), पठान सुल्तान (चन्द्र कवि), फाज़िल अलीशाह (सुखदेव मिश्र), आसिफुद्दौला (गिरिधरराय) विशेष सम्मान योग्य हैं। हिन्दी के कवियों में रहीम खानखाना, अकबर, दारा आदि से इतना इनाम-इकराम पाया है जितना शायद ही किसी उर्दू या फारसी कवि को मिल सका हो। नवाब खानखाना अब्दुल रहीम (रहीम) को एक बार गङ्गकवि ने एक छप्पय सुनाया था। आपने प्रसन्न होकर एक दो नहीं, छत्तीस लाख रुपये दे डाले। वह छप्पय यह था—

> चकित भवर हरि गयो गवन नहिं करत कमल तन
> अहि फनि मनि नहिं लेत तेज नहिं वहत पवन घन
> हंस मानसर तज्यो चक्क-चक्की न मिलै अति
> बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहै न करै रति
> खलभणित शेष कवि गग भनि रमित तेज रवि रथ खस्यो
> खानखान बैरम सुवन जिदिन क्रोध करि तंग कस्यो

हम यह नहीं मानते कि राजाश्रय ने हिन्दी को कोई महान् कवि दिया, परन्तु हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उसने हिन्दी साहित्य की वृद्धि कराई और उसके प्रोत्साहन ने हिन्दी के साहित्यिकों को बल दिया।

३७. हिन्दी-उर्दू की समस्या

(१) समस्या के दो अंग (२) हिन्दी प्रदेश में समस्या का रूप : हिन्दी और उर्दू साहित्य में अंतर, साहित्य क्षेत्र में समस्या का रूप, बोलचाल में समस्या का रूप, राजनैतिक वर्गों में समस्या का रूप (३) समस्याओं के कुछ हल (४) हिन्दी प्रदेश से बाहर समस्या का रूप : राष्ट्र भाषा हिन्दी का रूप क्या हो ? (५) उपसंहार।

हिन्दी और उर्दू की समस्या के दो अंग हैं—पहले का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश से हैं, दूसरे का सारे भारत-राष्ट्र से। बात सुलझी रहे, इसलिए हम इन पर अलग-अलग विचार करेंगे। पहले हम समस्या के उस पहलू पर विचार करेंगे जिसका सम्बन्ध केवल हिन्दी प्रदेश से है।

हिन्दी प्रदेश से हमारा तात्पर्य बिहार, संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत, दिल्ली, अजमेर, राजपूताना एजेन्सी तथा मध्य भारत ऐजेन्सी से है। इस बड़े भूभाग में बोलचाल के लिये अनेक बोलियों का प्रयोग होता है परन्तु शिष्ट-भाषा और नगरों की भाषा के रूप में खड़ी बोली ही व्यवहार में आती है। संयुक्तप्रांत और दिल्ली को छोड़ कर शेष समस्त हिन्दी प्रदेश के सामने हिन्दी-उर्दू की कोई समस्या ही नहीं है। शिष्ट भाषा में संस्कृतिप्रधान खड़ी बोली ही काम में आती है। बिहार, मध्यप्रांत, दिल्ली तथा अजमेर की साहित्यिक भाषा भी यही संस्कृत बहुल हिन्दी है जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। बोलचाल के लिए जैसे अन्य भागों में प्रांतीय बोली या प्रादेशिक भाषा चलती उसी प्रकार यहाँ भी चलती है। रह गये संयुक्तप्रांत और दिल्ली। यहाँ की परिस्थिति विचित्र है। इन दोनों प्रांतों में शिष्ट भाषा नगरों की भाषा और साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के दो रूप चल रहे हैं—एक को हिन्दी कहा जाता है, दूसरी को उर्दू। हिन्दी देवनागरी

लिपि में लिखी जाती है, उर्दू फ़ारसी लिपि में। खड़ी बोली के उन दोनों रूपों में जो साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार हुये हैं, व्याकरण की लगभग समानता है। उर्दू में फारसी व्याकरण का कुछ अंश अवश्य है जैसे सम्बन्ध-बोधक विभक्ति के लिए इजाफ़त का प्रयोग। शब्दकोष की दृष्टि से हिन्दी खड़ी बोली भारतीय भाषाओं की परम्परा से अधिक निकट है। साहित्य की दृष्टि से दोनों में महान् अंतर है। उर्दू का साहित्य फारसी साहित्य के साँचे में ढला है—छन्द फारसी, भावना फ़ारसी, उपमा-उत्प्रेक्षाएँ विदेशी। उत्तर-पश्चिमी हिन्दी प्रदेश का अधिकांश भाग और अन्य भागों की मुसलमान जनता इसी साहित्य को पढ़ती है। कायस्थ, काश्मीरी पण्डित, अदालत-कचहरी के लोग, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान अब भी उर्दू साहित्य, भाषा और फ़ारसी लिपि को पकड़े हुए चल रहे हैं यद्यपि उनमें प्रतिदिन हिन्दी का अधिक प्रचार होता जा रहा है, विशेषकर कायस्थ-वर्ग में। अब हमें यह देखना चाहिये कि इस प्रदेश में हिन्दी-उर्दू समस्या का रूप क्या है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, कोई समस्या नहीं है। मुसलमान और कुछ हिन्दू उर्दू साहित्य पढ़ते-लिखते हैं परन्तु हिन्दू साहित्यिक धीरे-धीरे उर्दू साहित्य को छोड़ कर हिन्दी साहित्य की ओर आ रहे हैं। प्रेमचंद उदाहरण हैं। हिन्दू हिन्दी साहित्य पढ़ते हैं। दोनों अपने-अपने साहित्य को पहचानते हैं और न उस साहित्य को छोड़ना चाहते हैं, न साहित्यिक परम्पराओं को। उर्दू के साहित्यिकों से बराबर यह कहा जा रहा है कि फारसी साहित्य की परम्पराओं और विदेशी भावनाओं को छोड़ कर भारतीय परिधान स्वीकार करें, कुछ साहित्यिकों ने प्रयोग किये भी हैं, परन्तु अब भी उर्दू का नया साहित्य भारतीय संस्कृति से दूर है। साहित्य की आवश्यकताओं के कारण भाषा संस्कृत-प्रधान या फारसी प्रधान रहती है। "भाषा सरल करो"—यह

पुकार दोनों दलों में सुनाई पड़ती है परन्तु कथा-कहानी की भाषा को छोड़ कर सरलता किस प्रकार लाई जा सकेगी, यह देखना है। बोलचाल की शिष्ट भाषा के सम्बन्ध में भी कोई झगड़ा नहीं है। उस पर साहित्यिकों या सरकार का कोई नियंत्रण हो ही नहीं सकता। समस्या है शिक्षा और राजकाज-सम्बन्धी। शिक्षा किस भाषा में हो, राजनैतिक कार्यों में किस भाषा का व्यवहार हो? कठिनाई इसी जगह है।

शिक्षा-सम्बन्धी समस्या का हल दो प्रकार से हो सकता है—या दोनों भाषाएँ और उनका पाठ्यसाहित्य अनिवार्य कर दिया जाय या पढ़ने वाले की इच्छा पर छोड़ दिया जाय कि वह दोनों में से किसी भाषा को स्वीकार करे। पहली बात एकदम अनुचित होगी। जहाँ तक उर्दू भाषा का सम्बन्ध है, उसके बोलने वालों की संख्या हिन्दी प्रदेश में बहुत कम है, उसके साहित्य को समझने वालों की संख्या भी कम है, अतः सारे हिन्दी प्रदेश पर अनिवार्य रूप से इसे लादना अन्याय होगा। दोनों भाषाओं में शब्दकोष का ही भेद मुख्य है, अतः हिन्दी भाषा पढ़ने वाले को फारसी शब्द जानने के लिए ही यदि उर्दू भी पढ़ना पड़े तो यह शक्ति का अपव्यय होगा। यदि मुसलमान-सभ्यता और संस्कृति से ही उसे परिचित कराना है, तो भी यह मार्ग ठीक नहीं है। क्या पाठ्य-पुस्तकों में इस्लामी कथाएं नहीं दी जा सकतीं? क्या उसके नेताओं के जीवन चरित जानने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें फारसी लिपि और उर्दू भाषा में ही पढ़ा जाय? इसी तरह उर्दू भाषा की पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दू नेताओं, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू साहित्य के सम्बन्ध में पाठ रखे जा सकते हैं। शिक्षा-विभाग ने एक नया मार्ग ढूँढ़ निकाला है। भाषा सरल रहे। पाठ इस प्रकार रहें कि देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में एक ही पाठ लिखे जायें। बिहार प्रांत में ऐसी पाठ्य पुस्तकों ने हिन्दी

के समर्थकों को क्षुब्ध कर दिया है। इसका कारण यह है कि यह निश्चित रूप से जानना कठिन है कि संस्कृत पर्याय कठिन है या फारसी पर्याय और पाठ्य-पुस्तकों में संस्कृति पर्याय के स्थान पर सभी जगह फारसी शब्द रखे हैं। यही नहीं, सरल हिन्दी शब्दों के स्थान पर भी उर्दू शब्द रखे गये हैं—"राजा" के लिए "बादशाह", "रानी" के लिये "बेगम", घर के लिये "मकान"। जहाँ नये पारिभाषिक शब्द गढ़े गये हैं, वहाँ भाषा-सारल्य के लिए प्रयत्न हास्यास्पद हो गया है जैसे "Tangent" के लिए "घेरा-चूम" शब्द का प्रयोग। इस प्रकार न हिन्दी भाषा और साहित्य ही सुरक्षित है न हिन्दी अथवा भारतीय संस्कृति की परम्परा ही सुरक्षित रह सकेगी। इस नई मनगढ़ंत भाषा को "हिन्दुस्तानी" नाम देकर चलाया जा रहा है।

जब तक बोलचाल की व्यापक शिष्ट भाषा के लिए "हिन्दुस्तानी" शब्द का प्रयोग होता है अथवा उसे साहित्यिक हिन्दी या साहित्यिक उर्दू से विशिष्ट एक नई भाषा माना जाता है, तब तक कोई मतभेद नहीं हो सकता, यद्यपि दृष्टिकोण वहाँ भी गलत है। बोलचाल की भाषा भी साहित्यिक भाषाओं से बहुत कुछ लेती है। आखिर "हिन्दुस्तानी" का आधार क्या है? क्या वह खड़ी बोली पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की ग्रामीण भाषा है? नहीं, निश्चय ही उसका आधार साहित्यिक हिन्दी या साहित्यिक उर्दू ही है और उसे शिक्षित ही बोलते हैं। उर्दू पढ़े-लिखों की भाषा में फारसी शब्दों की अधिकता रहती है, हिन्दी पढ़े-लिखे वालों में संस्कृत शब्दों की। संस्कृति और सभ्यता-मूलक विशेषताओं के कारण हिन्दू बोलचाल की भाषा में बहुत से संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर डालता है, मुसलमान अपनी आवश्यकता फारसी-अरबी शब्दों से पूरी करता है। इसके अतिरिक्त प्रांतीय बोलियों (अवधी, वृज, बुन्देली, बघेली) आदि के भी बहुत से शब्द और

१५

प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु इस बोलचाल की भाषा में न साहित्य बना है, न बन सकता है, अतः शिक्षा के लिए इसका आग्रह ही व्यर्थ है। व्यवहार की भाषा व्यवहार के सिलसिले में सीख ली जाती है, उसके लिए परिश्रम और समय का अपव्यय बेकार है। प्रारम्भिक शिक्षा साहित्य तक पहुँचने की सीढ़ी है। भाषा बोलना सिखाने के लिए हम लड़कों को स्कूल नहीं भेजते। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्रों में दोनों भाषाएं अलग-अलग चल रहीं, उस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी चलें। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जब हम साहित्य के लिए एक भाषा न गढ़ सकते हैं, न गढ़ी भाषा को साहित्यिकों को स्वीकार करा सकते हैं, तब तक शिक्षा के लिए "हिन्दुस्तानी" भाषा का प्रयोग निराधार है। साहित्य में "हिन्दुस्तानी" का प्रयोग हो, यह चिल्लाहट हो तो रही हैं, परन्तु आज तक "हिन्दुस्तानी" भाषा में न कोई कविता लिखी गई है, न उपन्यास।

राजनैतिक क्षेत्र में समस्या का हल क्या हो? वास्तव में राजनैतिक क्षेत्र में हम न हिन्दी बोलते हैं, न उर्दू, सामान्य शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें कोई संस्कृत शब्द अधिक बोलता है, कोई फारसी। जो भाषा बोली जाती है, उसका लगभग वही रूप है जो शिष्ट लोगों की व्यवहार की भाषा का रूप है। अन्तर इतना है कि व्यवहार की भाषा लिखी नहीं जाती, इस भाषा को समाचार-पत्रों, रिपोर्टों आदि के रूप में लिखना पड़ेगा। समस्या का हल सरल है। बोलचाल की भाषा या राजनैतिक भाषा को हम स्वीकार कर लें, हाँ, वह देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाय। उसमें आवश्यकतानुसार फारसी और उर्दू शब्दों का प्रयोग हो। इस भाषा में हिन्दी या उर्दू शब्दकोष और साहित्यिक शैलियों का ही प्रयोग होगा, अतः इसके लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। जब तक

कोई हठकर एकदम साहित्यिक उर्दू या हिन्दी न बोलने लगेगा तब तक यह भाषा दूसरे वर्ग को अगम नहीं होगी।

अब हम समस्या के दूसरे पहलू पर विचार करेंगे जिसका सम्बन्ध सारे भारत राष्ट्र से है।

हिन्दी प्रदेश की मध्यवर्ती स्थिति, उसकी संस्कृति की केन्द्रस्थिति उसका विस्तार और व्यवहार की भाषा के रूप में मध्ययुग से अब तक समस्त भारत में उसकी अखंड परम्परा इस बात को निश्चित कर देती है, कि यहीं की भाषा राष्ट्र भाषा बनेगी। अब तक दो भाषाओं का प्रयोग राष्ट्र भाषा के रूप में होता है—अंग्रेज़ी उच्च-शिक्षाप्राप्त वर्ग की राष्ट्रभाषा है, सामान्य जनता खड़ी बोली का ही प्रयोग करती है। काश्मीर से कन्याकुमारी और कराँची से आसाम तक वस्तुस्थिति यही है। अंग्रेज़ी प्रभुता के हटने की कल्पना करते ही अंग्रेज़ी भाषा के राष्ट्रभाषा रूप का भी अंत स्पष्ट हो जाता है। तब हिन्दी और उर्दू के समर्थक झगड़ने लगते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में न साहित्यिक हिन्दी स्वीकार की जा सकती है, न साहित्यिक उर्दू। जो भाषा सारे हिन्दी प्रदेश में प्रतिदिन के व्यवहार के लिये प्रयोग में आती है, वही भाषा, प्रांतीय शब्दों का मेल लेकर, सारे भारत में व्यवहार होती है और होती रहेगी। राजकार्यों के लिए हिन्दी प्रदेश की राजभाषा ("हिन्दुस्तानी" कहिये या जो नाम दीजिये") का प्रयोग होगा। यह आवश्यकता नहीं है कि उसे बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू के शब्दों से भरा जाय। परन्तु यह निश्चित है कि थोड़े ही समय में इसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य हो जायगा क्योंकि अन्य प्रांतीय भाषाओं में परस्पर और हिन्दुस्तानी में संस्कृत शब्दों की समानता रहेगी। उदाहरण के लिए बँगला, मराठी और गुजराती में अनेक एक ही भाववाची संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है। जब बँगला, मराठी और

गुजराती बोलने वाले पास-पास आयेंगे, तो यह समान शब्द अधिक प्रयोग में आयेंगे, यह निश्चित है। इस प्रकार थोड़े समय बाद राजकाज के रूप में व्यवहार में आने वाली राष्ट्रभाषा साहित्यिक हिन्दी के बहुत समीप आ जायगी। उर्दू के समर्थक कितना ही प्रयत्न करें, यह बात रोकी ही नहीं जा सकती। फिर भी जन-समाज में प्रचलित राष्ट्रभाषा और इस राजकाज के बीच में प्रचलित भाषा में पर्याप्त अंतर रहेगा ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत राष्ट्र की भाषा की दृष्टि से या राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी-उर्दू की समस्या नहीं सुलझ सकती। समस्या का यह रूप गौरव है। राष्ट्रभाषा के लिए, जहाँ तक राज्य-कार्य का सम्बन्ध है, अंग्रेजों के जाने पर भी हम अंग्रेजी चला सकते हैं। इससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। परन्तु यह अवांच्छनीय अवश्य होगा और इससे हमारे आत्म गौरव को धक्का लगेगा। परन्तु जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिए न हमें उसे हिन्दी का साहित्य पढ़ाना पड़ेगा, न उर्दू का साहित्य। वास्तव में हिन्दी-उर्दू की समस्या मूलतः हिन्दी प्रदेश की समस्या है। यह न समझ कर हम बड़ी गलती कर रहे हैं। साहित्यभाषा की दृष्टि से उर्दू का प्रधान क्षेत्र पश्चिमी भारत है, हिन्दी प्रदेश नहीं, जहाँ उर्दू वाले इस बात को न समझ कर हिन्दी को निकालने और उसके ऊपर उर्दू लादने की बात सोचते हैं, वहाँ हिन्दी वाले यह ठेका ले लेते हैं कि वे राष्ट्रभाषा का रूप बना रहे या राष्ट्रभाषा का साहित्य खड़ा कर रहे हैं। दोनों बातें भ्रामक हैं। न राष्ट्रभाषा का स्वरूप ही हिन्दी वाले निश्चित करते, न उसके साहित्य की रचना ही। जब स्वरूप निश्चित हो जायगा तो आवश्यकतानुसार साहित्य भी बन लेगा।

३८. राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दुस्तानी

(१) राष्ट्रभाषा आन्दोलन का इतिहास और वर्तमान स्थिति, (२) हिन्दी-उर्दू हिन्दुस्तानी—हिन्दी-उर्दू की साहित्यिक शैलियों की नितान्त अभिन्नता; हिन्दुस्तानी के साहित्य का अभाव (३) सरल हिन्दी, सरल उर्दू और हिन्दुस्तानी (४) हिन्दुस्तानी के सभी नमूनों में सरल हिन्दी की उपेक्षा (५) "हिन्दुस्तानी" का इतिहास (६) राष्ट्रभाषा का रूप उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के ही अधिक निकट होगा।

जब राष्ट्र के लिए किसी एक सर्वसुलभ, सार्वभौमिक भाषा की आवश्यकता की बात आती है तो विद्वानों के कई दल हो जाते हैं। कुछ बंगाली विद्वान कहते हैं कि भारतवर्ष में बंगाली सबसे अधिक बोली जाती है, संसार की भाषाओं में संख्या की दृष्टि से उसका पाँचवा स्थान है, अतः वही राष्ट्रभाषा हो उनका कहना है कि जिस खड़ी बोली हिंदी को राष्ट्रभाषा कहा जा रहा है उसे केवल युक्तप्रांत के पश्चिमी कोने में मातृभापा के रूप में स्वीकार किया जाता है, शेप हिन्दी प्रांत में अनेक बोलियाँ चल रही हैं। हमारे बंगाल में बंगाली का एक ही रूप है। परन्तु डा० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे लोकश्रुत बंगभाषा मर्मज्ञ हिन्दी को ही राष्ट्रभापा के रूप में स्वीकार करते हैं। अब बंगाली को राष्ट्रभाषा बनाने की बात दब गई है। विद्वानों का एक दूसरा वर्ग अंग्रेज़ी को ही राष्ट्रभाषा मान रहा है, परन्तु यह वर्ग अत्यन्त अल्पसंख्यक है, और यह धीरे धीरे हिन्दुस्तानी "राष्ट्रभाषा" के मत की ओर झुक रहा है। अन्य किसी भारतीय प्रांतीय भाषा के लिए राष्ट्रभाषा का दावा उपस्थित नहीं किया गया है। प्रश्न केवल हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तक रह जाता है। इसमें कौन एक राष्ट्रभाषा हो ?

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों खड़ी बोली के तीन रूप हैं।

इनके सर्वनाम, क्रियाएँ और सम्बन्धबोधक अव्यय एक ही हैं, केवल शब्दकोष और शैली में भिन्नता है। जहाँ तीनों के साहित्य का प्रश्न आता है, वहाँ परिस्थिति यह है कि हिन्दी, उर्दू का अपना-अपना विशाल साहित्य है जो भाषा, शब्दकोष, शैली और संस्कृत की दृष्टि से भिन्न है। उर्दू फ़ारसी के ढाँचे पर ढकी है, उसके भीतर उसीकी विदेशी संस्कृति की आत्मा बोलती है। हिन्दी संस्कृत से सहारा लेती है, उसका साहित्य अपभ्रंश, पाली, प्राकृत के साहित्यों की परम्परा में आता है और उसमें विदेशी संस्कृति और साहित्य की परम्परा का लगभग कुछ भी महत्त्वपूर्ण मिश्रण नहीं हुआ है। वह सम्पूर्णतः एतद्देशीय है। हिन्दुस्तानी का अपना साहित्य कुछ भी नहीं है। उसके शब्दकोश में हिन्दी, उर्दू के सरल शब्द अपना लिये गये हैं, संस्कृत-फारसी शब्दों को ग्रहण नहीं किया गया है। हिन्दी-उर्दू की अपनी-अपनी शैलियाँ हैं, परन्तु हिन्दुस्तानी की अभी अपनी कोई शैली नहीं है। हिन्दी की शैलियाँ हैं—

मृगियों ने चंचल अवलोकन औ चकोर ने निशा मिसार
सारस ने मदु ग्रीवालेपन हंसों ने गति वारि विहार
पावसलास प्रमत्त शिखी ने प्रवदा ने सेवा शृंगार
स्वातितृष्णा सीखी चातक ने मधुकर ने मादक गुंजार

"इटली जैसा आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित प्रबल राष्ट्र अभी तक अबीसीनियाँ को पूर्णरूप से पददलित नहीं कर सका है। निस्संदेह अबीसीनियाँ के निवासी असाधारण योद्धा हैं और पिछले दिनों युद्धक्षेत्र में अपने शौर्य और वीर्य का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है। उन्हें अपनी स्वाधीनता का अभिमान है। और इस सारी अवस्था का श्रेय सम्राट् हेलसलासि को है जिन्होंने अपने राष्ट्र के इस महान्संकट काल में अपरिमित साहस और अप्रतिम बुद्धिमता का परिचय दिया है।"

उर्दू की शैलियाँ इस प्रकार है—

अहबाब की यह मिजाज़दानी, अफ़सोस !
यह कुफ़ बदोश बदगुमानी, अफ़सोस !
"जोश" और बने उदूये अर्बाबे-सखुन,
अफ़सोस है ऐ सिरश्तेफ़ानी, अफ़सोस !!

"इस बारे में "तन्वीर" की उसूली शाहराह यह होगी कि वह हमारी हाजिरउल वक्त हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी के हालात व हवादिस को अपनी जौलानगाहे फ़िक्रो-नज़र बनायेगा। इन मआमलात से हमारे रसायल व जरायह की बेएतनाई एक अजीब मासूम बेखबरी की अदा रखती है। हम सब कुछ कहते और सुनते हैं लेकिन हमारी गुफ्तो-शुनीद से वही बातें मुस्तस्ना हो गई हैं जो हमारी जात व हयात हमारे मसालह और मुनाफ़अ से क़रीबतरीन वास्ता रखती है।"

सरल हिन्दी और सरल उर्दू भी लिखी जाती है परन्तु सरलता का विशेष पक्षपात साहित्यिकों में नहीं दिखलाई पड़ता और जहाँ दिखलाई पड़ता है वहाँ केवल कथा-कहानी तक ही सीमित रह जाता है, शैली की विशिष्टता के प्रयत्न और गम्भीर भावों को सरल भाषा में प्रगट करने की कठिनाई के कारण अन्य प्रकार के साहित्य में सरल हिन्दी और सरल उर्दू के आन्दोलन सफल होते नहीं दिखलाई देते। साहित्य की जितनी शैलियाँ दोनों भाषाओं में चल रही हैं, उनमें इतनी अधिक भिन्नता है कि शायद ही कोई बुद्धिमान उनके आधार पर दोनों भाषाओं को एक कह सके।

हिन्दुस्तानी सरल हिन्दी और सरल उर्दू साहित्य से मिलती-जुलती है, परन्तु उसमें न कोई शैली है, न कोई साहित्य। सिद्धान्त के आश्रित बोलने वालों की भाषा उनके उर्दू ज्ञान या हिन्दी ज्ञान के साथ-साथ फ़ारसी शब्दावली-प्रधान या संस्कृत

शब्दावली-प्रधान या कभी-कभी खिचड़ी ही होकर रह जाती है। नीचे हिंदुस्तानी के कई नमूने हैं।

"हम इस फरेब में मुबतला नहीं हैं कि इस सहीअ नाम 'हिंदुस्तानी' के रिवाज दे देने से हमारी ज़बान की सारी मुश्किलें ख़त्म हो जायंगी। बल्कि हम यह समझते हैं कि आज जब हम अपनी जबान की असली पोज़ीशन को दुनिया पर वाजअ करने और इसके हमागीर तख़ील को साबित करने और इसको सारे मुल्क की ज़बान बनाने का ताहिया कर रहे हैं, तो ज़रूरत है कि हम सबसे पहिले इसको इसके नाम से रूशनास करायें जिससे इसकी असली हैसियत वाजअ होती है।" (इसमें और उर्दू गद्य शैली में कोई भेद नहीं। हिंदी का एक भी शब्द नहीं आया है, यद्यपि अंग्रेजी के एक शब्द ने स्थान पा लिया है।) "हिंदुओं के लिए लल्लूजीलाल, बेनीनारायण वगैर: को हुक्म मिला कि नस्र की किताबें तैयार करें, उन्हें और भी ज्याद: मुश्किलों का सामना करना पड़ा। अदब की भाषा ब्रज थी लेकिन उसमें गद्य या नस्र नाम के लिए नहीं था, क्या करते! उन्होंने एक रास्ता निकाला कि पीर अम्मन, "अफसोरु" वगैर: की ज़बानों को अपनाया पर उसमें फारसी और अरबी के लफ़्ज छोड़ दिये और संस्कृत और हिंदी के रख दिए।" (इसमें हिंदी के केवल दो शब्द हैं भाषा और गद्य जिनमें दूसरे को फारसी साम्यवाची शब्द "नस्र" से समझाया गया है।)

"जितने अरबी-फारसी के लफ़्जों को हिंदी के अच्छे लिखने-वालों ने इस्तेमाल किया है और जितने संस्कृत के शब्दों को अच्छे उर्दू लिखने वाले ने व्यवहार किया है उनको हिंदोस्तानी में ले लेना चाहिए। उनके अलावा आवश्यकतानुसार और भी शब्द लिए जा सकते हैं।" (इसमें एक ही अर्थ के लिए कभी उर्दू शब्द का प्रयोग है, कभी हिंदी या संस्कृत जैसे लफ़्ज, शब्द,

इस्तेमाल व्यवहार। आवश्यकतानुसार का प्रयोग उर्दू वाले नहीं समझेंगे। यह हिंदोस्तानी का हिंदी-उर्दू खिचड़ी रूप है।)

"एक ज़माना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बग़ैर कोई घर खाली न था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मज़बूत और जफ़ाकश होते थे, मगर अब तो अंग्रेज़ी तहज़ीब और मुआशरत ने सिर्फ़ शहरों में ही नहीं देहातों में भी कायापलट दी है।"

(प्रेमचंद इसको हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना समझते हैं !)

स्पष्ट है कि इन तीनों-चारों नमूने में सरल हिंदी की उपेक्षा की गई है, इन्हें या तो सरल उर्दू या कठिन उर्दू या "खिचड़ी" कह सकते, परन्तु हिंदी से ये नमूने बहुत दूर पड़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि "हिंदुस्तानी" के समर्थकों का रुझान उर्दू की तरफ है जिसमें कहीं-कहीं दो-एक प्रचलित शब्दों या एक आध संस्कृत के शब्द को बिगाड़ कर बोला जा सकेगा। यह भी साफ़ है कि जहाँ तक ऊपर के नमूनों का सम्बन्ध है यह हिंदी-उर्दू प्रदेश तक ही सीमित है, इनमें "हिंदोस्तानी" को कदाचित् ऐसी भाषा समझ लिया गया है जिसका प्रयोग केवल हिंदी-उर्दू प्रदेश में होगा। हमें बंगाली, हिंदुस्तानी, मराठी-हिंदुस्तानी, गुजराती, हिंदुस्तानी, "दकिनी" हिंदोस्तानी—सभी के नमूने मिलने चाहिए जिससे हम व्यापक रूप से हिंदुस्तानी पर विचार कर सकें। हिंदुस्तानी की समस्या हिंदी-उर्दू समस्या से भिन्न है, वह सारे देश की समस्या है। उस पर इसी दृष्टिकोण से विचार होना चाहिए। अंग्रेजी शिक्षित हिंदी-उर्दू भाषा व्यक्ति एक तरह की "हिंदोस्तानी" बोलते हैं या जो उर्दू होती है या उर्दू, उसमें अंग्रेजी के शब्द खप सकते हैं परन्तु संस्कृत, फारसी के शब्द नहीं। "साहब लोग" भी एक तरह की हिंदुस्तानी बोलते

हैं। यही नहीं, लगभग २-३ शताब्दियों से सिन्धी, पंजाबी, मारवाड़ी, पश्तो आदि भाषाओं के साथ मिला जुला कर "हिंदुस्तानी" के अनेक रूप व्यवहार में आते रहे हैं।

वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि हम समस्या के ठीक-ठीक रूप को समझ लें। इसके लिए "हिंदोस्तानी" के इतिहास को समझना होगा।

१—अंग्रेजों से आने के पहले खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग लगभग सारे भारतवर्ष में जन-साधारण में हो चला था। मुसलमान विजेताओं की "हिंदी" या "हिंदवी" इसका एक रूप मात्र था जो मुसलमानों और पढ़े-लिखे हिंदुओं में चल रहा था। यद्यपि "भाषा" (खड़ी बोली हिंदी) में साहित्य ब्रज और अवधी तक ही सीमित था, विशेष कर साहित्य रचना "ब्रज भाषा" में होती थी, परन्तु "भाषा" का प्रयोग बोलचाल के रूप में सारे हिंदी प्रदेश में चलता था और हिंदी प्रदेश के बाहर भी व्यापार, धर्म प्रचार आदि की भाषा के रूप में इसीका प्रयोग होता था।

२—अंग्रेज जब यहाँ आये तो उन्होंने राजकाज के लिये फारसी का व्यवहार पाया और जिस शिक्षित-वर्ग से उनका सम्पर्क हुआ, वह फ़ारसी शब्दावलीप्रधान ख़ड़ी बोलता था। उसमें साहित्य बहुत कम था। जब तक देश की बागडोर अंग्रेजों में आई, तब तक उर्दू का पर्याप्त साहित्य बन चुका था। अंग्रेजों ने "हिंदुस्तानी" का नाम देकर इसको खूब प्रश्रय दिया। फ़ोर्ट विलियम कालेज प्रमाण है। १८३५ में फारसी के स्थान पर उर्दू संयुक्तप्रांत की अदालती भाषा बन गई। १८६० तक हिंदी को विशेष स्थान नहीं मिला। उर्दू ही "हिंदुस्तानी" के नाम पर चलती रही। परन्तु इस सारे समय में व्यापक देश भाषा के रूप में व्यापार धर्म-प्रचार, पारस्परिक सहयोग के लिए खड़ी हिंदी से मिलती-जुलती भाषा का ही प्रयोग होता था। अंग्रेजी की

"हिंदुस्तानी" आज भी उर्दू है। राजनैतिक क्षेत्र में वे उसीके समर्थक हैं।

३—हिंदुस्तान का आधुनिक आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना का फल है और उसका रूप अंग्रेजों के हिंदुस्तानी आंदोलन से भिन्न है। जब १९१९ में कांग्रेस ने देशव्यापी आन्दोलन को आरम्भ किया तो यह पता लग गया कि अंग्रेजी छोड़ कर जनता तक पहुँचने के लिए देशी भाषा का प्रयोग करना पड़ेगा। बाद के आंदोलन में दिशा को दृढ़ कर दिया। जनता में, जैसा हम कह आये, मुसलमानों के राज्य से ही खड़ी हिंदी चल रही थी, इसी कारण वह, उन नेताओं के सम्पर्क में शीघ्र आ सकी जो हिंदी या उर्दू का प्रयोग करते हैं, हाँ वह उर्दू उतनी ही समझती थी जितनी क्रिया, सर्वनाम, हिंदी शब्दकोष आदि के सहारे समझ सकती थी। जितने फारसी के शब्दों से वह परिचित थी, वे अधिक नहीं थे। कठिनाई तब उपस्थित हुई जब नेताओं ने अंग्रेजी के स्थान पर "हिंदुस्तानी" ही कांग्रेस की भाषा मानी और उसके रूप को निश्चित करने की चेष्टा की। महात्माजी ने कहा राष्ट्रभाषा "हिंदी-हिंदुस्तानी" होगी। इसके कई अर्थ हो सकते थे क्योंकि शब्द ही भ्रामात्मक था। "हिंदुस्तानी" क्या हो, "हिंदी-हिंदुस्तानी" क्या हो ? इन दोनों में भेद कहाँ है ? उर्दू के समर्थकों में हिंदुस्तानी को तो पकड़ लिया और हिंदी पर हड़ताल फेर दी। उनकी समझ में हिंदुस्तानी उर्दू का सरलरूप भर है, उसका हिंदी से कोई सम्बन्ध नहीं। हिंदी वालों ने समझा हिंदी का ही सरल रूप हिंदुस्तानी है। राजकाज में जिस हिन्दुस्तानी की बात चलती रही है और उर्दू के नाम से जिसका प्रयोग १९६० तक हिन्दी प्रदेश पर लादा गया, उससे यह भिन्न है। एक बवंडर ही उठ खड़ा हुआ और गांधीजी को राष्ट्रभाषा को "हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी" नाम देना पड़ा। महात्माजी ने कहा कि

"हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी" में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द प्राकृतिक भाषाओं के शब्द, देशज शब्द और प्रांतिक शब्द के साथ-साथ अरबी फारसी, अंग्रेजी भाषाओं से लिए गए शब्दों का प्रयोग साधु है।" परिस्थिति उस समय और भी विषम हो गई जब हिन्दी प्रचार और राष्ट्रभाषा प्रचार को एक ही समझ लिया गया है। हिन्दी प्रचार के मोह में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने "हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी" का समर्थन किया, अर्थात् हिन्दी का वह रूप जो हिन्दुस्तान की भाषा का रूप हो और जिसे हिन्दुस्तान के रहने वाले हिंन्दुस्तानी कहें। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इसी राष्ट्रादि दृष्टिकोण से हिन्दी भाषा की दो लिपियाँ स्वीकार कीं।

यह है हिन्दुस्तानी आन्दोलन का इतिहास। स्पष्ट है कि अंग्रेज़ भ्रम में थे और अब कांग्रेस के नेता, अधिकारी, उर्दू के समर्थक और हिन्दी साहित्य सम्मेलन सभी भ्रम में हैं। कठिनाई की जड़ यह है कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का रूप बहुत कुछ मिलता जुलता रहेगा और हिन्दी, उर्दू के समर्थक हिन्दुस्तानी को उर्दू या हिन्दी के ही ढाँचे में ढालना चाहते हैं।

राष्ट्र भाषा का जो रूप होगा, वह उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के ही अधिक निकट होगा, यह निश्चित है। कारण यह है कि सभी प्रांतीय भाषाओं में संस्कृत शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रयोगाभाव के कारण इस बोल-चाल की भाषा में संस्कृत शब्दावली बाहुल्य होगी, परन्तु प्रांतीय भाषाओं के शब्द और प्रयोग भी आ जायेंगे। इसे "हिन्दी राष्ट्रभाषा" "राष्ट्रभाषा हिंदी" या "हिन्दुस्तानी" जो कहो, इसका प्रयोग समय निश्चित करेगा, हिंदी-उर्दू प्रदेश नहीं। दूसरी बात यह है कि इस पर आग्रह नहीं हो सकेगा कि वह देवनागरी और उर्दू दोनों ही लिपियों में लिखी जाय। जब तक बँगला, सिंधी, गुरुमुखी,

तामिल, तलेगू आदि लिपियों के स्थान पर देवनागरी लिपि का प्रयोग नहीं होता, निकट भविष्य में ऐसा होता नहीं दीखता, तब तक इसे सभी लिपियों में लिखा जायगा। हाँ, यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष में देवनागरी और फ़ारसी लिपियों का ही प्रचार हो जाय और शेष लिपियाँ समाप्त हो जायें, तो यह आग्रह ठीक होगा। वास्तव में "हिन्दुस्तानी" की समस्या "हिन्दी की समस्या" नहीं है, न वह केवल अधिकारियों या नेताओं की समस्या है, वह सब की मिली-जुली समस्या है, और अभी से किसी एक निश्चय पर आ जाना असंभव है।

३९. हिन्दी का नया और पुराना साहित्य

(१) भूमिका (२) पुराने साहित्य की ४ मूल भावनाएँ—भक्ति, वैराग्य, शृंगार, वीरत्व (३) नये साहित्य में इन परम्परागत भावनाओं का रूप (४) नई भावनाएँ—देश-भक्ति, स्वतन्त्रता और विश्वबंधुत्व की भावना, समाज-सुधार, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय-जातीय एवं व्यक्ति की समस्याएँ (५) नये साहित्य में गद्य का नेतृत्व (६) दो बड़े भेद—प्राचीन साहित्य रस धर्मी था, नवीन साहित्य मूल में कल्पनात्मक और बुद्धिधर्मी है (७) उपसंहार।

हिन्दी के नये और पुराने साहित्य में इतनी अधिक असमानताएँ हैं कि उनकी रूपरेखा निश्चित करना और उनके मौलिक भेदों को ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। साधारण रूप से हम १८५० को विभाजन-रेखा मान सकते हैं। १८५० के पहले का साहित्य पुराना साहित्य है, इसके बाद का नया साहित्य है।

पुराने साहित्य में हमें चार मूल भावनाओं की प्रधानता मिलती है—भक्ति-धर्म, वैराग्य, शृंगार और वीर भावना। बहुधा किसी एक प्रकार के साहित्य में ये भावनाएँ शुद्ध रूप में अलग-

अलग नहीं मिलेंगी। भक्ति-काव्य में भक्ति और शृंगार का मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार संत-साहित्य में जहाँ वैराग्य भावना है, वहाँ निर्गुण के प्रति भक्ति भी है। हिन्दी का प्राचीन वीर-काव्य शृंगार की भावना पर आश्रित है। इस प्रकार हिन्दी के पुराने साहित्य में हमें उपरोक्त भावनाएँ कभी शुद्ध, कभी मिश्रित रूप में मिलेंगी। हिंदू राष्ट्रों की पराजय इतनी शीघ्रता से हुई कि जातीय वीर-काव्य के निर्माण के लिए समय ही नहीं मिला। मध्ययुग के अन्त में हमें सूदन, भूषण और गुरुगोविन्दसिंह के रूप में जातीय वीरता का गान करने वाले कुछ कवि अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। राष्ट्रीय वीर-भावना का तो एकदम अभाव है क्योंकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले ही हिन्दू राष्ट्र-भावना से हाथ धो बैठे थे। मुग़लों के समय में कुछ काल तक सारा उत्तर-दक्षिण भारत एकछत्र सम्राटों के शासन में रहा, परन्तु राष्ट्रीय भावना का पुनरुद्धार नहीं हुआ। पराजित हिन्दू तीर्थयात्राओं और संकल्प-मंत्रों में अवश्य भारत को एक राष्ट्र मानते रहे। नये साहित्य में ये चारों भावनाएँ हैं परन्तु इनका रूप बदल गया है। आजकल भक्ति और वैराग्य को कविता का विषय अधिक नहीं बनाया जाता और इन्हें काव्य का विषय बनाकर जो कुछ लिखा भी जाता है उसका साहित्यिक रूप और साहित्यिक महत्त्व बहुत कम होता है। शृंगार और वीर भावनाएँ कभी प्रगट, कभी अप्रकट रूप में एक बड़ी मात्रा में मिलेंगी परन्तु आलंबन के रूप और भाव प्रकाशन शैली में महान् अन्तर है।

अन्तर कहाँ है, यह देखना भी अनुचित नहीं है। प्राचीन काव्य-साहित्य में नायिका के रूप-वर्णन के, प्रेम और विरह और केलि-विलास के स्थूल चित्रण मिलेंगे। जो कुछ मिलेगा, उसमें रीति-शास्त्र को अनुभूति के ऊपर रखा गया होगा।

आधुनिक प्रेम काव्य में न नखशिख-वर्णन को स्थान मिला है, न केलि-विलास को। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावना-जगत और उनके मनोभावों के सूक्ष्म वैज्ञानिक चित्रण की ओर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। आज दूती, अभिसार, विपरीत रति, सुरतारंभ और सुरतांत का वहिष्कार हो गया है। कवि की दृष्टि हाव-भाव से हट कर प्रेमी की तन्मयता, आत्म-बलिदान की भावना और समर्पण के उत्साह पर ही अधिक जाती है। वीर भावना-मूलक उत्साह का रूप भी बदल गया है। उसमें भी कष्ट-सहन और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को ही प्रधानता मिली है। प्राचीन वीर-काव्य युद्ध के यथार्थ चित्रण पर आश्रित है परन्तु नये कवि को ऐसे वीर-नायक का चित्रण करना नहीं होता जो युद्ध-व्यवसायी है या शस्त्र उठाकर आत्म-रक्षा के लिए उतरता है। आज के वीर काव्य का रूप राष्ट्रीय है। उसके मूल में भारत को स्वतंत्र करने की भावना है। पिछले अहिंसात्मक जन-आन्दोलनों ने खड्ग, रक्तपात और प्रतिहिंसा को काव्य के क्षेत्र से भी निकाल दिया है। इसीलिये वीर काव्य के लिए उस प्रकार के अनुप्रास-प्रधान काव्य की आवश्यकता नहीं रही है जो भूषण और सूदन ने हिन्दी को दिया है।

अनेक नई भावनाओं के भी दर्शन हुए हैं। नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों की गुण-गाथा का गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। नवीन परिस्थितियों ने काव्य के लिए नये विषय दिये हैं। पूर्व मध्ययुग में हमारे साहित्य को भक्ति की धार्मिक भावना ने बाँध रखा था, उत्तर मध्ययुग में उसे संस्कृत

आचार्यों के रीतिशास्त्रों के विधि-विधानों ने जकड़ लिया था। अब पहली बार वह व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के अंतस्तल को छूने लगा है और अंतर्राष्ट्रीय भावनाएँ भी कभी-कभी उसे स्पंदित कर दिया करती हैं।

क्षेत्र की इस विशालता और व्यापकता के कारण अब साहित्य का केन्द्र काव्य नहीं रहा है, गद्य हो गया है। प्रेमचंद के उपन्यास ही आज हमारे महाकाव्य हैं। १८५० से पहले गद्य में बहुत थोड़ा लिखा गया और जो लिखा गया वह किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं है। तब काव्य और साहित्य पर्यायवाची जैसे थे। आज गद्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो शक्ति, जो विभिन्नता, जो विशदता आज गद्य साहित्य में है, वह काव्य में भी नहीं है। नया साहित्य नव रसों को ही जीवन में नहीं ढूँढ़ता। जीवन में नव रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इनके परे भी बहुत कुछ है। नया साहित्य उसे ही खोज रहा है।

प्राचीन और नवीन साहित्य में जो एक अन्तर अत्यन्त मुखर है वह यह है कि प्राचीन साहित्य रस-धर्मी अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्व अधिक नहीं है। थोड़े बहुत आध्यात्म-चिंतन को छोड़ कर बुद्धि को आनन्द देने वाला साहित्य अधिक नहीं है। नवीन साहित्य बुद्धि पर आश्रित है परंतु हृदय को साथ लेकर आगे बढ़ता है। वह हृदय और मस्तिष्क में संतुलन स्थापन करने की चेष्टा कर रहा है यद्यपि वह अभी हृदय की अपेक्षा मन के अधिक निकट है। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि नये साहित्य का आलंबन भौतिक ही अधिक है और इसी-से वह बौद्धिक तत्त्वों को स्थान देने में समर्थ हुआ है। उसके मूल्यांकन के लिए हमें नये सिद्धान्त गढ़ना पड़ेंगे जिनमें हृदय और बुद्धि के तत्त्वों का सामञ्जस्य हो। प्राचीन साहित्य की कई

धाराएँ उसके भीतर अब भी चल रही हैं परन्तु हृदय-धर्म की अपेक्षा बुद्धि धर्म की अधिक प्रधानता के कारण उनका रूप भी बदल गया। उदाहरण-स्वरूप, वैष्णव काव्य-धारा की राम कृष्ण की परम्परा आज भी चल रही है, परंतु आज के राम-कृष्ण-काव्य में भक्ति गौण है, चरित्र-चित्रण, नये मूल्यों के अनुसार कथानक का नवीन संगठन और इसी प्रकार की बुद्धि-मूलक बातें अधिक हैं।

४०. वर्तमान हिन्दी कविता

(१) भारतेंदु वर्तमान हिन्दी कविता के "आदि कवि" हैं (२) वर्तमान हिन्दी कविता में प्राचीन काव्य-धारा की प्रवृत्तियाँ (३) नई प्रवृत्तियों का समावेश (४) भारतेन्दुकाल के उपरांत नवीन प्रवृत्तियों में वृद्धि एवं विकास (५) बीसवीं शताब्दी के दशाब्द के बाद की कविता में नितान्त नवीन प्रवृत्तियाँ (छायावाद)।

भारतेन्दु के साथ हिंदी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रान्ति हो गई। इतिहास की दृष्टि से वर्तमान काल कुछ पहले, लगभग पलासी युद्ध से, आरम्भ हो जाता है, परंतु हिंदी कविता पर नवीन प्रभाव ग़दर के बाद से ही पड़ने आरंभ हुए। इन्होंने ही कालांतर में उसका रूप बदल दिया। अतः भारतेन्दु को ही वर्तमान हिन्दी कविता का "आदि कवि" होने का श्रेय मिलता है।

प्राचीन हिन्दी कविता के विषय धर्म और शृंगार थे, नवीन हिन्दी काव्य में धर्म को गौण स्थान मिला। प्राचीन कवि रस पुष्टि पर अधिक बल देते थे, नवीन कवि भाव-प्रकाशन और भाव-पुष्टि को ध्यान में रखते थे। देश की नवीन परिस्थितियों ने स्वतन्त्रता की भावना देश-प्रेम, समाज सुधार की भावनाओं

को जन्म दिया। कविता के लिए नये विषय मिले। उसका रूप ही नया हो गया।

भारतेन्दु के समय से वर्तमान हिंदी काव्य की जो धारा बही है उसमें प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं—वैष्णव (रामकृष्ण) भक्ति, निर्गुण (संत-भावना), रीति-शृङ्गार भाव। परन्तु साथ ही जिन नई प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है उन्होंने इन भावनाओं को शिथिल कर रखा है। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना है। राष्ट्रीय वीरों का गुणगान, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख-प्रकाश समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू हितैषियता (जातीयता) ये भारतेन्दु काल के काव्य के प्रमुख विषय हैं—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये कितैं गिर
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहिं धूर दिखात जग
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्य मग

(भारतेंदु)

स्त्री गण को शिक्षा देवें कर पतिव्रता यश लेवें
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय
बाल ब्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह काय
विधवा विलपैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं

(प्रतापनारायण मिश्र)

यह समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त संकट का समय था। देश ने हथियार डाल दिये थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा है। देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एक जन-समुदाय धीरे-धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता की बात को भूल कर यह नया शिक्षित वर्ग "साहब" बना जा रहा था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहाँ समाज को उदार बनने के लिए ललकारा—

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोक
वीर प्रसविनी बुध बधू होइ दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिनि होय
(भारतेंदु)

वहाँ हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ भी प्रकट किया—

अंग्रेजी हम पढ़ी तउ अंग्रेज़ न बनिहैं
पहिरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं
भारत ही में जन्म लियो भारत ही रहिहैं
भारत ही के धर्म-कर्म पर विद्या गहिहै
(अंबिकादत्त व्यास)

सबै विदेसी वस्तु नर गति रति रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात
(प्रेमघन)

यद्यपि कवि अंग्रेजी शासन को अच्छा समझते थे, परन्तु

उन्होंने अपने समय की राजनैतिक जागृति को भी पहचाना और ब्रिटिश शासन की बड़ाई करते हुए भी दयनीय दशा के करुण चित्र रखे—

अंग्रेज़ राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै महंगी काल रोग विस्तारी
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हाहा री
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई
(भारतेन्दु)

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (१८८५) देश में आशा का संचार हुआ और कवियों ने नवजागरण का शंखनाद किया—

हुआ प्रबुद्ध बृद्ध भारत निज आरत दशा निशाका
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई
खग बंदेमातरम मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई
उठो आर्यसन्तान सम्भल मिल बस न बिलंब लगाओ
(प्रेमधन)

एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण था। आधुनिक काव्य में प्रकृति को जैसा स्थान मिला है, वैसा पहले कभी नहीं मिला था। पं० श्रीधर पाठक की "ऊजड़-ग्राम" "काश्मीर सुषमा" आदि कविताओं ने कवियों के लिए एक अभिनव क्षेत्र उपस्थित किया।

भारतेन्दुकाल (१८५०-१९००) से चल कर ये प्रवृत्तियाँ निरंतर विकसित, परिमार्जित एवं अनेक अन्य आन्तः प्रवर्तियों से प्रभावित होती हुई अब तक चली आ रही हैं। पहले १०-१५ वर्ष

तक तो कोई परिवर्तन दिखाई ही नहीं देता। पं० रामचरित उपाध्याय, हरिऔध, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० रूपनारायण पांडेय, बाबू मैथली शरण गुप्त प्रभृति कवियों ने भारतीयता, हिन्दूजातीयता, राष्ट्रीयता जैसे विषयों पर उसी तरह लिखा है जिस तरह भारतेन्दुकाल के कवियों ने लिखा, अंतर यह है कि स्वावलंबन का भाव अधिक है, अंग्रेजी राज का गुणगान कुछ कम हो गया है, काव्य में कला का अधिक प्रवेश हो पाया है। परन्तु इतिवृत्तात्मकता बनी है। प्रकृति की ओर कवियों की अभिरुचि अधिक संलग्न दिखाई पड़ती है। यद्यपि अधिकांश कवि प्राकृतिक वस्तुओं की तालिका बाँध कर ही रह जाते हैं, परन्तु पं० रामचंद्र शुक्ल जैसे सहृदय कुछ कवि प्रकृति के अनेक रूपों से प्रभावित होकर उसमें रम जाते हैं और कवियों को प्रकृति के रूपरंग देखने का एक नया ढङ्ग सुझाते हैं। राम और कृष्ण-काव्य में मानवता का अधिक समावेश हो गया है।

बीसवीं शताब्दी के दशाब्द बीतने पर इन प्रवृत्तियों के साथ कुछ नितांत नवीन प्रवृत्तियाँ भी हमारे सामने आती हैं। ये हैं—करुणा की प्रधानता, नैराश्य और नैराश्यमूलक उत्साह, रहस्यवाद, शृंगारिकता को आवरण में प्रकट करने की चेष्टा [प्रच्छन्न नारी-प्रेम], असंयत कल्पना, मानवीय सहानुभूति का विस्तार। इन प्रवृत्तियों के मूल में कई प्रकार की प्रेरणाएँ हैं। राजनैतिक परिस्थितियों, विशेष कर राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को हताश कर दिया था। जीविका की समस्या प्रबल थी। महायुद्ध के बाद संसार के आर्थिक संकलन में एक ऐसी उथल-पुथल हो गई जिसका प्रभाव सभी देशों पर पड़ा। हमारे देश में जहाँ राष्ट्रीय और सामाजिक अनेक समस्याएँ उठ रही थीं, वहाँ अर्थ की विषम समस्या भी उठ खड़ी हुई। इसका प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। पहले कुछ कवियों ने चारों तरफ की स्थिति से

एकदम आँख मोड़ ली और अपनी कल्पनानुभूति द्वारा बनाए हुए सौंदर्य, प्रेम और करुणा के लोक में जैसे खो गये। छाया, लहरें, स्वप्न, आँसू, अनंग, नक्षत्र-जैसे विषयों पर बहुत कुछ लिखा गया परन्तु मनुष्य, उसके दुखसुख, आशाकांक्षा की उपेक्षा की गई। कवि सौंदर्य के रूपों में खो गये थे। सौंदर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि वे उस सौंदर्य का उपयोग नहीं कर सकते। उन्हें सामाजिक और आर्थिक बंधनों का सामना करना पड़ता था। परन्तु उन्होंने इन क्षेत्रों में अपना क्षोभ एवं विद्रोह प्रगट न कर आध्यात्मिकता का आवरण देकर हमारे सामने प्रगट किया। प्रसाद के आँसू, पंत का उच्छ्वास, रामकुमार और महादेवी के करुणा के गीतों के पीछे यही मनःस्थिति काम कर रही है। नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण विचित्र था। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद को "कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहा है। कवि अपनी कविता में लता-विटप अथवा शैफाली और पवन का संयोग-विलास तो अत्यन्त सूक्ष्मता से विस्तारपूर्वक लिखता था, परन्तु स्त्री के प्रति मोह और आसक्ति होते हुए भी उदासीन था, उसे एकदम अतीन्द्रिय बना रहा था। आत्मा-परमात्मा के मिलन या आध्यात्मिक वियोग की भावना को ही अनेक कविताओं और गीतों में बद्ध किया गया, परन्तु उनके पीछे कवि की कल्पना है, परम्परा का पालन है, कवि की अपनी साधना और अनुभूति नहीं।

४१—छायावाद

(१) "छायावाद" और उसका इतिहास (२) छायावाद की कतिपय परिभाषाएँ (३) छायावाद काव्य की कुछ विशेषताएँ—आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता, परमात्मा-आत्मा के सम्बन्ध में अद्वैतावस्था

को स्वीकार करते हुए कल्पनात्मक संयोग और विरह का वर्णन, रोमांस, पलायनवाद, सौन्दर्य निष्ठा, लाक्षणिकता का प्राधान्य, प्रकृति के प्रति रागात्मकता; जीवन के प्रति दुःख और निराशापूर्ण दृष्टिकोण, (४) छायावाद काव्य में परम्परा और मौलिक उद्भावना (५) छायावाद काव्य अपने युग का श्रेष्ठतम प्रतिबिम्ब है।

१६२३ ई० के लगभग से प्रसाद के "आँसू" और सुमित्रानन्दन पंत की "वीणा" से खड़ी बोली हिन्दी कविता में जो धारा चली, उसे छायावाद के नाम से पुकारा गया। साधारण जनता में यह नाम अब भी वर्तमान कविता के लिए चल रहा है। जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य 'व्यंग' था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ जिसमें उसने बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की "गीतांजली" और अंग्रेजी रोमांटिक कवियों विशेषतः वर्ड्सवर्थ आदि की Mystic कही जाने वाली कविताओं की छाया देखी। बंगाल में जिस अर्थ में "रहस्यवाद" शब्द का प्रयोग हो रहा था, ठीक उसी अर्थ में, परन्तु निश्चय ही व्यंग से, क्योंकि हिन्दी कविता बंगाली की नक़ल समझी जाती थी, 'छायावाद' का प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे "छायावाद" ने बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिक कविता के सिवा अनेक अङ्गों का विकास कर लिया; परन्तु नाम चलता रहा। अन्त में व्यंग का भाव भी दूर हो गया परन्तु इसके लिये बहुत समय लगा। अभी हाल तक लम्बे बाल, अस्पष्ट भावना, कठिन शब्दावली का प्रयोग, सतर्कता-रहित उच्छृङ्खल व्यवहार, अव्यवहारिकता—ये छायावादी कवि के लक्षण समझे जाते थे। उसे कल्पनाजीवी समझा जाता था।

सच तो यह है कि अब छायावाद की महत्ता कम होती जा रही है। छायावादी कहे जाने वाले कवि नए-नए दलों में भरती

हो रहे हैं। परन्तु "छायावाद" और उसके काव्य का ठीक-ठीक विश्लेषण अभी नहीं हो सका है। श्री रामचन्द्र शुक्ल उसे "कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहते हैं या अभिव्यंजना की एक शैली मात्र मानते हैं जिसकी विशेषता उसकी लाक्षणिकता है। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी कहते हैं—"इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।" प्रसाद जी छायावाद को "अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना" मानते हैं जो "साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष की अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा "अहम्" का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

जैसा हम कह चुके हैं, "छायावाद" शब्द का प्रयोग वर्तमान युग की महायुद्ध और बाद की बहुमुखी हिन्दी कविता के लिए हुआ है और उसमें अनेक प्रवृत्तियों के साथ आध्यात्मिक रहस्यवाद, सौन्दर्य निष्ठा, लाक्षणिकता एवं मनुष्य जीवन और प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण को प्रमुख स्थान मिला है। अनेक प्रवृत्तियों में अस्पष्ट राष्ट्रीय भावनाएँ और सामाजिक उद्गार भी आ जाते हैं। परन्तु यह शब्द का व्यापक अर्थ है। संकीर्ण अर्थ में लेने पर भी शब्द के ठीक-ठीक अर्थ करने की सुविधा नहीं होती। हाँ, उसकी विशेषताओं की ओर इस प्रकार इंगित किया जा सकता है :—

(१) छायावाद काव्य में आत्माभिव्यक्ति की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। इसीसे उसमें भाव की प्रगाढ़ता और पद की नयता सहज ही प्रतिष्ठित हो जाती है। परात्म-बोधक कविताएँ और खंड काव्य भी लिखे गये, परन्तु तीव्रानु-

भूति के स्वर ऊपर हो उठे हैं और कवि आत्मविमुख होकर नहीं बैठ सका है।

(२) परमात्मा-आत्मा के सम्बन्ध में छायावाद काव्य अद्वैतावस्था मान कर चलता है। प्रेम, विरह और करुणा की भावना की प्रधानता इसीलिये है कि इनके द्वारा ही इस अवस्था पर पहुँचा जा सकता है। महादेवी, रामकुमार वर्मा और निराला की कितनी कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं।

(३) छायावाद के कवियों का आग्रह उत्तमोत्तम आदर्श सौंदर्य सृष्टि की ओर है। वे सुन्दर शब्दों, सुन्दर भावों और सुन्दर रूपों में खो गये हैं जैसे संसार में असुन्दर का स्थान ही नहीं हो। इस प्रकार वे "रोमांटिक" और "पलायनवादी" कहे जाने लगे। उन्होंने जिस जीवन की कल्पात्मक अनुभूति उत्पन्न की, वह हमारे साधारण प्रतिदिन के परिचित जीवन से एकदम भिन्न! पन्त और रामकुमार अपने काव्य में इसी सौंदर्यानुवेषण के कारण सौन्दर्य-निष्ठ कवि बन गये हैं। उन्होंने लौकिक शृङ्गार में भी इतनी अतीन्द्रियता भर दी है कि उन पर "अशरीरी भावनाओं" की भक्ति का दोषारोपण किया जाता है। वास्तव में, सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण आश्चर्य, भक्ति और अतीन्द्रिय आसक्ति का ही अधिक है। इस तरह उनकी कविता रीतिकाल की शृङ्गारिक कविता के एकदम विरोध में जा पड़ती है जहाँ स्थूल शृंगार, अभिसार, चुम्बन और परिरंभण के सिवा कुछ है ही नहीं। छायावाद की कविता ने इसी परंपरागत शृंगार-भावना के प्रति विद्रोह किया है।

(४) छायावाद की कविता में लाक्षणिकता की प्रधान है। इसे शैली की विशेषता कहना ही ठीक होगा। इसके रूप कई हैं। कहीं तो अन्योक्ति और वक्रोक्ति का आश्रय लिया गया है,

कहीं अलंकारों के वक्र, लाक्षणिक और अंग्रेज़ी ढंग के प्रयोग मिलते हैं, कहीं प्रतीकों का प्रयोग है। इन सबने एक स्थान पर मिल कर नये पाठक के लिए कितने ही स्थानों पर जैसे कूट-काव्य की सृष्टि कर दी है। इनमें सबसे अधिक कठिनता प्रतीकों के सम्बन्ध में है। प्रसाद जी ने कहा है—"आलंबन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है" परन्तु ये प्रतीक इतनी अस्पष्टता, शीघ्रता और अनिश्चतता के साथ पाठक के सामने आये कि वह इन्हें पकड़ ही नहीं सका।

(५) छायावाद काव्य में "विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है।" इसके अतिरिक्त प्रकृति और मनुष्य में रागात्मक सम्बन्ध इसी प्रकार के काव्य में पहली बार हमारे सामने आता है।

(६) जीवन के प्रति दृष्टिकोण दुःख और निराशापूर्ण है। सारा छायावाद काव्य ही (प्रसाद और निराला के कुछ काव्य को छोड़ कर) दुःख-प्रधान है। यह दुःख कहीं आध्यात्मिक है, कहीं लौकिक। अधिकांश में इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत असफल-ताओं से है जिन्होंने धीरे-धीरे दुःख का एक दर्शन ही दे दिया है जिसका आधार अद्वैत-दर्शन पर ही रखा गया है। कितने ही कवियों ने दुःख की साधना को ही काव्य की श्रेष्ठतम कला मान लिया है।

हम यह मान लेने के लिए तैयार हैं कि छायावाद काव्य की ये विशेषताएँ सम्पूर्णतः मौलिक नहीं है। इनमें से कुछ के लिए उसे कबीर, रवीन्द्र या शैली का मुँह जोहना पड़ा है, परन्तु धीरे-धीरे इस काव्य ने अपना व्यक्तित्व विकसित कर लिया था

जिसका सबके प्रधान प्रमाण यही है कि हिन्दी काव्य में कितने ही वर्षों से उसकी अपनी रूढ़ियाँ चल रही है। कवियों ने धीरे-धीरे कविकर्म में कुशलता प्राप्त कर ली है और उन्होंने जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सारे हिन्दी साहित्य में किसी भी युग के कवियों को जनता तक पहुँचने के लिए इतना कठिन प्रयत्न कभी नहीं करना पड़ा, न उन्हें इतना समय लगा। स्पष्ट है कि जनता इस लगभग सौ प्रतिशत परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थी। हमारी काव्य-परम्परा इतनी पीछे छूट गई थी कि इस काव्य के समझने के लिए उससे सहारा नहीं लिया जा सकता था। नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा। आलोचना के नये माप दंड बने। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुँच सका।

कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अमौलिकता, अव्यवहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अशरीरीपन—ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं। परन्तु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिंब है। मध्य देश का मध्यवर्ग जिस बौद्धिकता के ह्रास, भावुकता के प्राबल्य और मन-वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रणों में से गुज़र रहा था, उसीके दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गांधीवाद में दुःख, कष्ट-सहन और पराजय को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्य वर्ग में साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परन्तु वैष्णव भावना को बिल्कुल अस्वीकार करना असंभव था। आर्थिक और राजनैतिक सङ्कटों ने कमर तोड़ दी थी। महायुद्ध के प्रारंभ के प्रभात के स्वप्न युद्ध-समाप्ति पर कुहरे के धरोहर बन गये। ऐसे समय काव्य का रूप ही और क्या होता ? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य

चिन्ता को यह विशिष्ठ रूप दे दिया। "चित्राधार" की कितनी ही कविताएँ और "साधना" के गद्य गीत रवि बाबू की प्रेरणा से ही प्रकाशित हुए, परन्तु बाद के काव्य के विकास का अपना अलग इतिहास है।

आज समाज और राष्ट्र की परिस्थितियाँ बदल गई हैं। हृदय का स्थान बुद्धि ने ले लिया है। छायावाद का आध्यात्मिक आधार—अद्वैतवाद—ही ढह-सा रहा है, कम से कम उसकी ओर नये कवियों का विशेष आग्रह नहीं। जो कवि दो दशाब्द पहले छंद, भाषा और अभिव्यंजना के नये प्रयोग करता हुआ लड़खड़ा रहा था, आज इनका कुशल अधिकारी है। जीवन के प्रति दृष्टि-कोण ही बदल गया है या तेजी से बदल रहा है। ऐसे समय में जो कवि पहले कहता था—

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अंधकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान !
मेरे स्वागत—भरे हृदय में
प्रियतम, आओ, पाओ स्थान

वह अब कहता है—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति
युग युग से रच शत-शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन

विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित

अथवा—

आज सत्य, शिव, सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
संस्कृति, कला, सदाचारों से भव मानवता पीड़ित,
स्वर्ण पींजरो में बंदी है मानव-आत्मा निश्चित
आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित-शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर हरता मानव मुख मन

स्पष्ट है कि कवि आध्यात्म की ऊचाइयों से उतर कर दैनिक जीवन की तलैटियों में आ गया है। उसने सुन्दरता के लिए नये मूल्य ढूँढ़ने का प्रयत्न शुरू कर दिया है। छायावाद काव्य के मूल्य उसे आज अतिभावुकता से ग्रसित जान पड़ते हैं। जो कवि पहले सौन्दर्य को इस रूप में देखता था।

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि, तूने कैसे पहचाना?
कहाँ कहाँ हे बालविहंगिनि, पाया तूने यह गाना?
शशि किरणों से उतर उतर कर भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना
तूने ही पहले, बहुदर्शिनि, गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, · भ चारिणि, गूँथ दिया ताना-बाना

वह अब उसे इस रूप से ग्रहण करता है—

सर् सर् मर मर
रेशम के से स्वर भर
बजे नीम दल
लंबे, पतले चंचल,
श्वसन स्पर्श से

रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल !

या

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े,—
मौन, मनोह !
दोनों पादय
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीघ्र, सुदृढ़तर
पतझर में सब पत्र गये झर,
नग्न, धवलशाखों पर
पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिराजाल-सी फैलीं अविरल
तरुओं की रेखा छवि अविकल !
भू पर कर छायांकित
नील निरभ्र गगन पर
चित्रित दोनों तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुखकर !

जिस जीवन से दूर भाग कर या जिसके ऊपर उठ कर कवि अपनी ही कल्पना के संसार और अपनी ही सम्वेदना के व्यापारों में खो जाता था उसी जीवन ने आज उसके नक्षत्र-भवन पर धावा बोल दिया है। आज कवि जीवन की वास्तविकता के

साथ फौजी क़दम रखता हुआ आगे बढ़ रहा है। इस अग्रभूमि से देखने पर हम छायावाद के महत्त्व को अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकेंगे।

४२. हिन्दी के राष्ट्रीय कवि

(१) "राष्ट्रीय कवि" का व्यापक और संकुचित अर्थ (२) चंद, भूषण, हरिश्चंद, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में राष्ट्रीयता का रूप (३) हिन्दू जातीयता और राष्ट्रीयता (४) हिन्दू भावना से इतर राष्ट्रीयता का जन्म एवं विकास (५) हरिश्चंद, प्रेमघन, बालमुकुंद गुप्त (६) महायुद्ध के बाद के राष्ट्रीय कवि—माखनलाल, त्रिशूल, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन (७) नवीनतम राष्ट्रीय कवि—चकोरी, लली, सोहनलाल (८) राष्ट्रीय कविता की कुछ कमियाँ।

"राष्ट्रीय कवि" का एक व्यापक अर्थ भी हो सकता है और एक संकुचित अर्थ भी। व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय कवि ऐसा कवि होगा जिसमें राष्ट्र की आशाकांक्षाएँ, उसकी संस्कृति की मूलगत विशेषताएँ, उसका चिंतन और अनुभव-एक शब्द में राष्ट्र की आत्मा-कल्पनात्मक रूप में प्रकट हुए हों। यदि हम इसी अर्थ को लें तो कदाचित् तुलसी को छोड़ कर कोई भी अन्य कवि इस मापदंड पर पूरा नहीं उतरेगा। तुलसी उसी प्रकार भारत राष्ट्र के कवि हैं, जिस प्रकार शेक्सपियर इङ्गलैंड का कवि है और शिलर एवं गेटे जर्मनी के कवि हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस में हमें राष्ट्र के हृदय के अन्यतम स्पंदन मिलेगा। संकीर्ण अर्थ में राष्ट्रीय कवि वह है जो देश प्रेम, जाति-प्रेम एवं देशी संस्कृति के प्रेम के गीत गाये और इनकी समस्याओं पर विचार करे, उनके सम्बन्ध में पाठक की भावना को उद्बुद्ध करे। साधारण परिभाषा में यही दूसरे अर्थ ग्राह्य हैं। इस परिभाषा के अनुसार

चंद्र, भूषण, हरिश्चंद, मैथिलीशरण गुप्त आदि हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

साधारणतः चंद्र-भूषण को वीर काव्य के निर्माताओं के अंतर्गत रख दिया जाता है। यह कहा जाता है कि उन्होंने राष्ट्र-भावना से प्रेरित होकर काव्य नहीं रचे। वे वीरोपासक थे और उनका काव्य व्यक्तिगत वीरता का दृष्टिकोण लेकर लिखा गया है। भूषण के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दू जातीयता को मुसलमान जातीयता के विरुद्ध उभारा है, इससे वे हिन्दू मुसलमानों के सम्मिलित हिन्दुस्थान राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। यह कहना कठिन है कि कौन कविता कोरे व्यक्तिगत वीरता के दृष्टिकोण से लिखी गई है, कौन जातीयता और राष्ट्रीयता की भावना से उत्तेजित होकर। परन्तु हम उन कविताओं को वीरता के व्यक्तिगत भाव से प्रेरित होकर लिखा गया मान सकते हैं जिनमें कोई हिन्दू वीर दूसरे हिन्दू वीर का विपक्षी बना है अथवा जिनमें ऐसे युद्धों का वर्णन है जिनमें केवल राज्यलिप्सा ही चरितार्थ हुई हैं। बचे हुए वीर काव्य को जो प्रशस्ति मात्र नहीं है, हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) जिसमें हिन्दू जातीयता के मुसलमान विदेशी जातीयता से टक्कर लेने की बात है अथवा हिन्दू पुनरुत्थान का सन्देश है। कुछ लोग इसे संकुचित दृष्टिकोण कहेंगे, परन्तु हमें यह याद रखना होगा कि भारत कभी हिन्दूराष्ट्र था और अभी कुछ पिछले दिनों तक हिन्दू जातीयता ही एक मात्र राष्ट्रीय भावना थी। भूषण की कविता या "हल्दीघाटी की लड़ाई" हिन्दू-जातीयता के गान गाती हुई भी शुद्ध राष्ट्रीय चीजें हैं।

(२) जिसमें राष्ट्र की स्वतंत्र चेतना का संकेत या सन्देश है

या जिसमें स्वतंत्रता की भावना को उभारा है अथवा स्वतंत्रता पर बलिदान होने वाले वीरों का गुणगान किया है।

हिन्दू भावना से इतर जो राष्ट्रीयता है उसका जन्म और विकास अंग्रेज़ी शासन के अंतर्गत हुआ है। इस प्रकार की भावना के अग्रदूत हरिश्चंद्र हैं। हरिश्चन्द्र के साथ ही हिन्दू-जातीयता और हिन्दू-राष्ट्रीयता की भावनाएँ अलग-अलग हो गई हैं और अब राष्ट्रीय भावना में हिन्दू-जातीयता की छाया गर्हित समझी जाती है। अंग्रेज़ी-शासन की नींव १९वीं शताब्दी में पड़ चुकी थी, परन्तु उसकी सत्ता १८५७ के स्वतंत्रता के संग्राम के बाद ही दृढ़ हुई। इसी समय सारा देश रेल, डाक और तार के द्वारा एक सूत्र में बँधा। फलतः देश-काल और भाषा के बंधन टूटे। लोगों ने कन्याकुमारी से कश्मीर और पेशावर से आसाम तक ही बात सोचनी शुरू की। ग़दर के बाद की महारानी विक्टोरिया की घोषणा से भारतवासियों को प्रोत्साहन मिला और देश के राजनैतिक जीवन में उनकी अभिरुचि हुई। उन्हें भी देश के शासन में हाथ बटाने की लालसा हुई। उस समय राष्ट्रीय भावना का ही रूप राजभक्ति था। विक्टोरिया के शासन की प्रशंसा करते हुए राधाकृष्ण दास लिखते हैं—

परम दुःखमय तिमिर जब भारत छापैयो
गृह विच्छेद बहुखंड राज्य सब प्रजहिं सतायो
तबहि कृपा करि देश ब्रिटिश सूरज प्रगटायो
जिन उजरत करि कृपा बहुरि यह देश बसायो
सोइ ब्रिटिश बंश उज्ज्वल करन विक्टोरिया प्रकाश भो
आनंद छायो सब देश में अरु दुःख-तिमिर विनास भो

कवियों ने देश की दशा का करुण चित्र खेंचा जब उन्हें वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान हुआ। ब्रिटिश शासन की उपा-

देयता नहीं दीख पड़ी। धीरे-धीरे मोह का परदा हटा। प्रेमधन ने कहा—

यदपि तिहारे राज भयो भारत अति उन्नत।
आगे से अब सबे लोग सब विधि सुख पावत॥
पै दुःख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पति की दिन-दिन होत हीनता॥
सुख सुकालहूँ जिनहिं अकालहिं के सम भासत।
कहौं कोटिइन सबे सहत भोजन की सासत॥

परन्तु जब यह विश्वास हो गया कि अधिकारी परिस्थिति सुधारने में प्रयत्नशील नहीं हैं तब कवियों ने देशवासियों को स्वयं बीड़ा उठाने और अपनी उन्नति के लिए सचेत होने के लिए कहा। भारतेन्दु देशवासियों को सम्बोधन करके कहते हैं—

काम खिताब किताब सों अब नहिं सरिहै मीत।
तासों उठहु सिताब अब छांड़ि सकल भयभीत॥

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हो जाने से कवियों में आशा का संचार हुआ। भारत के भाग्योदय के चिह्न देख कर प्रेमधन हर्षपूर्वक कहते हैं—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समय अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तक उसने ताका॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई।
खग बंदेमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥

बालमुकुन्द गुप्त ने देशवासियों को प्रतिज्ञा के लिए बुलाया—

आओ एक प्रतिज्ञा करें
एक साथ सब जीवें मरें
अपना बोया आपहि खायें

अपना कपड़ा आप बनायें
माल विदेशी दूर भगावें
अपना चरखा आप चलावें

इन कवियों की कविताओं में छन कर राष्ट्रीय भावना मैथिली शरण गुप्त की भारत भारती तक पहुँचती है जिसमें हमें पहली बार स्वतंत्रता की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। १९१९ के असहयोग के साथ स्वतंत्रता की भावना और भी प्रखर हो गई और आत्मबलिदान के लिए निमंत्रण होने लगा। देश के लिए यंत्रणा सहने, देश के भावी पर वर्तमान के सुखों की बलि देने और देश के बंधन पर दुखी होने के भाव से कविताएँ भरी जाने लगीं। इस काल के कवियों में माखनलाल (भारतीय आत्मा) त्रिशूल (सनेही), श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान और नवीन (बालकृष्ण शर्मा) प्रमुख हैं। 'भारतीय आत्मा' ने "क़ैदी और कोकिला" शीर्षक कविता में लिखा है—

तुझे मिली हरियाली डाली
मुझे नसीब कोठरी काली
तेरा नभ भर का सञ्चार
मेरा दस फुट का संसार

तेरे गीतों उठती वाह
रोना भी है मुझे गुनाह
देख विषमता तेरी मेरी
बजा रही तिस पर रणभेरी

इस हुंकृति पर अपनी कृति से और कहो क्या कर दूँ
कोकिल बोलो तो
मोहन के व्रत पर प्राणों को आसव किसमें भर दूँ
कोकिल बोलो तो

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने "झाँसी की रानी" की याद दिलाते हुए चोट की—

जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी॥
होवे चुप इतिहास, लगे सचाई को चाहे फाँसी।
हो मतवाली विजय, मिटा दें गोलों से चाहे झाँसी॥
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी॥
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इसके बाद भी अनेक कवियों और कवियित्रियों ने राष्ट्रीय भावना के विकास में योग दिया। महिलाओं में श्री तोरनदेवी शुक्ल और श्री रामेश्वरी देवी "चकोरी" उल्लेखनीय हैं। कितने ओजपूर्ण शब्दों में चकोरी जी नवयुवकों को संदेश देती हैं—

दासता मिटा दो औ, भगा दो भाव भीरूता को
भारत वसुंधरा की वीरों हर भगा दो लाज
"देशबली वेदी पर मरना" यही हो प्रण
लेकर अहिंसा अस्त्र रण के सजा दो साज
कहर मचा दो आततायियों के झुंडों पर
कायर शिखंडियों के गर्व पै गिरा दो गाज
मोहिनी स्वराज्य धुनि गूँज उठे भारत में
ऐसी रणभेरी नवयुवकों बजा दो आज

आधुनिक काल में भी अनेक कवि राष्ट्रभक्ति से भरी कविता लिख रहे हैं। श्री सोहनलाल द्विवेदी इसमें अप्रतिम हैं।

जिन आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता का प्रयोग होता है, वह हमारे लिए एक नई बात है। उसकी जड़ें अभी अधिक गहरी नहीं गई हैं देश परतंत्र है। इस दशा में हमारी राष्ट्रीय कविता

अधिकांश में स्वतंत्रता के लिए चीत्कार अथवा उच्छृङ्खल विद्रोह की पुकार बन कर रह गई है। उसमें कला का प्रवेश तो बहुत ही कम हो पाया है। श्री माखन लाल (भारतीय आत्मा) और श्री सोहनलाल द्विवेदी की कुछ कविताओं को छोड़ कर अधिकांश में काव्यकला की छाया भी ढूँढ़ना कठिन है। राष्ट्रीय नेताओं और राष्ट्रीय आन्दोलनों को लेकर कथात्मक या वर्णनात्मक रूप में लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सियारामशरण गुप्त की "बापू" पुस्तिका इस ओर एक महत्त्वपूर्ण क़दम अवश्य है, परन्तु वह भी काव्यकला से शून्य है। दिन प्रति दिन पत्रों में जो राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित होती हैं उनमें उच्छृङ्खल भावना भर दी जाती है। "राष्ट्रीयता भावना का विकास आधुनिक हिन्दी कविता में उत्कृष्ट अवश्य हो चला है, परन्तु अभी उसमें गंभीरता और संयम की कमी है। देश के उत्थान के लिए जो कुछ भी मन में आया उसका कह डालना सुरुचिपूर्ण नहीं है। हमें यह देखना है कि हमारी कविता में यह अनुभूति की गम्भीरता कब तक आती है।"

४३. महादेवी और रामकुमार के काव्य में चित्र और रङ्ग

(१) तुलना की सीमाएँ (२) विषय-साम्य के कारण विभिन्नता कला-प्रवृत्तियों और अभिरुचियों में ढूँढ़नी होगी (३) रंगों का प्रयोग (४) चित्रों की मूलगत विभिन्नताएँ।

छायावाद काव्य-धारा के उत्तरार्द्ध के कवियों में महादेवी और रामकुमार का काव्य की मूल धारणाओं और जीवन के प्रति दृष्टिकोणों में इतना निकट का सम्बन्ध है कि दोनों की कविताओं में स्थान-स्थान पर भावसाम्य मिलता है परन्तु जहाँ रामकुमार ने काव्य के अनेक अंगों (कथाकाव्य, नाट्यकाव्य, कथोपकथन-काव्य) पर लेखनी चलाई है, वहाँ महादेवी ने केवल गीत या

गेय कविता ही लिखी है। इसलिये दोनों कवियों की तुलना करते समय हमें दोनों के गीत-साहित्य की ही तुलना करनी होगी।

महादेवी के गेय गीतों के विषय भी वही हैं जो रामकुमार के गीतों के विषय हैं—प्रकृति, करुणा (दुःखवाद), विश्वमैत्री की सांकेतिक अभिव्यंजना, विभिन्न रूपों में रहस्यवाद की अवतारणा। परन्तु दृष्टिकोण की अधिक भिन्नता न होने पर भी अभिव्यंजना और कला की सूक्ष्म विभिन्नता है जो दोनों की विभिन्न कला-प्रवृत्तियों और अभिरुचियों से सम्बन्ध रखती है।

महादेवी की प्रतिभा चित्रप्रिय (Pictorial) है। इसीसे उनके वस्तुविधान में वर्णवैचित्र्य अधिक रहता है। रामकुमार के काव्य में रंगों का इतना प्राधान्य अथवा वैचित्र्य नहीं है। उनको हलके रंग प्रिय हैं। महादेवी ने अपनी एक पुस्तक का नाम रश्मि रखा है, रामकुमार ने अपनी एक पुस्तक का नाम चन्द्रकिरण। रश्मि और चन्द्रकिरण के वर्णविन्यास में जितना अंतर है, उतना ही अंतर दोनों के रंगों के प्रति दृष्टिकोण में हैं। रश्मि में इन्द्रधनुष के सात रंग है। महादेवी के चित्रों और काव्य में इन्हें उचित स्थान मिला है। चन्द्रकिरण का श्वेत रंग रंगहीन होते हुए भी मनमोहक होता है और वह शाश्वत सत्य का रंग भी है। करुणा अथवा दुख का संकेत होने के कारण रामकुमार की दृष्टि अंधकार और उसके रंग कालिमा, कुहासा अथवा श्यामलता की ओर अधिक जाती है। गहरा अंधकार (तम) अप्रत्यक्ष सत्य की व्यञ्जना करता है जो अनेक वर्णच्छटा में प्रस्फुटित हुआ है। महादेवी को भी गहरा काला या हलका धुँधला रंग प्रिय है परन्तु वे उसकी अग्रभूमि में इन्द्रधनुष की तरह चमकीले रंग रख कर उसे और भी उज्ज्वल कर देती हैं। उन्हें चटकीले रङ्ग भी प्रिय हैं। महादेवी की

कदाचित् कोई भी प्रौढ़ कविता ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें रंगीन चित्र न हों।

रामकुमार रंगों या चित्रों को अपनी भाव-व्यंजना में सहायक बनाते हैं, वे बहुधा साधन होते हैं; साध्य या लक्ष्य नहीं--

(१) इन्द्र धनुप सा यह जीवन
दुख के काले बादल में
अंकित है इस क्षण या उस क्षण

(२) ओ पीलेपन !
आओ, मेरे यौवन के कुसुमों का तो कर लो आलिंगन
ओ पीलेपन !

इसके विपरीत महादेवी या तो चित्रों को ही लक्ष्य बना लेती हैं या उनके द्वारा अनुभूति जगाने का प्रयत्न करती हैं। जहाँ रामकुमार के काव्य में रंग कवि के हृदय की पूर्णानुभूत भावना को स्पष्ट मात्र करने के लिए आते हैं, वहाँ महादेवी के काव्य में वे धीरे-धीरे बल इकट्ठा करते जाते हैं और इनके द्वारा जब एक अलौकिक वातावरण तैयार हो जाता है तो कवियित्री अनुभूति के क्षेत्र में पहुँच जाती हैं। इस प्रकार महादेवी कल्पना से अनुभूति की ओर पहुँचती है और रंग उनकी कल्पना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। परन्तु महादेवो पूरा-पूरा साङ्गोपाङ्ग चित्रण नहीं करतीं। वे संकेत देती चलती हैं। इस तरह वे रूप स्पष्ट नहीं कर पातीं और कभी-कभी उनके विभिन्न रंगीन चित्रों में रंगों की विषमता के सिवा चित्रों को जोड़ने वाली कोई वस्तु नहीं रहती। लेकिन शायद यह कोई दोष नहीं है क्योंकि इसके कारण उनके चित्र प्रकृति-चित्र से कहीं आगे बढ़ गये हैं। साथ ही वे क्रियायों, विशेषणों और ध्वनियों को भी चित्रित करती हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के प्री-रेफिलाइट कवि-चित्रकारों की तरह उनके

चित्रों में प्रतीकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है जो अपरोक्ष पक्ष की ओर इंगित करते हैं। ये प्रतीक उनकी रहस्यवादी भावना को स्पष्ट करते हैं। ये प्रतीक कई हो सकते हैं--जलता हुआ दीपक, कमल पर गुंजार करता हुआ भौंरा इत्यादि। उनके इस प्रकार के चित्रों का एक उदाहरण है—

हिमस्नात कलियों पर जलाये
जुगनुओं ने दीप से
ले मधुपराग समीर ने
बन-पथ दिये हैं लीप से
गाती कमल के कक्ष में
मधुगीत मतवाली अलिनि

राजकुमार के काव्य में इस तरह के चित्र नहीं मिलते। उनमें जहाँ चित्र हैं, वे इतने संश्लिष्ट और अन्य इन्द्रियों के ज्ञान से इतने मिले-जुले नहीं कि चित्रकार की कूँची के लिए अग्राह्य ही हो जायें।

महादेवी के चित्रों में दो बातें ध्यान देनी पड़ेंगी। वे प्रकृति के बड़े-बड़े रूपों का चित्रण करती हैं और उनके चित्र महान् चित्रपट पर खिंचे होते हैं और वे चित्र-मात्र से ऊपर उठ कर अधिक महान् की ओर मन को नहीं ले जाते। यों विशालता के चित्र हमें निराला के काव्य में भी मिलते हैं, परन्तु वहाँ विशालता का सांकेतिक ढंग पर प्रयोग नहीं किया गया है। महादेवी में यह संकेत या तो रंग-द्वारा आता है या उन महान् प्रकृति-रूपों में आरोपित की हुई हमारी परिचित वस्तुओं के द्वारा। उदाहरण-स्वरूप, महादेवी का प्रात का एक चित्र इस प्रकार है—

धर कनक-थाल में मेघ
सुनहला पाटल-सा

कर बालारुण का कलश
विहगरव मंगल-सा
आया प्रियपथ से प्रात

रंगों के प्रयोग में महादेवी पंत से प्रभावित हुई हैं परन्तु उन्होंने अपने लिए वे रंग चुने हैं जो पंत के रंग की तरह चमकीले नहीं हैं। पंत के रंगों में तेज़ी अधिक है। वे रोमांटिक कवि की रंग के प्रति उत्सुकता-मात्र बतलाते हैं। उससे अपरोक्ष की ओर संकेत नहीं मिलता। बहुत चमकीले रंगों से इन्द्रियता प्रकट होती है, अतीन्द्रिय की ओर हमें वे बहुधा नहीं ले जाते। कहीं-कहीं एक दो रंग चटकीले हुए तो वे रहस्यवाद की उद्भावना के चित्रण के लिए ठीक हो सकते हैं। सदैव ही गहरे रंगों का प्रयोग खेल-सा हो जाता है। इसीलिए महादेवी के रंग अधिक गम्भीर हैं, चाहे फिर उनमें कुछ चटकीलापन भले ही हो।

जैसा हमने ऊपर लिखा है, महादेवी बहुधा रंग ही देकर नहीं रह जातीं। उसके साथ गंध आदि वस्तुओं के दूसरे गुणों को भी खींच लाती है। इससे उनकी अनुभूति की संश्लिष्टता (complexity of poetic experience) प्रगट होती है—

तम ने धोया नभ पथ
सुवासित हिम जल से

यहाँ तरलता, सुगंध और अंधकार तीनों की अनुभूति साथ-साथ आती है। एक बात महादेवी के चित्रों के सम्बन्ध में निराली है। वे बड़ी चीज़ों का बड़े छोटे रूप में चित्रण कर देती हैं। इस प्रकार वे ऐसी बात पैदा करती हैं जो केवल कवि को सुलभ है, चित्रकार की पकड़ में नहीं आती। रामकुमार ने इस ढंग का प्रयोग नहीं किया। किसी भी दूसरी प्रकार इतनी विशद् चित्रपटी उपस्थित नहीं हो सकती जितनी इस पद्य में हुई है—

पिक की मधुमय वंशी बोली;
नाच उठी सुन अलिनी भोली;
अरुण सजल पाटल बरसाता
तम पर मृदु पराग की रोली
मृदुल अंक धर दर्पण-सा सर
आज रही निशि दृग इन्दीवर

यहाँ एक संश्लिष्ठ चित्र है। इसमें पाँच रंगों का प्रयोग हुआ है। लाल (पाटल के लिए), गुलाबी (किरणों के लिए), उजला काला (ताल के लिए), भूरा काला (रात के लिए), गहरा काला (उसकी आँखों के लिए)। पहली पंक्ति में अरुणोदय के इस चित्र में गूँज पैदा कर दी गई है। दूसरी पंक्ति द्वारा चित्र की जड़ता दूर कर उसमें गतिशीलता लाई गई है। सूर्य, कमल और भौंरे का महादेवी ने प्रतीक के ढंग पर प्रयोग किया है।

४४. महादेवी की कविता

(१) महादेवी की कविता में दुःखवाद (२) इस दुःखवाद के पीछे महादेवी का दर्शन (३) महादेवी की कविता में प्रतीकों का प्रयोग (४) महादेवी का कल्पनात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण (५) कला और कल्पना का सम्मिश्रण (६) गीतात्मकता।

महादेवी को दुःखवाद का प्रधान कवि कहा जाता है। उनकी पंक्तियों में रोदन है। उनकी कविताओं में दुख की बड़ी कल्पना-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। यह दुःख उन्हीं की कविताओं में नहीं पाया जाता। लगभग सभी आधुनिक कवियों ने एक प्रकार के आध्यात्मिक असंतोष का अनुभव किया है और वह दुःखवाद के सारे "सरगम" पर दौड़ गए हैं। इस दुःखवाद की पहली कवियित्री महादेवी हैं। प्रसाद के "आँसू" और पंत की "ग्रंथि"

से लेकर महादेवी द्वारा परिपुष्ट होती हुई भगवती चरण और बच्चन में जाकर दुःखवाद की धारा दो विशेष दृष्टिकोण ग्रहण करती दिखाई पड़ती है। छायावाद के प्रारम्भकाल का वातावरण भावप्रधान था और जैसे जैसे राजनैतिक कारणों से बुद्धितत्त्व को विशेष प्रश्रय मिलता गया, उस पर बुद्धि की प्रखर किरणें पड़ीं और दुःखवाद के नये पहलू का विकास हुआ। पहले दुःख की कविताएँ अस्पष्ट, आध्यत्मिक संकेत-प्रधान की थीं, आज दुःख की कविताएँ अधिक स्थूल हैं और वर्तमान जीवन के प्रति असंतोष उनमें साफ़ झलकता है। बच्चन की कविताओं में तो वह मुखर हो उठा हैं।

महादेवी का दुःखवाद आध्यात्मिक है। उनके दर्शन के अध्ययन, स्त्री स्वभाव और साहित्यिक परंपराओं से प्राप्त हुई सुगमता ने उनके इस आध्यात्मिक दुःखवाद को एक विशिष्ट रूप दे दिया है। श्री रायकृष्णदास ने "नीरजा" की भूमिका में लिखा है—"उनकी (महादेवी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणयनिवेदन है। कवि की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से, विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया-मात्र है।" उनके इस विचित्र दृष्टिकोण से उनके एक विशिष्ट दर्शन और उनकी अपनी काव्यकला का जन्म हुआ है।

नीरजा के पहले गीत से ही महादेवी का दर्शन स्पष्ट हो जाता है। वे आत्मा को प्रोषितपतिका के रूप में पाती हैं। सहसा उन्हें एक पारलौकिक सम्बन्ध का आभास मिलने लगता है और उनका हृदय एक प्रकार की टीस से क्रंदन करने लगता है। उनके दर्शन को वास्तव में उसी अर्थ में दर्शन कहा जा सकता है जिस अर्थ में हम रहस्यवाद को दर्शन कहेंगे। सच बात यह है कि

कुछ दार्शनिक अनुभव-ज्ञान, साक्षात्कार या सन्तों की परिभाषा में सहज ज्ञान द्वारा सत्य की प्राप्ति को दर्शन का विषय नहीं मानते। वे पृथ्वी से अधिक निकट रहने में ही रक्षा समझते है। उनका एक मात्र साधन है तर्क। परन्तु रहस्यवादी का ज्ञान दूसरे प्रकार का ज्ञान है। उनकी साधना की धारा विपरीत है। पहला समष्टि से व्यष्टि की ओर जाता है, दूसरा व्यष्टि से समष्टि की ओर। रहस्यवादी की आँख एक दिन प्रभात में खुल पड़ती है और तब उसे समष्टि दिखलाई ही नहीं पड़ती। एक ही व्यक्ति जैसे, एक ही भाव जैसे उसकी पुतलियों में समा गया हो। इस संसार में वह अकेलेपन का अनुभव करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रेम-प्रतीकों में अव्यक्त-व्यक्त, परमात्म-आत्म, पूर्ण-अपूर्ण या असीम-ससीम का एक पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्येक युग के रहस्यवादियों के गान का विषय रहा है।

जिस गीत के सम्बन्ध में हमने ऊपर कहा है उसका विश्लेषण करने पर हमें कई बातें मिलती हैं। चरमतत्त्व और आत्मतत्त्व का अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यह प्रकृति न जाने कब से परमात्मा से विलग हुई है, परन्तु इसे इस बात का, इस अलगाव का दुख है। उसके और परमात्मा के बीच में इस दुःख के स्रोत के द्वारा एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। युग-युग से यह सम्बन्ध चला आता है। मानवी आत्मा इस दुःख स्रोत के ही अन्दर से कमल के रूप में प्रगट होकर चल के ऊपर उठती है। कदाचित् प्रकृति के इस दुःख से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। उसमें इसी पारलौकिक "पीर" का सौरभ है। तत्त्वरूप से यह आत्मा निर्विकार है; निष्काम है। इसकी स्थिति पूर्णज्ञान में होने से वह विरागी है। उसे केवल एक वार इस पारलौकिक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय और अव्यक्त की एक झलक या मुस्कान दीख पड़े और वह अपनी सारी पूर्णता में खिल

जायगीं। इस गीत में कई सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं—(१) इस "प्रेम की पीर" में आत्मा की स्थिति स्वाभाविक बात है (२) इस पीर का विकास करने या इसका अधिक-अधिक अनुभव करने से आत्म-तत्त्व परमात्त्व-तत्त्व के अधिक निकट पहुँचता है (३) शान्ति, मुक्ति या चरमावस्था में पहुँचने के लिये, किसी अंश में हो, परमात्मा के विशेष अनुग्रह की आवश्यकता है। इस तरह इस दर्शन में विशिष्टाद्वैत की थोड़ी-सी झलक आ जाती है। आत्मा कितनी ही साधना करे, परमात्मा की थोड़ी अनुकंपा आवश्यक है। इस अनुकंपा के लिये याचना कविता का बड़ा सुन्दर विषय है। स्त्री-पुरुष के रूपक में यह याचना और भी सुन्दर हो जाती है। (४) आत्मा की परोक्ष के प्रति विह्वलता आत्मा की पूर्वानुभूति या, अधिक स्पष्ट शब्दों में, अस्तित्त्व की अविच्छिन्नता का प्रमाण है। दुख जीवन-तंतु को छेड़ कर एक प्रकार की अतीन्द्रिय झङ्कार उठा देता है और हमें एकाएक अपने दैवी सम्बन्ध और सनातन जीवनधारा का ज्ञान हो आता है।

महादेवी जीवन को वेदना की अभिव्यक्ति मानती हैं। यह दुःख एक प्रकार की साधना है। किसी भी अन्य प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं—

[१] विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास

[२] अपना जीवन दीप मृदुलतर
वर्ती कर निज स्नेह सिक्त उर

[३] तू जल जल जितना होता क्षय
मधुर मिलन में मिट जाता तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल

मदिर मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर

जलता हुआ दीपक उनके लिए आत्मा का सब से सुन्दर प्रतीक है। तम अज्ञात अथवा परम सत्ता का। अन्धकार और प्रकाश समाप्त न होने वाला खेलते रहते हैं। अंधकार और प्रकाश का भेद अज्ञान के कारण है। विरह की साधना द्वारा ज्ञान होते ही भेद जाता रहता है। परन्तु यह ज्ञान बाहर से नहीं आता। इसके लिए तन (पार्थिव सम्पर्कों और विकारों) को मोम की तरह जलाना होगा, मन को जलाना होगा, चेतना को विदा करना होगा। साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होकर कवियित्री इसी आध्यात्मज्ञान की ओर पहुँच रही है। "रूपाभ" में प्रकाशित उनकी एक कविता से यह स्पष्ट है—

मोम-सा तन घुल चुका है अब दीप सा मन जल चुका है
चल पलक हैं निर्निवेषी,
कल्प-पल सब तिमिरवेषी,
आज स्पंदन भी हुई उर के लिए अज्ञात देशी !
चेतना का स्वर्ण जलती
वेदना से गल चुका है

अथवा

मुझे झंझा उच्छ्वास पुकारें;
तरी, सागर, लहरें पतवारें;
मुझे अब पार है एक कहानी
अदेश अकूल सदा बहती मैं
अकेली वियोग-कथा कहती मैं

ये कविताएँ कवियित्री को उस ओर लिए जा रही है जहाँ

रहस्यवादी के लिए अज्ञात-अज्ञात नहीं रह जाता और वह परोक्ष सत्ता की बीन बन जाता है।

"प्रसाद" जी ने ठीक ही कहा है कि आलंबन के प्रतीक बदलते रहते हैं क्योंकि रहस्यमय अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। महादेवी की कविता की अस्पष्टता शब्दों और अर्थों की उतनी नहीं जितनी इन प्रतीकों की है। उनके प्रतीकों की अपनी भाषा है और उससे परिचित हो जाने पर ही हम उनके काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं।

महादेवी साधना में विश्वास करती हैं यह हम पहले कह चुके हैं परन्तु यह साधना योग-जैसी कुछ कठिन साधना नहीं है। यह साधना है—प्रेम में अधिक-अधिक रमते जाना, "सूली की सेज पर सोना।" इस तरह महादेवी में मीरा की झलक मिल जाती है। परन्तु मीरा में महादेवी जैसी तीव्र कल्पना नहीं है। उन्होंने निर्गुण और सगुण में समन्वय स्थापित किया है। महादेवी निर्गुण या शायद इससे भी परे की उपासक हैं। उन्होंने कवि-प्रतिभा और गहरी अनुभूति के द्वारा लक्ष्य को सुलभ करने की चेष्टा की है। मीरा ने कृष्ण का एक प्रतीक ले लिया था। इसके प्रयोग के पीछे परम्परा का बल होने के कारण वह हमें अधिक सुगम है। महादेवी के लिए 'सौन्दर्य' प्रतीक है परन्तु सौन्दर्य के उपादान सैकड़ों भिन्न वस्तुएँ होने के कारण प्रतीकों की संख्या भी बढ़ जाती है। इन प्रतीकों के भीतर से लक्ष्य-प्राप्ति का प्रश्न उनके सामने है। इसीलिए वे बन्धनों से भागती नहीं—

क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन

बीन-बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी
धूल के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी
बाँधती निर्बंध को मैं बन्दिनी निज बेड़ियाँ गिन

हिन्दी के दूसरे श्रेष्ठ दार्शनिक कवि निराला का भी संसार के प्रति यही दृष्टिकोण हैं परन्तु अद्वैतवाद से सम्बन्धित होने के कारण वे जहाँ-तहाँ आत्मा की निर्लेपता का सन्देश देते हैं। "गीतिका" की भूमिका में वे कहते हैं—"मैं दूर, सदा ही दूर।" दोनों कवि यह विश्वास रखते हैं कि यह ब्रह्मांड बीज-रूप से उनके शरीर में व्याप्त है। धूल की बेड़ी में निर्बंध बन्दी हो गया है। निराला ने एक गीत—'जग का देखा एक तार'—में परमात्म-सत्ता पर मानवी-रूप का आरोप किया है। महादेवी अपनी ससीमता पर गर्व करती है। बात एक है।

अन्त में, महादेवी का दार्शनिक दृष्टिकोण इस पद से प्रकट हो जाता है—

> मेरा प्रतिपल छू जाता है
> कोई कालातीत
> स्पंदन के तारों पर गाती
> एक अमरता गीत
> भिक्षुक-सा रहने आया दृग-तारक में आकाश

उनकी सारी कविता इसी दार्शनिक चिन्तन से स्फुरित हुई है परन्तु उसमें बुद्धिवाद दिखलाई नहीं पड़ता। उनके हृदय ने उनके दार्शनिक चिन्तन को आत्मसात कर लिया है और अत्यन्त कलापूर्ण छन्दों में नवीन प्रतीकों द्वारा उसका प्रकाशन किया है।

४५. 'निराला' का दार्शनिक चिंतन और प्रकृतिवाद

(१) निराला का अद्वैतवादी वेदांत (२) वेदांत-दर्शन और निराला के वेदांत में भेद (३) प्रकृति के सम्बन्ध में निराला का रहस्यवादी दृष्टिकोण (४) निराला के प्रकृतिवाद का आधार उनका वेदांत-दर्शन है।

निराला अद्वैतवादी वेदांती हैं। परिमल की "जागरण" शीर्षक कविता में हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता में में कवि ने आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को सच मान कर उसी के द्वारा सृजनक्रिया के होने का उल्लेख किया है। मानवी आत्मा को जड़ता घेरे हुए है। वह माया के आवरण से ढकी हुई है। यह जड़ता अथवा मायावरण सत्य नहीं है। यह वास्तव में "अगणित तरंग रंग"—मात्र है। चिदात्म तत्त्व को हम किसी विशेषण से सीमित नहीं कर सकते। वह गुणों के परे है। वासनाओं अर्थात् मन के विकारों के कारण ही हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि कर लेते हैं। उनसे अहम् "मैं" की धारणा दृढ़ हो जाती है। तब अज्ञान के कारण हमें सब तरफ़ भिन्नता और परिवर्तन दीख पड़ते हैं। जड़ इन्द्रियों के द्वारा हम स्खलन और पतन को प्राप्त होते हैं। परन्तु यही इन्द्रियों का बार-बार वहिरागम हमारे उत्थान का भी कारण हो सकता है। केवल शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता है जिसे प्राप्त करने के बाद जीवात्मा इन आवरणों को भेद कर लक्ष्य तक पहुँचती है। अन्त में उसकी आनन्दमय स्थिति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

> अविचल निज शान्ति में
> क्लान्ति सब खो गई
> डूब गया अहङ्कार
> अपने विस्तार में
> टूट गये सीमा-बन्ध
> छूट गया जड़-पिन्ड
> ग्रहण देश काल का।
> निर्बीज हुआ मैं
> गाया स्वरूप निज
> मुक्ति कूप से हुई।

नीडस्थ पक्षी की
तम-विभावरी गई;
विस्तृत अनन्त पथ
गगन का मुक्त हुआ;
मुक्त पंख उज्ज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही।
स्थित मैं आनन्द में चिरकाल
जाल मुक्त।

आनन्दमय चिदात्मतत्त्व में सृष्टि की इच्छा हुई। उसने त्रिगुणात्मक रूप रचे; फिर मन, फिर बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंचभूत, रूप-रस गंध-स्पर्श विकसित किये। यह इच्छा प्रेम का एक स्वरूप थी। उसमें ज्ञान का आकर्षण था, मोह नहीं था। उसने अपनी माया का प्रसार किया परन्तु प्रेम के रूप में, छलना के रूप में नहीं।

ज्योति वह दिखाती थी
संचालित करती थी उसी की ओर

उस प्रकार कवि यह बताना चाहता है कि माया असत्य है, यदि उसे किसी हद तक सच भी माना जाय तो वह आनन्द की अभिव्यक्ति ही है जो प्रेम का रूप साधारण किए हैं। हमारे मन ने उसे विकृत रूप से ग्रहण किया। माया का शुद्ध रूप, प्रेम-रूप, समझने पर "सोऽहम्", "अरावप्युचितम्", "तत्त्वमसि" मंत्रों द्वारा एकत्व में बहुत्व के विश्लेषण की बात समझ लेने पर परमाणुओं के प्रतिघातों से बचा जा सकता है।

कवि ने किस दार्शनिक सिद्धान्त का सहारा लिया है, यह बात समझने के लिए यह कविता महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ हमें

वे सब विचार मिल जाते हैं जिन्होंने उसकी रचनाओं के एक बड़े अंश में कवित्वपूर्णरूप प्राप्त किया है। इसी कविता में निराला ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण रखा है—"शब्दज संसार यह।" "गीतिका" की भूमिका में एवं गीतों में इस विचार की पुष्टि हो गई है।

"परिमल" और "गीतिका" की कविताओं के अध्ययन करने पर पाठक इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि निराला वेदांती हैं परन्तु उनका "वेदांत" या अद्वैतवाद विशुद्ध नहीं रह सका। उसमें भक्ति की भावना मिल गई है। विशुद्ध वेदांत-ज्ञान कविता का विषय नहीं हो सकता। इस भक्ति के साथ सूफ़ी प्रेम-भावना का भी सम्मिश्रण है। एक प्रकार से अद्वैतवाद के मेरुदंड को पकड़े हुए भी निराला ने पिछले युगों की कितनी ही धाराओं का सहारा लिया है। "परिमल" के 'पंचवटी प्रसंग' में राम के इस कथन में कई दार्शनिक दृष्टिकोणों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है—

भक्ति-योग-कर्म-ज्ञान एक हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है दूसरा नहीं है कुछ—
द्वैत भाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसीलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरो।

एक प्रकार से यह कोई तर्क नहीं हुआ परन्तु तर्क द्वारा समन्वय नहीं किया जा सकता।

निराला का सारा काव्य ही अद्वैत-भक्त-दर्शन से प्रभावित एवं संचालित है। वे प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानते हैं परन्तु उनका दर्शन ज्ञानमूलक होने के कारण महादेवी या जायसी की तरह वह प्रकृति-परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का भान बना रहता है।

प्रकृति के विषय में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखने के कारण ऐसे कवियों के प्रकृति के चित्रण में कई प्रकार की विशेषताएँ आ जाती है। एक तो कवि प्रकृति का यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। उसके रंग साधारण रंगों से कहीं गहरे होते हैं। उसके लिए पवन में जैसे केसर घुला है। एक प्रकार से उसकी इन्द्रियाँ सूक्ष्मतम हो जाती हैं और उसकी इन्द्रियों के विषय में विपर्यय हो सकता है। वह रंगों को सुनता है और स्वरों को देखता है। उसका प्रकृतिक-चित्रण प्रकृति के व्यापारों को बढ़ा-चढ़ा देता है, एक अत्यन्त तेज़ प्रकाश से चमका देता है या उनमें उलट-पुलट कर देता है। जायसी सिंहलदीप के सरोवर का वर्णन करता है—

> फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहूँ उए गगन महँ तारे॥
> उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी॥
> पैरहिं पंख सुसंगहिं संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
>
> नग अमोल तेहि तालहिं दिनहिं बरहिं जस जीप।
> सो मरजिया होई तहँ सो पावै वह सीप॥

दूसरे, उसके प्रकृति-वर्णन में आत्मीयता होती है। उसका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से आत्म-व्यंजक होता है, पर-व्यंजक नहीं। वह प्रकृति का वस्तु-वर्णन नहीं करता। प्रकृति उसे प्रियतम के रूप

में या परोक्ष-सत्ता के प्रतिबिम्ब के रूप में दिखलाई पड़ती है। जायसी के ऋतुवर्णन में यही दृष्टिकोण है। उसमें कवि जैसे प्रकृति की विरहाकुल आत्मा की पीड़ा का ही अनुभव करने लगा है। तीसरे, वह विराट और विशाल प्रकृति-पट के अधिक निकट होता है। वह भौतिक सीमा से कहीं ऊँचा उड़कर प्रकृति के भीतर के एक चरम सत्य या चरम सौन्दर्य तक पहुँचता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है, विशेष कर यदि वह साधना के ऊँचे स्तर पर नहीं है। उच्च स्तर पर पहुँचने पर उसमें और रहस्यवादी में कोई अन्तर नहीं रहता।

निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी कवि के दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस दृष्टिकोण को हम उनकी "जुही की कली" शीर्षक कविता में पूर्ण विकसित रूप में पाते हैं। पवन व्यापक है। वह असीम का प्रतीक है। जुही की कली ससीम है—आत्मा का रूपक। बृंत मोह का है। विराट की क्षुद्र के प्रति कितनी आसक्ति है, उसी के फलस्वरूप आत्मा की मुक्ति होती है। विराट से एक बार साक्षात होते ही क्षुद्र विराट होकर उसमें मिल जाता है—

> हेर प्यारे को सेज पास
> नम्रमुखी हँसी—खिली,
> खेल रंग प्यारे संग
> (जुही की कली)

एक दूसरी कविता "शैफालिका" में शैफाली वासकसज्जा है। प्रेमी गगन (अनंत का सूचक) उसके लिए शिशिर के चुम्बन

भेजता है। शोक-दुःख-जर्जर इस नश्वर संसार की क्षुद्र सीमा को पार कर प्रियालिंगन में प्रेमिका की आत्मा आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च सीमा पर (अमर विराम के सप्तम सोपान पर) पहुँच जाती है। इस मिलन के फलस्वरूप वह भवबंधन से मुक्त होती है—

पाती अमर प्रेम धाम
आशा की प्यास एक रात में भर जाती है
सुबह को आली शैफाली झर जाती है

शैफाली का झर जाना, आत्मा का पृथ्वी के विकार के सम्बन्ध को छोड़ देना ही मनुष्य के ईश्वर-प्रेम की परिणिति है।

कुछ कविताओं में प्रकृति परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए—पूर्ण विकास के लिए—तप करती है। "सोचती अपलक आप खड़ी" और "सूखी री यह डाल बसन बासन्ती लेगी" शीर्षक कविताओं में यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है। फलस्वरूप प्रकृति में जो बसंत आता है वह प्रियमिलन की सूचना है—

अमरण भर वरण गान
बन बन उपवन उपवन
जागी छवि, खुले प्राण
वसन विमल तनु वल्कल
पृथु उर-सुर पल्लवदल
उज्ज्वल दृग कलिकल पल
निश्चल कर रही ध्यान

प्रकृति के प्रति निराला का एक और दृष्टिकोण भी है जब वे प्रकृति में परमात्मतत्त्व की अनुभूति प्राप्त करते हैं। तब प्रकृति का अपरोक्ष रूप अधिक स्पष्ट होकर निखरने लगता है और एक सुन्दर स्त्री-रूप में उसकी कल्पना-मूर्ति सामने आती है।

यही वास्तव में शुद्ध वेदांती दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष में कोई भेद नहीं। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौन्दर्य की सुन्दर व्ययंजना की है—

रही आज मन में

वह शोभा जो देखी थी बन में
उमड़े ऊपर नवघन, घूम-घूम अम्बर
नीचे लहराता बन हरित श्याम सागर
उड़ा वसन बहती रे पवन तेज क्षण में
नदी तीर, श्रावण, तट नीर छाप रहता
नील पैंग का हिंडोर चढ़ी पैंग रहता
गीत मुखर तुम नवस्वर विद्युत ज्यों घन में
साथ-साथ नृत्यपरा कलि-कलि की अप्सरा
ताल लताएँ देतीं करतल-पल्लव-धरा
भक्त मोर चरणों के नीचे नत तन में

—:०:—

४६. पुराण और हिन्दू धर्म

(१) भूमिका (२) पुराणों के अध्ययन के विशेष रूप (३) पुराण और इतिहास (४) पुराण और धर्म—वे हिन्दू धर्म, हिन्दू चर्या और हिन्दू संस्कृति के कोष है (५) वर्तमान परिस्थितियों के कारण अंग्रेज़ी पढ़ी जनता में पुराणों का विरोध (६) पुराणों की बहुमुखी महत्ता—पुराणों में सौन्दर्य शास्त्र, काव्य, इतिहास, देवमाला एवं धर्माध्यात्म (७) उपसंहार ।

भारतीय धार्मिक चिन्ता जिन ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुई है वे हैं वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण और उपपुराण एवं तंत्र-ग्रन्थ तथा षटदर्शन और उन पर लिखी हुई टीकाएँ । परन्तु इनमें हिन्दू धर्मचर्य्या और हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध केवल रामायण, महाभारत और पुराणों से है । शेष ग्रन्थों में कर्मकांड और आध्यात्मिक चिन्ता ही सुरक्षित है, परन्तु इन ग्रन्थों में हिन्दू धर्म का हृदय भरा हुआ है । जिन शास्त्रों का सहारा पकड़ कर ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म का अवस्थान किया, जिनमें ब्राह्मण धर्म की आत्मा प्रविष्ठ है (हिन्दू धर्म है ब्राह्मण धर्म), वे हैं पुराण ।

पुराणों के अध्ययन के कई रूप हो सकते हैं । वे हमारे इतिहास हैं, चर्याशास्त्र हैं, धर्म-विचारों के मूलस्रोत हैं,

लोकभावनाओं और लोककथाओं के समूह हैं। एक स्थान पर इतनी विशेषताएँ कहीं नहीं मिलेंगी। आधुनिक दृष्टि से वे रोमांसमूलक कथाकाव्य भी हैं। रामायण महाभारत भी पुराण से भिन्न नहीं हैं, चाहे इनका जन्म किसी रूप में हुआ हो परन्तु कालान्तर में शैली, विस्तार, भावना और प्रकार की दृष्टि से वे पुराण से अभिन्न बन गए हैं।

इतिहास की दृष्टि से देखने से हमें यह पता लगता है कि पुराणों में हमारे राजन्य और क्षत्रियवर्ग के लोगों का इतिवृत्त सुरक्षित है; किसी एक निश्चित समय का नहीं, बहुत लम्बे काल का, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कलयुग के आगमन तक का। यह भी किसी एक तल का नहीं—अनार्यों, आर्यों और आर्येतर उन कितनी ही जातियों का जो हिन्दू समाज पर आक्रमण करके समय-समय पर उसी में विलुप्त होती गईं। प्रत्येक पुराण में कोई एक इतिवृत्त एक-सा भी नहीं मिलता। बहुधा परिवर्तन-परिवर्द्धन और संक्षेप हो गया है। इसका कारण यह है कि एक ही कथा को लोकसूत्र द्वारा विभिन्न स्थानों पर एकत्र किया गया है। अन्य राजनैतिक और सामाजिक कारण भी हो सकते हैं। प्रमाद भी हो सकते हैं; परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि पिछले ४-५ हज़ार वर्षों का बहुत कुछ भावात्मक इतिहास इन ग्रन्थों में है और संभव है पिछले २-३ सहस्र वर्षों का भारतवर्षीय और विदेशीय बहुत कुछ इतिहास सच्चा भी सिद्ध हो।

परन्तु इतिहास ठीक हो या न हो, पुराण हमारे लिए इसलिये महत्वपूर्ण हैं कि वे हिन्दूधर्म, हिन्दूचर्या और हिन्दू-संस्कृति के कोष हैं। एक शब्द में, उनके लिए महाभारतकार के शब्दों में कहा जा सकता है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥
[आदिपर्व ५६ । ३३ ।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखने वाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है; जो यहाँ नहीं है वह कहीं और भी न मिलेगा। हिन्दू-संस्कृति को समझने के लिए, विशेष कर ब्राह्मण-धर्म, दूसरे शब्दों में, वैष्णव-धर्म को समझने के लिए, हम पुराणों को छोड़ कर एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकते।

वर्तमान समय विचित्र है। पादरी-धर्म के संघर्ष के कारण हमारे यहाँ जो नए धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हुए, उन्होंने अपनी नींव उपनिषद् (ब्रह्मसमाज) और वेद (आर्यसमाज) पर रखी। उन्होंने हिन्दू-धर्म की पुराण-प्रियता की निन्दा की और उसे भारत के धार्मिक जीवन से हटाने के लिए घोर प्रयत्न किया। फलतः नव्य जनता पुराणों को एकदम भ्रष्टकल्पना की उपज समझ कर उनको दूर से नमस्कार करने लगी, नहीं तो गाली देने लगी। पुराणों का धर्म था भक्तिप्राण, श्रद्धाप्राण और चर्य्या-प्रधान। ईसाइओं का धर्म एहिकता प्रधान था, तर्कप्राण था। खंडन-मंडन चल पड़ा। फल यह हुआ कि हिन्दू नेताओं में अतिनैतिक चेतना, और अतिबुद्धि का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म को अनुभूति पर नहीं, बुद्धि के पीछे चलाने की चेष्टा हुई। उधर अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्राप्त वर्ग विज्ञान की तुला पर विकासवाद के बाट धर कर सब कुछ तोलने लगा। पुराण कहीं के न रहे। सब ओर से लांछित। लोग भूल गये कि इसी प्रकार एक बार हिन्दू-धर्म पर एक दूसरे विदेशी धर्म (इस्लाम-धर्म) का आक्रमण मध्ययुग में हुआ था और तब हिन्दू-धर्म और हिन्दूसमाज इन्हीं पुराणों की डोंगी में बैठ कर झंझावात से पार हो सका था।

आज लोग कहते हैं, भारत की धर्मचिंता का इतिहास उपनिषद् वेद हैं या केवल उपनिषद् हैं, अतः अन्य शास्त्र अग्राह्य हैं। क्षेपक हैं। इसका तो अर्थ यह हुआ कि हिन्दू जाति ने जो कुछ धर्मचिंता की थी, वह वेद या उपनिषदों के समय तक। फिर शेष कुछ रह ही नहीं गया। तंत्रशास्त्र, आगमशास्त्र, भक्तिवाद, पौराणिक धर्म और अनुष्ठान—ये जैसे भारत के धर्म-विकास के मानचित्र में कोई स्थान ही नहीं रखते या इनसे धर्म की क्रमिक अवनति ही हुई है। परन्तु वे नहीं जानते कि पुराणों का स्वयम् एक लम्बा समय है, उनमें वेद-उपनिषद् के समय की धर्मचिंता एवं इतिकथा के दर्शन हो सकते हैं और ये ग्रंथ भारत के जनसाधारण की धर्म-चेतना के समतल पर चल रहे हैं जब कि वेद-उपनिषदों में समाज के एक अत्यन्त छोटे वर्ग की धर्मचिंता प्रस्फुटित हुई है। हमें यह समझ रखना चाहिये कि वेद, उपनिषद् और षटदर्शन भले ही हिन्दू-चिंतकों को प्रभावित करते रहे हों, हिन्दू धर्म जिस जीवित, स्पंदित, अनुप्राणित विशाल महाराष्ट्र को प्रभावित करता रहा उसका सच्चा रूप रामायण-महाभारत में, पुराणों में है। भारतवर्ष और वृहत्तर भारत के देव-मंदिर, कथोपाख्यान और कला-प्रयत्न इस बात के साक्षी हैं।

पुराण हमारे इतिहास हैं। वे बहुत कुछ भावात्मक इतिहास हैं। जिस रूप में हम आज के इतिहास को देखते हैं, उस रूप में उन्हें देखना उचित नहीं। परन्तु हैं वे हमारे पूर्व-पुरुषों की कहानियाँ। सूर्यवंश, चंद्रवंश, अग्निवंश प्रभृति कितने ही वंशों का इतिवृत्त, राज्यों का उत्थान-पतन, आर्य-अनार्य सभ्यताओं के संघर्ष की कहानियाँ—यह इस इतिहास का मूल ढाँचा है। उसके साथ सटी चलती हैं देवकथाएँ। आर्यों के आने से पहले जो देवता अनार्यों में प्रतिष्ठित थे (जैसे शिव-उमा, विष्णु-शिव, कार्त्तिकेय) उन्हें आर्यों ने अपने इन्द्र, वरुण प्रभृति देवताओं

के साथ स्थान दिया। कालान्तर में अनार्य देवतावाद ने उभर कर वैदिक देवतावाद को नीचे दबा दिया है। विष्णु-शिव हो गए हैं प्रधान, इन्द्र-वरुण नाम-मात्र रह गए। इतने बड़े संघर्षों की कथा इन पुराणों में छिपी है। देवकथाएँ स्वतः स्फूर्तिप्रद रोमांस हैं। उनमें स्थान-स्थान पर नीति की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। फिर व्रतचर्य्या, रहन-सहन, तीर्थयात्रा, कलाकौशल-जीवन के समस्त अंगों पर पुराणकार विशाल दृष्टि डालता हुआ चलता है। उसके पास सबके संतोष के लिए सब कुछ है। और जो कुछ उसके पास है, वह आज के पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान पर भी भारी है। श्रद्धा-विश्वास, समाज-समस्त जीवन चर्य्या, धर्म-परिचालित ऐहिक जीवन-व्यवहार। मनुष्य के जन्म से लेकर मरण तक के समस्त कार्यों पर पुराणकारों ने जो व्यवस्था दी, आजतक हिन्दू धर्म उसको पकड़े चला आ रहा है। कथा-कहानी के रूप में उच्चतम आध्यात्मिक, मानसिक और लौकिक व्यवहार-चर्या इस प्रकार संसार के साहित्य में कहाँ मिलेगी ?

फिर दो-डेढ़ हजार वर्ष के साहित्य, शिल्प, कला का विषय पुराणों को छोड़ कर और क्या है। हम अत्यन्त धर्मभाव से अपने साहित्य की ओर पहुँचते हैं, इसका कारण। हमारा साहित्य धर्म है, धर्म साहित्य है। उदाहरण हैं पुराण। पुराणों के आख्यानों को लेकर संस्कृत में माघ, भास, कालिदास, भारवि ने रचना की है, हिन्दी के तुलसी-सूर के साहित्य का मूल भागवत् और रामायण ही हैं। वास्तव में, मध्ययुग का सारा साहित्य राधा कृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र सम्बन्धी पौराणिक साहित्य के भीतर से ही प्रस्फुटित हुआ है। आधुनिक काल में भी गिरीशचन्द्र घोष के नाटक, रवीन्द्र स्कूल के चित्र, उदयशंकर के नृत्य—ये सब पुराणों की सामग्री तथा तद्प्रभावित सामग्री लेकर ही आगे बढ़े हैं। हिन्दू धर्म के इन

विश्वकोषों की ओर हमारे प्रतिभाशाली कवि और कलाकार सदैव ही मुड़ते रहेंगे।

परन्तु पुराण केवल सौन्दर्यशास्त्र, काव्य, इतिहास, देव-माला एवं चर्याग्रंथ ही नहीं है उन्हें गम्भीर आध्यात्मिक चिन्ता का भांडार समझना चाहिये। यदि पुराणों की आध्यात्मिक साधनासम्बन्धी एवं धर्मदर्शन-सम्बन्धी सूक्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा करके अध्ययन किया जाय तो हम निःसन्देह कह उटेंगे—"यह तो है भारत की आध्यात्मिक चिन्ता। उपनिषद् और गीता से यह किसी प्रकार कम नहीं।" हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि कितनों ही लिए ये ग्रंथ उसी प्रकार अध्यात्म-साधना ग्रन्थ रहे हैं जिस प्रकार साम्प्रदायिक ग्रन्थ। कथा-रूप में उन्होंने धार्मिक विश्वासों का प्रचार किया है। देश में हिन्दू संस्कृति को विजातीय धर्मों के आघात से अक्षुण्ण बनाए रखा है। आकाशचारी आध्यात्मचिन्तन को जगद्तारिणी गंगा की भाँति सर्वसुलभ बनाया है।

४७. निर्गुण पन्थ

(१) निर्गुण पंथ में प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराएँ (२) निर्गुणियों में सार-ग्रहण की महत्ता और उसका "मधुकरी"—रूप (३) निर्गुण पंथ की मान्यताओं का विश्लेषण (४) कबीर का मौलिक निर्गुण पंथ और परवर्ती निर्गुण पंथ (५) आधुनिक काल के निर्गुण पंथ।

निर्गुण पन्थ में भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, धर्मग्रंथों, दर्शन शास्त्रों औ रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत के शून्य और निब्बान का भी स्थान है, वैष्णव धर्म की भक्ति भी है, वेदांत का अद्वैत है और गोरखनाथ का तंत्रवाद

भी है। सन्तों को वाणियों में योग-सम्बन्धी जो विचार लिए गये हैं, वे पातंजलि और कपिल के योगसूत्रों से नहीं, वरन् प्रचलित नाथसम्प्रदाय से जिसमें इन प्राचीन पौराणिक सिद्धान्तों का बौद्ध तंत्रवाद से मेल होकर कुछ और ही रूप हो गया था। इसीलिए निर्गुण सन्तों के योग को समझने के लिये योग के बिगड़े रूप अर्थात् नाथसम्प्रदाय की यौगिक क्रियाओं को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार निर्गुण पंथ में बुद्धमत का जो है, वह गोरखनाथ के माध्यम से प्राप्त हुआ है। सभी कुछ बिगड़े-सुधरे रूप में यहाँ मौजूद है।

हम उसे इन सब का बिगड़ा रूप कहें, परन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है। स्वयम् निर्गुणियों या संतों का यही दृष्टिकोण था। वह यह कि प्राचीन मतों, धर्मों और सम्प्रदायों का सार ले लिया गया है। इसके लिये सन्तों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। समय का प्रवाह ही ऐसा था और परिस्थितियाँ इस तरह काम कर रही थीं कि यह सब काम अनायास ही हो गया। हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार से इन सन्तों ने मध्यमार्ग का प्रचार किया। यह मध्यपथ की परम्परा गीता, बुद्धमत, महायान योगाचार और नाथसम्प्रदाय में होकर निर्गुण पन्थ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता यह है कि वह विद्रोह और अमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से संतुष्ठ हो जाने की प्रवृत्ति है। सन्तों ने ऐसा ही मध्यमार्ग जनता को दिया।

भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदाय और दर्शनों की धाराएँ निर्गुण-पंथ के रूप में एक हो गईं, यह हम कह चुके हैं। या प्राकृतिक प्रक्रिया थी। एकांतिक धर्म के विकास से लेकर रामानन्द के आविर्भाव तक यह मिश्रण होता रहा। एकांतिक धर्म में उपनिषदों के सिद्धान्तों का समावेश तो पहले ही हो गया था,

फिर भी महाभारत में हमें ईश्वरवाद के दर्शन होते हैं और अद्वैतवाद की पुष्टि मिलती है। शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य करते हुए ईश्वरवाद को अधिक मान नहीं दिया, इसी से उन्हें "प्रच्छन्न" बुद्ध कहा गया। परन्तु वैष्णव धर्म की आत्मा मृत नहीं हुई थी और शंकर के दर्शन के विरुद्ध अन्य दार्शनिक मत (विशिष्टाद्वैत, द्वैत, भेदाभेद आदि) उठ खड़े हुए। यह सब होने पर भी शंकराचार्य का प्रभाव बना रहा। १२वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में मुकुन्दराज ने विवेकसागर लिखा और १२६० में ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी नाम से भगवद्गीता की टीका उपस्थित की। दोनों पर वेदान्त का प्रभाव है। उत्तरी भारत में रामानन्द के द्वारा विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का मिश्रण हुआ। जान पड़ता है कि उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद में वैष्णवभक्ति को मिला लिया।

प्राचीन योग और बौद्ध मत के संयोग से योगाचार तंत्रवाद चला। इस तंत्रवाद पर शृंगार की छाया पड़ने पर वज्रयान और सिद्ध सम्प्रदाय की सृष्टि हुई। कुछ सिद्धों ने शृंगार-भाव या भैरवीचक्र का विरोध किया। गोरखनाथ ऐसे ही सिद्ध थे। उनसे नाथ सम्प्रदाय की नींव पड़ी। वैष्णव धर्म में योग का अपना स्थान था। उसमें योग के नये प्रकार की पहुँच हो गई। राघवानन्द प्रसिद्ध योगी भी थे, अद्वैतवादी तो थे ही। इन्हीं से रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत और योग की शिक्षा ली। इससे रामानन्द में वैष्णव, वेदांत और योग को तीन धाराओं का मिलाप हो गया। कबीर ने इसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाया यह स्पष्ट है कि निर्गुण पन्थ का रूप रामानन्द के समय में ही उनके द्वारा स्थिर हो चुका था। कबीर ने उसमें मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का विरोध जोड़ दिया। भक्ति में स्त्री-पुरुष के सांसारिक प्रेम के प्रतीक का आरोप भी उन्होंने ही किया। यह

दोनों बातें उन्हें मुसलमानों से मिलीं अथवा उनके कारण उन्हें कबीर मत में प्रमुख स्थान मिला।

इस प्रकार मिश्रित होने पर भी वैष्णव धर्म की भक्ति-भावना निर्गुण पन्थ का मेरुदंड होने के कारण हम उसे वैष्णव धर्म का नया रूप कह सकते हैं। उसका वही स्थान होगा जो आज आर्यसमाज का है यद्यपि भक्ति-भावना के कारण वह आर्यसमाज की अपेक्षा वैष्णव धर्म के अधिक निकट है। उसके मूल में अनेक वैष्णव भावनाओं का समावेश है। परन्तु जिस प्रकार आर्यसमाज का सनातनी मत ने विरोध किया, उसी प्रकार वैष्णवों, शैवों और शाक्तों ने मूर्ति-खंडक निर्गुण सम्प्रदाय का विरोध किया। फलतः इन लोगों के प्रति निर्गुणियों में विरोध की भावना भर गई यद्यपि कबीर और अन्य सन्तों ने स्थान स्थान पर वैष्णवों की प्रशंसा भी की है। वस्तुतः कबीर को वैष्णव कहना ही ठीक होगा, वे उनके कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद रखते थे। वे विष्णु और उनके अवतारों को भी नहीं मानते थे। इसलिए वैष्णवों के प्रति प्रेम होने पर भी वे वैष्णव नहीं माने गये और निर्गुण पन्थ वैष्णव पंथ से अलग चलता रहा।

निर्गुण पंथ एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में कबीर के समय में उठ खड़ा हुआ था, यह कहने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। कबीर स्वयम् मतों और सम्प्रदायों के विरोधी थे। उन्होंने अपने "शब्दों" में सम्प्रदाय और धार्मिक दलबन्दी की घोर विरोध किया है। वह स्पष्ट देखते थे कि हिन्दू और इस्लाम धर्मों के भीतर सम्प्रदायों के विरोध ने कितना विष इकट्ठा कर रखा है। उन्होंने जान-बूझ कर नया पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने तो प्रत्येक धर्म का सार संग्रह किया था और कोई भी उस सार को ग्रहण कर सकता था। उसे अपना पंथ

छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वाञ्छनीय नहीं था। निर्गुण की भावना के साथ पंथ की भावना चलती ही नहीं। पंथ की विशेषता कर्मकांड है। पंथ और धार्मिक असहिष्णुता का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। धार्मिक असहिष्णुता का यह कारण है कि मनुष्य केन्द्र को छोड़कर बाहर के आचार-विचारों को प्रधानता दे देता है और फिर इन बाह्योपचारों में असमानता देखकर, तत्त्व न समझते हुए, दूसरे से अपने आचार-विचार मनवाना चाहता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक की चेष्टा गौण को छोड़कर प्रधान की ओर लौटती है। बाहरी कर्मकांड तो प्रतीक मात्र हैं जिनके सहारे ऊँचे तत्त्वों तक पहुँचना होता है। परन्तु मानव-मन इन्हीं प्रतीकों में अटक कर रह जाता है। सुधारक प्रतीक के पीछे सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं और समय के अनुसार उसी एक तत्त्व के लिए नये प्रतीक गढ़ लेते हैं। यहाँ उनका कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु यही प्रतीक और बाह्याचार मनुष्यों को सम्प्रदायों में बाँधने के लिए आवश्यक हैं। कबीर पंथ अथवा निर्गुण पंथ में इनकी सत्ता ही नहीं मानी गई। उसमें न उपासना की व्यवस्था थी, न कर्मकांड की। वह तो सत्य को मानता था। जहाँ भी हो, वहाँ से उसको ग्रहण करना चाहिये। इसी भावना ने हमारी इसी बीसवीं शताब्दी में थ्यॉसोफ़ी मत को जन्म दिया है। यदि इस सार-ग्रहणता की भावना को धर्म की भावना माना जाय तो निर्गुण पंथ अवश्य पंथ है।

जो हो, आधुनिक काल में जो निर्गुण पंथ चल रहे हैं अथवा कबीर के बाद जो पंथ अस्तित्व में आये, वे इतना ऊँचा न उठ सके। उनमें बाह्योपचारों को स्थान मिला जिन्होंने उनका क्षेत्र सीमित कर दिया। कबीर की सार-ग्राहिणी प्रकृति के तो कहीं

दर्शन ही नहीं होते। कबीर ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया उसकी आत्मा से ये पंथ इतने ही दूर हैं जितने वे धर्म थे जिनका कबीर ने विरोध किया था। स्वयं कबीर-पंथ में कबीर को "साहब" का स्थान दिया गया है। चौका की उपासना-प्रथा वैष्णवों की षोडोपचार सात्विक पूजा का दूसरा रूप है। प्रत्येक पंथ में गुरु में ईश्वरत्व का आरोप कर लिया है, कुछ कर्मकांड बना लिये गये हैं, अन्य धर्मों की उपासना-पद्धति और अनेक प्रथाओं को अपना लिया गया है। वास्तव में कबीर पंथ, दादूपंथ, नानक पंथ, जग्गू पंथ, सतनामी पंथ, दरिया पंथ, साहिब पंथ, राधास्वामी पंथ निर्गुण की उपासना करते हुए भी इन्हीं वाह्योपचारों और कर्मकांडों के कारण कबीर के मौलिक निर्गुण पंथ या मत से भिन्न हैं।

४८. धर्म का सौन्दर्य

(१) धर्म की परिभाषा (२) धर्म और "ऋण"—धर्म की सामाजिक भावना (३) मनु और व्यास की धर्म-संबन्धी महत् धारणा—लोक-स्थिति को बनाये रखने के लिए जो किया जाय, वह धर्म है (४) धर्म में लोकमंगल की साधना (५) धर्म के सौन्दर्य तो ग्रहण करने में हमारी अक्षमता।

हम प्रतिदिन "धर्म" शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु वास्तव में हम उसका ठीक-ठीक रूप नहीं जानते। जिस चीज़ का ठीक-ठीक रूप ही हमारे ज्ञान में नहीं है, उसका सौन्दर्य हम भला कैसे समझेंगे?

धर्म क्या है? वेद व्यास कहते हैं—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

अर्थात् धर्म वह शक्ति है जो प्रजाओं और समाज को धारण करती है। स्पष्ट है कि वेद व्यास श्रेष्ठ सामाजिक आचार को धर्म का नाम दे रहे हैं। अधर्म है अनाचार जिसका फल होगा सामाजिक उच्छृङ्खलता। दूसरे स्थान पर मनु ने भी वही बात कही है—आचारः परमो धर्मः। यही नहीं, ऋग्वेद का भी यही मत है—

ऋतस्य पन्थां न तरंति दुष्कृतः

अर्थात् अनाचारी सत्य के पथ के पार नहीं पहुँच पाते। अतः धर्म का मूल रूप है अनाचारमूलक जीवन। इस आचारमूलक जीवन के लिये क्या कर्तव्य है। मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यापाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्

तीनों ऋणों को चुका कर मनुष्य मोक्ष या आध्यात्म-चिन्तन में लगे। ये तीनों ऋण हैं—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। इनको किस तरह चुकाया जाय? ऋषिऋण—ऋषियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान की प्राप्ति करके, देवऋण—हवनयज्ञादि पुण्य-कर्म करके, पितृऋण—प्रजनन द्वारा। इसी मनुष्य मात्र के लिये चार आश्रमों की कल्पना की गई—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। प्रत्येक मनुष्य के लिये इन आश्रमों का क्रमानुसार पालन करना आवश्यक है। जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस आश्रम-व्यवस्था को मान कर चलेगा तो आचार-हीनता और दुःख का कोई कारण ही उपस्थित न हो सकेगा। धर्म ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा एक निश्चित कार्यक्रम का पालन करता हुआ मनुष्य इहलौकिक जीवन में अभ्युदय और अन्त में आध्यात्मिक शांति प्राप्ति कर सके। महाभारत के भीषण युद्ध के बाद इसी सामाजिक व्यवस्था की हानि देख कर महाप्राण महर्षि व्यास कातर चीत्कार कर उठे थे—

"मैं भुजा उठा कर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुनने वाला ही नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते ?"

मनु और व्यास ने जिस धर्म की कल्पना की है, वह कर्म-तत्पर है। संसार के सब जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ है (नहिं मानुषात् श्रेष्ठकर हि किंचत्) और मनुष्य का लक्षण है कर्म (मनुष्याः कर्म लक्षणाः)। आज धर्म के अर्थ हैं अकर्म, परन्तु महर्षि जानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था से भाग कर स्वेच्छा और अनाचार को आश्रय देना उसकी जड़ें खोदना है। समाज तो कर्मशील व्यक्तियों पर ही आश्रित है। इसी से वे पलायनवादियो से कहते हैं—पहले यह लोक है, इसके कर्त्तव्य हैं; परलोक इसके बाद हैं—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्योंर्ध्व देहिकम्
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवितस्य मृतस्य च

अर्थात् जिनका भरण-पोषण अपनी अवश्य कर्त्तव्य है उनको कष्ट देकर जो परलोक साधता है, उसके लिये इस जीवन में और इसके बाद मृत्यु में भी दुख ही दुख है। वस्तुतः ऋषि तो इससे भी ऊपर उठ गए हैं। उनके लिए तो धर्म वह शाश्वत, सर्वोपरि नियम हैं जो व्यक्ति, राष्ट्र, जीवन, संस्थाओं, लोक और परलोक को धारण करते परिवर्तनशील इस संसार में जो सनातन तत्व है वही धर्म है।

इस रूप में धर्म को देखने के लिये तत्ववेत्ता और द्रष्टा की दृष्टि चाहिये। एक बार इससे परिचित होने पर इसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना पड़ेगा। उच्छृङ्खलता, अराजकता, अनियम— ये असुन्दर हैं। सनातन नियमों को जानना और समाज की स्थिति को स्वीकार करके उसे आदर देना—ये सुन्दर हैं। अनियम से नियम बड़ा है। बड़ा ही नहीं, सुन्दर भी है।

धर्म के इस मूल तत्त्व को जानने के पश्चात् और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। लोकस्थिति को बनाए रखने के लिए जो कुछ किया जाय, वह धर्म है। सामाजिक सहयोग और सामाजिक व्यवस्था का पालन पहली सीढ़ी।

हमारे प्राचीन मनीषियों ने इसे जाना था। इसीसे उन्होंने व्यवस्थाशास्त्र को भी "धर्मशास्त्र" कहा था। मनु, पराशर, वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्रज्ञ ऋषि माने गये हैं और समाज ने उनके कथनों को धर्म ही समझा है और उनके अनुकूल आचरण बनाया है। स्वयम् उन जैसे एकांतवासी तपस्वियों ने धर्म-द्वारा लोकसंग्रह-भाव को अपने अंतिम समय तक निभाया है। उन्होंने समाज, व्यवस्था, ऋषिनियम और गुणों को कहीं भी अस्वीकार नहीं किया। लोकमंगल की साधना ही उनके लिये "धर्म" हो गई थी। उनके साहित्य में अधर्म के पराभव और धर्म की जय के सुन्दरतम चित्र है। धर्म और लोकमंगल की भावना का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। ऋषियों और महाकवियों ने अपने काव्य में लोकमंगल की ही साधनावस्था उपस्थित की है। वाल्मीकि और व्यास की साहित्यिक साधना की परख करते हुए तत्त्व-चिन्तक और साहित्य मर्मज्ञ श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी धर्मप्राण कला का विश्लेषण इस प्रकार किया है—"वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्मवृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्दकला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो "धर्म की जय" कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है—आगे चल

कर चाहे वह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अंत तक सुन्दर होती है, अन्त चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्षकवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसकी सफलता में पर्यवसाय किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौन्दर्य रहता, पर उनमें भगवान की पूर्णकला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान की शक्ति अमोघ है।" ऋषियों और तत्ववेत्ताओं ने सामाजिक सहकारिता, दुष्टों के नाश और पुण्यात्माओं की जय, प्रकृति और मानव के सम्बन्ध—सभी में भगवान की कल्याणकारी अमोघशक्ति के दर्शन किये हैं। इस अमोघशक्ति के दर्शन में ही उन्हें "धर्म का सौन्दर्य" भी दिखलाई पड़ता है। इसी से कवि ने कहा है—

धर्म दे प्रगट होइ भगवाना

धर्म का सौन्दर्य हम इसलिए ग्रहण नहीं करते कि हम उसके उतने ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँच जाते जितना उसके आत्मसात के लिए आवश्यक है। हम धर्म के अत्यन्त संकीर्ण अर्थ लेते हैं और नैतिक एवं धार्मिक विधि-विधानों में ही उसकी समाप्ति समझ लेते हैं। वास्तव में धर्म का सौन्दर्य हम उसी समय समझ सकेंगे जब हम उसे व्यापक रूप में लें। यह व्यापक रूप, फिर आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में, "सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति" है जिसकी कई भूमियाँ हैं—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म, विश्वधर्म। "किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध

रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जन-समूह के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म उच्च-कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृह-धर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्ण धर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्ग धर्म की रक्षा करने वाला किसी कर्म या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म की रक्षा करने वाला लोक या समस्त जाति की रक्षा देखकर आनन्द का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान पूरे धर्म-स्वरूप हैं। अतः वे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा कर आनन्द प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनन्द भी उच्चकोटि का होता है।" कहना नहीं होगा कि इस आनन्द के साथ सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं। कुल-व्यवस्था, गृह-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, लोक-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था के सुष्ठु, आदर्श रूप मन में आनन्द की प्रेरणा करते हैं परन्तु इस आनन्द के मूल में इन व्यवस्थाओं में सन्निहित सौन्दर्य की प्रेरणा मुख्य रूप से रहती है।

४९. ज्ञान-प्राप्ति के साधन

(१) पूर्व और पश्चिम के ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में मतभेद,

(२) पश्चिमी मतवाद का इतिहास (३) ज्ञान-प्राप्ति के तीन साधन —
इन्द्रिय-जन्य. ज्ञान, तर्क-जन्य ज्ञान, अनुभूति-जन्य ज्ञान (४) तीनों
साधनों द्वारा प्राप्त ज्ञान की असम्पूर्णता (५) ज्ञान-प्राप्ति का एक मात्र
सत्य साधन—दर्शन (६) उपसंहार ।

पूर्व और पश्चिम के ज्ञान-प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। पश्चिम के मनीषी तर्क-बुद्धि और विज्ञान पर बल देते हैं। पूर्व के हिन्दू दार्शनिकों का विश्वास है कि हमारे पास तर्क-बुद्धि से ऊँची एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हम ज्ञातव्य वस्तु से एकात्म स्थापित कर सकते हैं और तब हम उस वस्तु का अन्यतम परिचय पा जाते हैं, हमारी दृष्टि केवल सतह पर ही नहीं रह जाती। इसीसे हिन्दू शास्त्र में ज्ञान को दर्शन कहा है। इस प्रकार के ज्ञान को जो वस्तु की पूर्णता से हमारा साक्षात्कार करा दे और जो इंद्रियों और तर्क-बुद्धि पर आश्रित नहीं है, "प्रज्ञान", "प्रतिभा", "आर्षज्ञान", "सिद्धदर्शन", योगीप्रत्यक्ष" कहा गया है। शंकराचार्य उसे "अनुभव" कहते हैं। बुद्ध ने उसे "बोधि" कहा है। बुद्धघोष प्रज्ञान को विज्ञान (तर्क-जन्य ज्ञान) और संज्ञान (इंद्रियजन्य ज्ञान) से ऊँचा मानते हैं।

पश्चिम ने तर्क और आलोचक-बुद्धि को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना है। संभव है कि यह उन परिस्थितियों के कारण हो जिनमें रहकर यूनान के दार्शनिकों को काम करना पड़ा था। संभव है इस विचार की जड़ उनकी विकसित नागरिक भावना में हो जिसमें मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास अपेक्षित था। परन्तु हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि विज्ञान पर बल देते हुए भी पाश्चात्य प्राचीन दार्शनिकों ने उससे बड़े किसी दूसरे साधन की ओर इंगित किया है। प्लेटो Neosis को सर्वोच्च ज्ञान मानता है; वह बुद्धि के परे है, प्रत्यक्ष और Immediate है। Plotinus और Neo-platonists को यह विश्वास था कि

केवल तर्कजन्य ज्ञान ही काफ़ी नहीं हैं। उनके अनुसार तर्क का आधार अनुभूतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है। बाद के दार्शनिकों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया और भौतिक विज्ञानों के विकास के साथ दर्शन को विज्ञान पर आश्रित कर दिया गया। विज्ञान का साधन प्रयोग और तर्क था।

इस प्रकार डेसकारटीस (Descartes) से यूरोप के दर्शन ने सत्य की एक नई संकीर्ण व्याख्या की और अपनी दिशा बदली। सत्य की परिभाषा गणित के सत्य के दृष्टिकोण से की गई। स्पॉनोज़ा, लेबनिज़, हैगल और रसल सभी ने तर्क को ज्ञान का एक मात्र साधना माना है। उनका तर्क विश्लेषण प्रधान है। हाँ, कांट ने श्लेषणशील तर्क (Synthetic Logic) की कल्पना की, परन्तु वह उसे बहुत आगे नहीं बढ़ा सका। बाद के चिंतकों पर हैगल का प्रभाव ही अधिक रहा, यद्यपि उन्हें कहीं-कहीं कांट के दृष्टिकोण से भी सामञ्जस्य करना पड़ा। कांट का समर्थक ब्रेडले है। उसके अनुसार बुद्धि विभिन्न सम्बन्धों की परिधि के बाहर नहीं जा सकती और इसीसे वह सत्य को पूरा-पूरा पकड़ भी नहीं सकती। बसनकट (Bosanquet) ब्रेडले से अधिक यथार्थवादी और उसका दृष्टिकोण हैगल-जैसा है।

इस तरह यदि हम पश्चिम के दर्शन के इतिहास का अध्ययन करें तो उसके नीचे हमें तर्क की सर्वप्रधानता मिलेगी। एक प्रकार का बुद्धिवाद यूरोप की कल्पना को इतना जकड़े है कि वह उसकी हाड़मज्जा का अंश हो गया है। सत्य विज्ञान है, विज्ञान सत्य है। धार्मिक विश्वास मूर्खता है।

ज्ञान प्राप्त के तीन साधन हैं—इंद्रियाँ, तर्क और प्रज्ञान या अनुभव-ज्ञान। जो ज्ञान हमें इन तीन साधनों से प्राप्त होता है, उसे हम क्रमशः इन्द्रियजन्य-ज्ञान, तर्कजन्य ज्ञान और अनुभूति-जन्य ज्ञान कह सकते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान से हमें संसार के

वाह्यरूप के ज्ञान में सहायता मिलती है। इन्द्रियों के द्वारा हम वस्तु से उतने ही परिचित हो जाते हैं जितना इन्द्रियगम्य है। इस प्रकार का ज्ञान विज्ञान का विषय है। तर्कजन्य ज्ञान विश्लेषण और संश्लेषण से प्राप्त होता है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका तर्क विश्लेषण करता है और फलस्वरूप हमें ज्ञातव्यवस्तु का अधिक पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभव और विश्लेषण-शक्ति के विकास के साथ तर्क बदल सकते हैं और उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान भी बदल सकता है या उसके मूल्यांकन में भेद आ सकता है। परन्तु यह दोनों प्रकार का ज्ञान वस्तु के सच्चे-स्वरूप को जानने के लिए यथेष्ट नहीं है।

प्लेटो ने एक आदर्श संसार की कल्पना की। उसके अनुसार इन्द्रियजन्य संसार उस आदर्श संसार की छाया थी जो स्रष्टा के मन में उद्भूत हुआ है। वही सत्य है। उसीका ज्ञान सत्य ज्ञान है। अतएव इन्द्रियजन्य संसार सत्य नहीं है। तर्कजन्य ज्ञान भी सत्य नहीं है क्योंकि तर्क के द्वारा वाह्यवस्तु का जो रूप हमारे सामने आता है, वह वह रूप नहीं होता जो हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। बुद्धि की क्रिया में इन्द्रियों-द्वारा प्राप्त चित्र छिन्न-भिन्न हो जाता है और फिर उसी तरह बन नहीं पाता। तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान भी असम्पूर्ण है। वस्तु जो है, बुद्धि उसके चारों ओर चक्कर काटती रहती है और उसके हृदय में पैठ नहीं सकती। ब्रेडले के अनुमार मानसिक विश्लेषण में सत्य असत्य हो जाता है क्योंकि इस प्रक्रिया में वस्तु की एकता को आघात पहुँचता है। इसके सिवा भावना और अनुभूति बुद्धि के बाहर रहती हैं। केवल बुद्धि इन दोनों के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकतो।

वस्तुतः ठीक-ठीक ज्ञान न भावना (Emotion) से पाया जा सकता है, न अनुभूति (Intution) से, न बुद्धि (Intellect) से। केवल तीनों के उपयुक्त सम्मिश्रण से हम किसी वस्तु के

पूर्ण रूप से परिचित हो सकते हैं। हम तीनों से अलग-अलग भी किसी वस्तु के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, परन्तु हमारा ज्ञान उतनी सीमा तक सम्पूर्ण होते हुए भी व्यापक और अलिप्त सत्य की दृष्टि से अपूर्ण होगा। हमारे मनीषियों ने "आत्मज्ञान" को सत्यज्ञान कहा है। कुछ पश्चिमी विद्वान् भी आत्मज्ञान, अनुभूतिजन्यज्ञान (अथवा Intution) को ही एक मात्र सत्य और पूर्ण ज्ञान मानते हैं। बर्गसाँ का कहना है कि तर्क के द्वारा हम वस्तु को पूर्ण रूप में ग्रहण नहीं कर सकते, उसके विभिन्न अंगों भर को पहचानते हैं। कल्पना कीजिये आपने संध्या के समय आकाश की शोभा देखी। आप उसे शब्दों में बाँधते हैं तो प्रकाश, स्वर्ण, रजत आदि कुछ विशेषण आपके सामने आते हैं। यदि यह सम्भव भी हो कि आकाश की शोभा को वर्णन करने के लिए आपको उपयुक्त शब्द मिल भी जायं तो भी कुछ विशेषणों भर का नाम "सूर्यास्त" नहीं है। आप सूर्यास्त को सम्पूर्णत: केवल अनुभूति से ही पकड़ सकते हैं। कवि अपने काव्य द्वारा उसका सम्पूर्ण चित्र देने की चेष्टा करता है परन्तु असफल होता है। क्रोसे ने इसी प्रकार के भेद को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान के दो भेद कर दिये हैं—वह ज्ञान जो अनुमान, कल्पना और अनुभूति के द्वारा प्राप्त होता है और वह ज्ञान जो बुद्धि-द्वारा विश्लिष्ट और संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है। पहला ज्ञान "आत्मज्ञान से भिन्न नहीं है", दूसरा ज्ञान परम्परागत धारणाओं (Concepts) तक ही सीमित रह जाता है। ब्रेडले, बर्गसाँ, क्रोसे और कितने ही पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता यह मान लेते हैं कि बुद्धि-द्वारा जीवन निश्चित धारणाओं में बँधकर जड़ हो जाता है। अनुभूति के द्वारा वह अपना अनुभव करता है, अपने को जीवित रखता है और अपनी जीवनीशक्ति का विकास करता है। हमारे उपनिषदों ने भी ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन माने थे अनुभूति और जिज्ञासा। उनका

कहना था कि अनुभूति या हृदय की साधना के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सहज है, जिज्ञासा या मन की साधना के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कठिन है। इसी तरह उन्होंने ज्ञान के भी दो भेद किये--परा और अपरा। "दो विद्याएँ जानने योग्य हैं। उन्हें ब्रह्मादि परा और अपरा विद्याएँ कहते हैं। परा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का ज्ञान है। परा विद्या से मनुष्य अक्षर का ज्ञान प्राप्त करता है" (मुंडकोपनिषद्)। ऋषियों की दृष्टि में परा विद्या का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। इसमें पारंगत हुए बिना मुक्ति नहीं। इसे जानने के बाद "और भी कुछ" नहीं जाना जा सकता। अनेक कथाओं द्वारा इसी मत की पुष्टि की गई है। नारद जी ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—"हे भगवन्, मुझे उपदेश कीजिये।" सनत्कुमार ने पूछा—तुम जो-जो जानते हो, बताओ? नारद ने उन विद्याओं के नाम लिए जिनमें वे पारंगत थे। "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इतिहास पुराण रूप पाँचवा वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन विद्या—हे भगवन, मैं ये सब जानता हूँ।" नारद मंत्रवेत्ता थे, आत्मवेत्ता नहीं। उन्हें दुख है। शोक को वे प्राप्त होते हैं और तब यह सारा ज्ञान उन्हें शान्ति नहीं दे सकता। "हे भगवन्, मैं शोक करता हूँ, आत्मवेत्ता, सुना है, शोक को पार कर लेता है। मुझको शोक से पार करा दीजिये।" तब सनत्कुमार ने उनसे कहा—"तुम यह जो कुछ जानते हो, वह नाम ही है।" नारद ने पूछा—हे भगवन्, क्या नाम से भी कुछ अधिक है? ऋषि ने उत्तर दिया—"नाम से भी अधिक है" "तो भगवन्, मुझे वही बतलावें!" सनत्कुमार ने जिसे नाम मात्र

कहा है, उसे ही क्राँसे ने धारणाबद्ध ज्ञान" (Conceptual Knowledge) माना है। नाम से अधिक जो ज्ञान है वह आत्मानुभूति या ज्ञातव्य वस्तु से आत्मसाक्षात्कार के द्वारा ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को दो बड़े भागों में विभाजित करने के पश्चात् भी यह समस्या रह जाती है न कि दोनों में कौन मुख्य है, क्या दोनों के ज्ञान से वस्तु का पूरा ज्ञान हो जाता है या फिर भी जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह सच्चा ज्ञान नहीं होता। तत्त्वज्ञानी इसी सत्य पर पहुँचे हैं कि हम सच्चाज्ञान प्राप्त ही नहीं कर सकते। अनुभूति-द्वारा प्राप्त रहस्यात्मक ज्ञान भी सत्य से उतनी ही दूर होगा जितना बुद्धि-द्वारा प्राप्त धारणात्मक ज्ञान। कदाचित् इसी कठिनाई को हल करने के लिए ऋषियों ने कहा था—"एकं सद् विप्रं बहुधा बदन्ति" इस प्रकार उन्होंने सभी कथनों में सच्चाई होना स्वीकार किया था। वास्तव में ज्ञान-प्राप्ति की समस्या का हल अभी हो ही नहीं पाया है और कदाचित् हो भी न सके। कवि जिसके लिए "जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मधोनः (अर्थात् हे मेघ, मैं यथार्थतः तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, तुम इस प्रकृति के कामरूप पुरुष हो), उसे ऐतिहासिक दूसरी तरह देखता है—"जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकामाम्" (अर्थात् पुष्कर और आवर्त्तक नामक मेघों के विशाल वंश में इस सामने देख पड़ने वाले मेघखंड का जन्म हुआ है), साधारण कृषक दूसरी तरह—"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति" (अर्थात् यह जो लहलहाती हुई शस्य सम्पत्ति है, हे मेघ, इसका श्रेय तुम्हारे वरद जल कणों को है), और वैज्ञानिक अपने ही ढंग पर—"धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः—क्व मेघा" (अर्थात् धुआँ, आग, पानी और हवा—इन्हीं के जमघट का नाम मेघ है)। इनमें प्रत्येक सच को अपने ढंग से पकड़ता है और उसीको

पकड़ कर बैठ रहता है। वास्तव में मेघ पकड़ में नहीं आता। हम सच्चा ज्ञान न अनुभूति द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, न तर्क-वितर्क द्वारा। दोनों प्रकार से प्राप्त ज्ञान हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। कवि का तत्त्वदर्शन भी उतना ही सच्चा है, जितना वैज्ञानिक का चीरफाड़ द्वारा प्राप्त विश्लेषणात्मक ज्ञान। एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना भूल है।

५०. विज्ञान और हिन्दू धर्म

(१) विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध में साधारण विश्वास (२) विज्ञान में श्रद्धा का स्थान और धर्म से ज्ञान का सम्बन्ध (३) विज्ञान की भौतिकी परत के नीचे महान् समस्याओं का रूप धार्मिक ही है (४) जीवन, मृत्यु, विराट और काल के सम्बन्ध में हिन्दू ऋषियों और वैज्ञानिकों मान्यताओं में समानता (५) जहाँ दर्शन और विज्ञान की समाप्ति है, वहाँ हिन्दू धर्म का पहला चरण है (६) उपसहार।

साधारण रूप से विज्ञान और धर्म विरोधी माने जाते हैं। लोग कहते हैं विज्ञान का आधार है तर्क, धर्म का आधार है श्रद्धा। पहले से बुद्धि का नाता है, दूसरे से हृदय का सम्बन्ध है। विज्ञान और धर्म में सामञ्जस्य बिठलाना असम्भव है। विज्ञान प्रगति है, धर्म रूढ़िवादिता है।

परन्तु क्या सचमुच ऐसा है ? क्या विज्ञान और सत्य, धर्म और श्रद्धा इतनी भिन्न वस्तुएँ हैं ? क्या विज्ञान में श्रद्धा को स्थान ही नहीं है और धर्म का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है ? जहाँ तक हिन्दू-धर्म की बात है, हम कहे देते हैं कि यह दृष्टिकोण भ्रामक है। हमारा धर्म श्रेष्ठ महती सत्यों पर आश्रित है और वह मूलरूप में अंध श्रद्धा का विरोधी भी है। उपनिषद का ऋषि ईश्वर से प्रार्थना करता है—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

(हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, एवं मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।)

अतः, सत्य का सम्बन्ध धर्म से भी उतना ही है जितना विज्ञान से है। परन्तु सत्य क्या है, इस विषय में मतभेद हो सकता है।

यदि हम विज्ञान की भौतिक परत के नीचे उन महान् समस्याओं को देख सकें जिनके सुलझाने में वैज्ञानिक अपना सुख होम कर देता है तो हमें निश्चय रूप से वही समस्याएँ मिलेंगे जो धर्म की समस्याएँ कही जाती हैं। यह जीवन क्या है? यह जीवन कैसे है? यह जीवन क्यों है? क्या जीवन सतत परिवर्तनशील है? मृत्यु और जीवन में क्या भेद है? चेतना क्या है? मन क्या है? जो हम इन्द्रियों द्वारा देख सुन-समझ पाते हैं, क्या वह सत्य है या मिथ्या, या इससे परे है सत्य? यही दर्शन के प्रश्न हैं, यही धर्म की मूल समस्याएँ। शुद्ध विज्ञान इन्हें ही सुलझाने में लगा है। धर्म ने अपने ढंग पर इन समस्याओं को सुलझाया है, विज्ञान आज अपने ढङ्ग पर सुलझा रहा है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दोनों के उत्तर एक ही हैं।

जीवन की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं बन सकी है, परन्तु मृत्यु की बात से जीवन की बात समझाई जा सकती है। वैज्ञानिक मृत्यु की परिभाषा देता है—

"It is the inability of the Life-force to raise to the requisite rate of vibration the nervous tissue upon which it acts, its manifestation thus being rendered impossible."

"शतायुः पुरुषः" की घोषणा करने वाले ऋचाओं के ऋषियों ने भी कहा—अमृतयु वै प्राण (अमृत प्राण है)। ऊर्जित प्राण मनुष्य ही जीवित रहता है, अधःप्राण मनुष्य मरण को प्राप्त होता है।" "प्राणोः विराट।" प्राण है सृष्टि की विराट् शक्तियों के साथ संपर्क स्थापित करने का नाम। ये विराट शक्तियाँ हैं प्रकाश, ताप, स्वस्थ जलवायु। इन्हें देवता कहा है जो अमृत पीकर अमर हो गए हैं। इन विराट शक्तियों का उपासक प्राण का संग्रह करता हुआ योग द्वारा नाशकारक विकारों को दूर करता हुआ ऊर्ध्वरेता होकर अमृततत्त्व की प्राप्ति करता है।

इसी प्रकार वैज्ञानिक और धर्मवेत्ता लगभग एक ही समान जीवन को अनबूझ पहेली मानते हैं। विज्ञान ने बुलबुले के समान परन्तु सतत केन्द्र से परिधि की ओर फैलते हुए विश्व की घोषणा की है यद्यपि नीहारिकाओं के अनेक आवर्त्तों और सौर्य-मंडलों की असंख्यता के कारण वह अब भी उसके लिए पहेली भर है। वैदिक ऋषि ने भी आज के वैज्ञानिक की भाँति ही कभी प्रश्न किए थे—

"इस विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे, तब क्या उसका आधार था, और कौन-सी सामग्री थी? यदि विश्व का कोई उपादान था तो वह कैसा था?" "वह ऐसा कौन-सा महावन था? उस महावन में ऐसा कौनसा महावृक्ष था जिसे काट-छाँट कर द्यावापृथिवी-रूप संसार बनाया गया?"

तैत्तिरीय ब्राह्मण के ऋषि ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया—

> ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस
> यतोद्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
> मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो
> ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्

("ब्रह्म बन था, ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथ्वी तराशे गये हैं। हे विद्वानों, मन से चिन्तन करके यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है"। विज्ञान के अणु—परमाणु भी अबूझ हैं और यह ब्रह्म भी। गीताशास्त्र में जिस "ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" अवश्वत्थ के रूप में सनातन संसार की कल्पना की गई है वह आईस्टाइन के "बुद्बुद" जैसे संसार से अभिन्न है।

जीवन, मृत्यु, विराट और काल की खोज से थक कर ऋषि उसे ब्रह्म की तरह अनन्त, अनिर्वचनीय कह देता है। आज का वैज्ञानिक भी हार कर कह देता है—"...Unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity, space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists." यहाँ तक साधनों और प्रयोगों का भेद होते हुए भी हम अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

अब यहीं से हिन्दू धर्म शुरू होता है। जहाँ दर्शन और विज्ञान की समाप्ति है, वहाँ हिन्दू-धर्म का पहला चरण है। सब कुछ जानने के पश्चात् जब यह जान लिया जाय कि हम कुछ नहीं जान सकते तो इस ज्ञान के सहारे जीना भी असम्भव हो जाये। इसीलिए जीवनदर्शी प्राच्य ऋषियों ने जनता को यह नहीं बताया कि सब माया है, सब पहेली है, सब अबूझ है। जाना कुछ नहीं जाता। चाहे श्रद्धा को आत्म-प्रतारणा ही कहा जाय, परन्तु जहाँ जीवन और मृत्यु में से एक को चुनना है वहाँ आत्मप्रतारणा के साथ जीते रहना अविश्वासी होकर दुख से मरने की अपेक्षा अच्छा समझ गया। इसीसे हिन्दू धर्माचार्यों ने कहा। ब्रह्म विष्णु है। वह कालरूपी शेष पर शयन करते हैं। उनकी भक्ति में अमृत का वास है। उन्होंने विष्णु के रूप की कल्पना की, उन्हें आयुध दिये, दिव्य वस्त्रों से सुसज्जित किया

और अत्यन्त ग्राह्य रूप में जनता के सामने उपस्थित किया। अनेक देवी-देवताओं और अनेक रूपकों के द्वारा उन्होंने "सत्य" को जनता के लिए सुलभ बनाया। वास्तव में पुराण की भित्ति हिन्दू दर्शन है। आज पश्चिमीय विज्ञान ने नीहारिकाओं और नक्षत्र-जगत के विषय में अत्यन्त परिश्रम से खोज करके विश्व की अनन्तता का निर्माण किया है। हिन्दू धर्म ने इस ज्ञान को भगवान के विराटरूप की कल्पना के द्वारा जनसुलभ बना दिया है। कागभुशुण्डि राम के मुँह में चले जाते हैं। वहाँ परिस्थिति यह है—

उदर मांझ जनु अंडज राया।
देखेहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि विधि मैं देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक॥

भला इसमें और वैज्ञानिकों की असमर्थता में अन्तर कहाँ है? जीवन की अविनश्वरता, अनन्तता का जो श्रुतमुखगान आज विज्ञान के संसार में सुन पड़ रहा है, यही वैदिक ऋषियों के ज्ञान का विषय था जिन्होंने कहा था—

जीवन तेरी जय हो।
अपने आधे से तूने यह सृष्टि बनाई, आधा शेष,
बढ़ता रहा उमड़ता-चलता रहा, नहीं जाने किस देश!
(अर्धेन विश्वं भुवनं जजात। यो ऽस्यार्धः कतमः स केतुः)

मनुष्य इस अनन्त के एक बहुत छोटे अंश को ही बुद्धि द्वारा ग्रहण कर सकता है परन्तु वह भी सर्वसाधारण के पौरुष की बात नहीं है। हिन्दूधर्म में शेषशायी विष्णु की कल्पना के द्वारा इस ज्ञान को प्रत्येक घर में पहुँचा दिया गया। विष्णु हैं निरञ्जन ब्रह्म का वह अंश जो सृष्टि में प्राप्त हो गया है, जो सृष्टि की

परिधि से बचा रहा वह "शेष" है। इसी शेष को आधार बनाकर विष्णु शयन करते हैं। विष्णु सांत विश्व हैं, शेष अनन्त विश्व के प्रतीक हैं। वस्तुतः पुराणों में विज्ञान के उच्चतम सिद्धान्तों को कल्पना द्वारा मूर्ति और भावना द्वारा रस-सिक्त कर जन-साधारण तक पहुँचा दिया गया है।

५१. वल्लभाचार्य और मध्य युग का भक्ति-आन्दोलन

(१) वल्लभाचार्य से पूर्व की भक्ति-सम्बन्धी मान्यताएँ (२) वल्लभाचार्य ने दास्य भावना मूलक श्रद्धा-समन्वित ज्ञानाश्रित भक्ति के स्थान पर व्यक्तिगत मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा की जिसका एक रूप मर्यादा था, एक प्रपत्ति (आत्मा समर्पण) (३) वल्लभाचार्य का जीवन और उनकी महत्ता (४) वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त (५) पुष्टि मार्ग (६) कृष्ण-काव्य के रूप में वल्लभाचार्य का हिन्दी साहित्य और हिन्दी-प्रदेश की जनता पर प्रभाव।

श्रद्धामूलक, ज्ञानमूलक, और रहस्यमूलक भक्ति की परम्परा बहुत प्राचीन है और दास्य भक्ति, सन्तों की भक्ति और सूफ़ियों की भक्ति के रूप में ये तीन प्रकार मध्ययुग के आरम्भ से ही चले आते थे। सूफ़ियों और सन्तों की भक्तिपद्धति वैष्णवों को अग्राह्य थी, अतः उन्होंने दास्यभक्ति के प्रचार में ही विशेष भाग लिया। मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन में सूफ़ियों और सन्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वैष्णव भक्ति का स्थान इन दोनों से महत्त्वपूर्ण है। उसने समाज, संस्कृति और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला जितना भक्ति के पिछले दो प्रकारों ने नहीं डाला। मध्ययुग में भक्ति का पहला प्रचार रामानुज के मायावाद के विरोध के सिलसिले में हुआ। रामानुज का भक्तिवाद उपनिषदों की उपासना के आगे न बढ़ सका। उनकी भक्ति-साधना में ज्ञान का महत्त्वपर्ण स्थान था। उनकी भक्ति का

अर्थ था भगवान का चिन्तन और चिन्तन का ज्ञान से निकट का सम्बन्ध. है। भक्ति का यह ज्ञानाश्रित रूप केवल द्विजों के लिये उपस्थित किया गया था। शूद्रों के लिए रामानुज ने "प्रपत्ति" की व्यवस्था की थी जिसका अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर आत्मविस्मरण। इसे "आत्मसमर्पण" कह सकते हैं जिसके विषय में गीताकार ने कहा है—

सर्व धर्मान् परितज्य मामैकं शरणं व्रज।
अहम् त्वा सर्वपायेभ्यो मोक्षायिष्यामि मा शुचः॥

स्पष्ट है कि रामानुज की प्रपत्ति और गीता की इस "शरणागति" में कोई भेद नहीं है। रामानुज नारायण और लक्ष्मी को उपास्य मानते थे। उनके बाद निंबार्क आये। उन्होंने कृष्ण और राधा को उपास्य माना। उन्होंने द्विजों और शूद्रों के लिए अलग-अलग भक्ति-पद्धतियों की योजना नहीं की। उनकी भक्ति का वही रूप था। जो रामानुज के यहाँ "प्रपत्ति" का था—उपास्यदेव के प्रति शरणागति। तद्पश्चात् माधवाचार्य अवतीर्ण हुए जिन्होंने विष्णु के दोनों अवतारों—रामकृष्ण—को उपास्य ठहराया। इन्होंने वैराग्य और नवधा भक्ति का प्रचार किया। श्रद्धामूलक तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति की इस परम्परा में अन्तिम आचार्य रामानन्द हुए। इन्होंने शूद्रों को ज्ञानश्रयी कर्मकांडी भक्ति का अधिकारी माना। मूलतः उनके सिद्धान्त वही हैं जो रामानुज के थे, परन्तु वे राम को उपास्य मानते थे। उन्होंने संस्कृत को छोड़कर लोकभाषा को ही प्रचार का माध्यम बनाया और इस तरह उनके द्वारा भक्ति आन्दोलन का रूप अधिक व्यापक हो गया। सारा भारत भक्ति के रंग में रँग गया। शीघ्र ही इसके दो रूप हो गये। एक सनातनी हिन्दू जनता में चलता रहा। दूसरा संतों द्वारा निम्नश्रेणी के लोगों में चला। पहला

कर्मकांडी था। दूसरा कर्मकांड का विरोध करता था। परन्तु दृष्टि-कोण दोनों का एक ही था, या प्रायः एक ही था।

अब तक भक्ति का रूप केवल दास्य भावना तक सीमित था और वह श्रद्धासमन्वित और ज्ञानाश्रित थी। वात्सल्य और शृंगार को स्थान नहीं मिला था। इस कमी को वल्लभाचार्य और चैतन्य ने पूरा किया। वास्तव में वल्लभाचार्य और चैतन्य से पहले भी व्यक्तिगतरूप से शृंगार भक्ति या मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वल्लभाचार्य और चैतन्य दोनों माधवेन्द्र-पुरी के शिष्य थे और उनके साहित्य और जीवन वृत्त के अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि दोनों आचार्यों को शृंगारभक्ति का सन्देश उन्हीं से मिला होगा। फलतः वल्लभाचार्य और चैतन्य के सम्प्रदायों में भी बहुत समानता है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति भावुकताप्रधान है और वल्लभ-कुल सम्प्रदाय की कर्मकांड-प्रधान है। परन्तु शृंगारभक्ति को स्वीकार करते हुए भी आचार्य वल्लभ ने अपने भक्तियोग में वात्सल्य को अधिक प्रधानता दी है और "नवनीत कृष्ण" तथा 'गोपाल कृष्ण" की पूजाविधि की सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। मध्यप्रदेश के चंपारण्य स्थान में उनका जन्म हुआ था। नवजात शिशु को लेकर उनके पिता-माता काशी पहुँचे और वहीं बस गये। वल्लभाचार्य ने छोटी अवस्था में ही माधवेन्द्रपुरी से जो माध्वसम्प्रदाय के अनुयायी थे विद्याध्ययन किया। पिता की मृत्यु के उपरांत वे दक्षिण गए। इस समय उत्तर भारत में लोदी वंश का शासन था। परन्तु दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू राज्य अपने ऐश्वर्य के शिखर पर था। महाराज कृष्णदेवराय की सभा में अनेक पंडित थे और शास्त्रचर्या बराबर चलती रहती थी। वल्लभाचार्य

ने एक ऐसी सभा में जिसमें महाराज अध्यक्ष थे अद्वैतमतावलंबी पण्डितों को पराजित कर दिया। इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। सारे दक्षिण ने उनके आचार्यत्व को स्वीकार कर लिया। विजयनगर में महाराज के सम्मान की छाया में रह कर ही उन्होंने अपने उन विशिष्ट सिद्धान्तों को निश्चित किया जो शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके बाद वे अपने मत के प्रचार के लिये उत्तरखंड चले। झारखण्ड में पहुँचकर उन्हें भगवान कृष्ण ने स्वप्न दिया कि मैं गोवर्द्धन पर प्रकट हुआ हूँ, वहाँ जाकर मेरी प्रतिष्ठा करो। वल्लभाचार्य ब्रज आये, वहाँ उन्हें श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध मूर्ति गोवर्धन पर मिली। श्रीनाथ जी के प्रादुर्भाव ने ब्रज की जनता को इनकी ओर आकर्षित किया। शीघ्र ही अनेक शिष्य हो गये। वल्लभाचार्य ने गोवर्धन पर एक छोटा-सा मन्दिर बनवा दिया और पूजा का भार शिष्यों पर छोड़ कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु तक उन्होंने तीन बार भारत भ्रमण किया और सहस्रों मनुष्यों को अपने मत में दीक्षित किया। तीसरी यात्रा के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल ग्राम में गृहस्थ के रूप में बस गये। वहीं उनके दो पुत्र हुए। प्रौढ़ावस्था के बाद वे सन्यास आश्रम में दीक्षित हो गए और कुछ समय बाद काशी में स्वर्गस्थ हुए।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में मूलत: कोई भेद नहीं है, इस दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं। परन्तु ब्रह्म ही जीव और जगत हो, केवल माया में आच्छन्न, यह बात नहीं है। शङ्कराचार्य के अद्वैत में माया का स्थान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि वे जीव और जगत को भी ब्रह्म ही मानते हैं। वल्लभाचार्य ब्रह्म, जीव और प्रकृति (जगत) के अतिरिक्त किसी चौथे "माया" नाम के तत्त्व को नहीं मानते।

उन्होंने मूलतः ब्रह्म, जीव और जगत का अभेद सिद्ध करते हुए भी थोड़ा भेद माना है। ब्रह्म के तीन गुण हैं सत्, चित्, आनन्द। जीवात्मा भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द का गुण तिरोहित है, प्रकृति या जगत भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द और सत् गुणों का तिरोभाव है। "आनंद" गुण प्रकट हो जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। आचार्य के मत में श्रीकृष्ण परम ब्रह्म, परम पुरुषोत्तम हैं। उनका विहारस्थल परम बैकुण्ठ या गोलोक है। इसी गोलोक में उन्होंने पृथ्वी के अनेक उपादानों की कल्पना की है। वहाँ वृन्दावन है, यमुना है, लताकुंज हैं, राधा है, गोपी-गोपियाँ हैं और परमानन्द श्रीकृष्ण भक्तों के साथ अनन्तविहार में मग्न रहते हैं। भक्त भगवान के इस अनन्तलीला-विहार में साहचर्य प्राप्त करने को ही उच्चतम पद मानता है।

इस पद के प्राप्त करने का साधन जहाँ एक ओर भक्ति है, वहाँ दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा, कृपा या वल्लभाचार्य के शब्दों में "पुष्टि" अर्थात् अनुग्रह। भगवान के अनुग्रह के बिना भक्ति भी प्राप्त नहीं होती, दृष्टिकोण यह है। इसी पुष्टि-भावना के कारण वल्लभाचार्य के मत को "पुष्टिमार्ग" भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य के इन दार्शनिक सिद्धान्तों ने धर्म का रूप पाकर मध्यभारत की भक्ति-धारा में क्रांति उपस्थित कर दी। जब कृष्ण आनंदमय है तो उनको आनंद के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने कहा—लीला ही मोक्ष है, लीला में भाग लो। इसका फल यह हुआ कि भगवान् की दास्यभाव की उपासना के स्थान पर लीलानंद की प्राप्ति ही मुख्य हो गई। कृष्णलीला में वात्सल्य, सख्य और शृंगार भावों की प्रधानता थी, अतः भक्त को इन्हीं लीलाओं में आनन्द लेना था। वल्लभाचार्य ने कहा—

जिस प्रकार नंदयशोदा कृष्ण को वात्सल्यभाव से प्रेम करते थे, जिस प्रकार सुबल-सुदामा सखा भाव से उनके साथ छाया की तरह लगे रहते थे, जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण को शृंगारभाव से आत्मसमर्पण कर देती थीं—उसी प्रकार भक्त भी समय-समय पर नंद-यशोदा, सुबल-सुदामा अथवा गोपियाँ बन कर कृष्ण के मिलन और वियोग का अनुभव करे। यह लीला में भाग लेने की प्रक्रिया ही उसे आनंदतत्व में स्थित करेगी। फलतः, पुष्टिमार्ग का भक्त भगवान के आगे "घिघियाता" नहीं (दैन्य नहीं प्रकट करता)। वह भगवान की लीला में भाग लेता हुआ उत्तरोत्तर भगवान की ओर बढ़ता जाता है; इन्द्रियों के सारे व्यापारों में उसे भगवान की लीला का आनन्द मिलता है। सृष्टि उसके लिए कृष्णमय हो जाती है। जहाँ भक्ति के अन्य सम्प्रदायों का कहना था कि भगवान की महत्ता और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करो, वहाँ वल्लभाचार्य उसे एकदम भुलाने की बात कहते हैं।

राजनीति और राष्ट्रनीति

५२. भारत राष्ट्र

(१) आर्यों में राष्ट्र-भावना का जन्म एवं विकास (२) महाभारत की राष्ट्र-भावना का धार्मिक आधार (३) धार्मिकता पर स्थिति राष्ट्र-भावना का संकल्प मन्त्रों द्वारा प्रचार (४ , संस्कृत भाषा की अविच्छिन्न राष्ट्र-व्यापी एकता (५) राजपूत काल में राष्ट्रभावना का ह्रास और मुगलकाल में इस भावना की कुंठा (६) आधुनिक काल की राष्ट्र-भावना—उसका राजनैतिक आधार (७) वर्तमान राष्ट्रवाद का विकास, कुछ विरोधी और सहयोगी शक्तियाँ—"पाकिस्तान", "अखंड भारत"।

आर्य जाति के इस देश में आने से पहले यह किसी एक संस्कृति-सूत्र में बँधा नहीं था, इसीसे राष्ट्र की भावना भी अविकसित थी। आर्यों ने ही इसे एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति के अविच्छिन्न सूत्र में बाँधा। चक्रवर्ती राजाओं ने बड़े-बड़े भूखंडों पर राज्य किया। धर्मोपदेशकों और ऋषियों ने देश के दूरतम प्रान्तों को अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। इस प्रकार एक राष्ट्र की भावना का जन्म हुआ। वाल्मीकि की रामायण में हमें इस राष्ट्रवाद के चिह्न मिलने लगते हैं। महाभारत में तो यह भावना बहुत गहरी पैठ गई थी। देश अनेक राज्यों में बँटा था, परन्तु धर्म और संस्कृति के द्वारा एक एकाई था। भगवान श्रीकृष्ण का रथ द्वारका से कुरुक्षेत्र तक दौड़ता था और पांचजन्य

की पुकार से देश के दूर-दूर कोनों के राजा युद्धभूमि पर इकट्ठे हो गये थे। महाभारतकार ने इस अखंड भारतराष्ट्र की भावना से अपना ग्रंथ आरम्भ किया है—"हे भारत ! अब मैं तुम्हें भारत का कीर्तिगान सुनाता हूँ—वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदि राज पृथु, वैत्य और महात्मा इक्ष्वाकु का प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीप, मान्धाता, नहुष, मुचकन्द और औशीनरशिवि को प्रिय था; ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे; और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय सम्राटों को प्यारा था। हे नरेन्द्र, उस दिव्य देश की कीति कथा मैं तुम्हें सुनाऊँगा!" एकच्छत्र राजाओं की इस अटूट परम्परा और धर्म-भावना की एकता ने भारत को एक धार्मिक राष्ट्र का रूप दे दिया था। संकल्प-मंत्र में आज भी पढ़ा जाता है—"......भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तकदेशान्तर्गते—" और स्नान-अर्घ्यदान के समय प्रत्येक हिन्दू इस विराट राष्ट्र की कल्पना करता हुआ कहता है—

> गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वतीम्
> नर्वदे सिन्धु कावेरी जलस्मिन सन्निधं कुरुः

भारतवर्ष की सांस्कृतिक और धार्मिक एकता ने अत्यन्त प्राचीन काल में उसे राष्ट्र बना दिया था। मध्ययुग में राष्ट्रीय भावना शिथिल हो गई थी परन्तु शङ्कराचार्य जैसे महाप्राण धर्माचार्यों ने देश के चारों छोरों पर मठों की स्पाथना कर उसे एक प्रकार से फिर धर्मक्षेत्र में जीवित कर दिया। इसी धर्म राष्ट्र की भावना से प्रचालित हो कुरुक्षेत्र, प्रयाग और हरद्वार जैसे तीर्थों में पर्वों के अवसर पर काश्मीर से कन्याकुमारी तक की जनता उमड़ आती है।

राजपूतकाल के आरम्भ में ही देश अनेक स्थानीय राज-

शक्तियों में बँट गया था जिनमें परस्पर युद्ध हुआ करते थे। अराजकता के कारण पास-पास के राज्यों में आवागमन कम हो गया। राष्ट्र-भावना शिथिल हो गई। मुसलमानों के आक्रमण ने रही-सही राष्ट्रीय एकसूत्रता का नाश कर दिया। नवागुन्तकों के प्रति सामाजिक असहयोग ने जाति-बिरादरी की संस्थाओं को जन्म देकर राष्ट्र दृष्टि को और भी नष्ट किया। यह अवश्य है कि अकबर जैसे सम्राटों के समय में भारत एक बार फिर एकच्छत्र साम्राज्य के सूत्र में बँधा, परन्तु राजा विदेशी था, जनता की राजनैतिक भावना कुंठित थी और उसने राजशक्ति से मुँह मोड़कर ग्रामपंचायतों से अपना काम चलाना शुरू कर दिया था, अतः हिन्दू जनता में राष्ट्र-भावना के पुनरुत्थान का प्रश्न ही नहीं था। वे तो रामराज्य के रूप में ही राष्ट्र को जानती थी।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के समूचे देश पर आधिपत्य हो जाने के बाद राष्ट्र की भावना फिर जागी। १८५७ ई० के राष्ट्रीय अभ्युत्थान के समय यह भावना अधिक स्पष्ट नहीं थी, परन्तु जब बाद में रेल, तार जैसे आवागमन के सुलभ साधनों ने सारे देश को एक सूत्र में बाँध दिया तो यह भावना अस्पष्ट नहीं रही। राजनैतिक सुधारों के साथ-साथ यह राष्ट्र भावना दृढ़ होती गई और १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के साथ इसको पनपने के लिए एक दृढ़ भित्ति मिल गई। आधुनिक राजनैतिक राष्ट्रभाषा को जन्म देने का एक बड़ा श्रेय कांग्रेस को मिलना चाहिए। महा-युद्ध के बाद समाचारपत्रों के विकास, राजनैतिक सुधारों और कांग्रेस के अहिंसात्मक जन-आन्दोलनों ने पहली बार प्रांतीय भावों पर आघात किया और सारे देश के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित होने लगीं। "बन्देमातरम्" की ध्वनि गूँज उठी—"सुजलम् सुफलम् शीतलम् शस्यश्यामलम् मातरम।" १९वीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में अंग्रेज़ शासन के प्रति गुणगान में हमें भारत राष्ट्र की जो झलक मिलती है—

नये नये बहु लाट आये वै भारत आरत बारत।
लैफ़्टेनेण्ट अरु गवर्नरादिक परजा राज संभारत॥
जंगल काटि काटि के केते नगर बज़ार बसाए।
नहर निकारि नदी अरु नद पै भारी सेतु बँधाए॥
जयति धर्म जय देश जय भारत भूमि नरेश।
जयति राज राजेश्वरी जय जय जय परमेश॥

वह "भारत भारती" में आकर एक स्पष्ट रूपरेखा धारण कर लेती है—

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती

अब राष्ट्रीय भावना का इतना अधिक विकास हो गया है कि हमारी अनेक संस्थाओं का तो रूप ही राष्ट्रीय हो गया है। हरिजन सुधार आन्दोलन, अखिल भारतीय चर्खा-संघ, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा, ऑलइंडिया मुस्लिम लीग, सार्वदेशिक आर्यसभा—इस प्रकार हम आज सारे देश की बात सोचने ही नहीं लगे हैं, हमारा हृदय एक राष्ट्रीय-संघ-शासन का स्वप्न भी देखने लगा है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस राष्ट्रीय भावना का रूप वही है जो महाभारतकार के सामने था या जिसको ध्यान में रख कर शङ्कराचार्य ने मठों की स्थापना की थी। आज राष्ट्र-भावना की भित्ति राजनैतिक सुधारों, आर्थिक परिस्थितियों और हिन्दू धर्म-भावना पर आश्रित है। इनमें राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोणों की ही प्रधानता है। परन्तु अनेक विरोधी भावनाएँ भी उठ खड़ी हुई हैं। मुस्लिम लीग ने अभी-अभी बँटवारे की

बात चला कर अखंड भारत राष्ट्र के राजनैतिक स्वप्न पर प्रहार किया है और हिन्दू राष्ट्र भावना को उत्तेजित। मिस्टर जिन्ना भारत राष्ट्र को "पाकिस्तान" और हिन्दुस्थान में बँटा देखना चाहते हैं। विरोध में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने "अखंडभारत" आन्दोलन को जन्म दिया है। परिस्थिति कुछ इस प्रकार है - राष्ट्र की भावना के मूल में जिस सांस्कृतिक और धार्मिक एकता का होना बहुत कुछ आवश्यक है, उसका अभाव है। अब हिन्दुस्तान हिन्दुओं का ही नहीं रहा है। नौ-दस करोड़ जनता मुसलमान है। इस जनता से खानपान और विवाह के सम्बन्ध में असहयोग चलता रहा है। यह अब भी चल रहा है। जब स्वतंत्रता की थोड़ी सी सम्भावना दिखाई पड़ी है, इस सांस्कृतिक अनैक्य ने राष्ट्रीयता को ललकारा है। अभी नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीयता विजयी होगी और राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ भारत को एकराष्ट्र का रूप देंगी, या सांस्कृतिक और धार्मिक विभेद विजयी होंगे और देश कई राजनैतिक सत्ताओं या हिन्दू राष्ट्र और मुसलमान राष्ट्र में बँट जायगा। संभावना पहली बात की ही अधिक है, परन्तु क्या होगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

५३. हिन्दू-मुस्लिम-समस्या

(१) भूमिका (२) मुसलमानों के भारत-विजय का इतिहास (३) मुसलमान आधिपत्य में हिन्दू-मुसलमान-समस्या (४) अंग्रेजों के प्रभुत्व के बाद समस्या का रूप (५) उपसंहार।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या आज की चीज़ नहीं, कई सौ वर्ष पुरानी चीज़ है, परन्तु उसने कभी भी इतना उग्र रूप धारण नहीं किया था जितना आज धारण किया है। आये दिन हिन्दू-मुसलमान दंगे, मुस्लिम लीग की पुकार—"हिन्दोस्तान के दो

खंड कर दिये जायें, एक हिन्दुस्तान, दूसरा पाकिस्तान", महासभा का हिन्दू भारत का शंखनाद, ये सब वर्तमान की उपज हैं। एक ओर मिस्टर जिन्ना तलवार के बल पर भारतवर्ष के बँटवारे की चुनौती देते हैं, दूसरी ओर वीर सावरकर गर्जन करते हैं—"हिन्दुस्थान ही नहीं, अफ़गानिस्तान भी हिन्दूराज्य में था। बँटवारे की बात कही तो गान्धार तक धावा बोलेंगे!" अधिकारी वर्ग ने अखाड़े में उतरे इन दो पहलवानों के बीच में तलवार रख दी है और तमाशा देख रहे हैं।

कोई एक हज़ार-सवा-हज़ार वर्ष हुआ, कुछ अरब के मुसलमान साधु और व्यापारी कोकनड प्रदेश, मालावार और सिंधप्रांत में आये। साधु यहीं बस गये, व्यापारी व्यापार के लिए आते-जाते रहे। ख़लीफ़ाओं के समय में कुछ दिन सिन्ध प्रान्त मुसलमान शासकों के हाथ में रहा, परन्तु शीघ्र ही उनके हाथ से निकल गया। १००० ई० तक मुसलमान साधुओं, व्यापारियों और यात्रियों की एक बड़ी संख्या उत्तर पश्चिमी और दक्षिणी भारत से परिचित हो चुकी थी। सिन्ध प्रान्त में इस्लाम धर्म का थोड़ा-बहुत प्रचार भी हो चला था। इसी समय अफ़गानिस्तान के गज़नवी बादशाहों ने लूटमार के उद्देश्य से सोमनाथ तक धावे किये और अन्त में महमूद ग़ज़नवी ने पंजाब को अपने अधिकार में कर लिया और यहाँ अपना गवर्नर नियुक्त किया। गज़नवी वंश के बाद गोरी वंश शासक हुआ। इसने राज्य-विस्तार की भावना से अथक प्रयत्न किया। ११९३ की तराई की लड़ाई में अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज बन्दी हुए और दिल्ली-अजमेर भी मुसलमानों के हाथ में आये। कुछ ही वर्षों में मुसलमान शासक के रूप में सारे उत्तर भारत के अधिकारी हो गये। ख़िलजी बादशाहों ने सुदूर दक्षिण में भी इस्लामी धर्म और शक्ति के झंडे गाड़ दिये।

जैसे-जैसे इस्लामी शक्ति का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे इस्लाम फैलता गया। इस्लाम अत्यन्त असहिष्णु धर्म है। नये धर्म के प्रचार के जोश से भरे हुए शासकों और सरदारों ने तलवार के बल पर असंख्य हिन्दुओं को नये धर्म में दीक्षित किया। कुछ हिन्दू भय से, कुछ लोभ से, कुछ पीरों और सूफ़ियों की करामातों के चक्कर में आकर मुसलमान बन गये। जिस समय हिन्दुस्थान पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था, उस समय हिन्दू चातुर्वर्ण्य संस्था बड़ी शिथिल हो रही थी और शूद्र वर्ण के लोग हीनता की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। वे असन्तुष्ट थे। अतः इनकी एक बड़ी संख्या मुसलमान हो गई जहाँ छूतछात का कोई प्रश्न नहीं था। इस्लाम शक्ति के दो केन्द्र थे—दिल्ली और लाहौर। इसलिए इस्लाम का विशेष प्रचार पश्चिमी भारत में ही हुआ जहाँ ६०-७० प्रतिशत जनता आज मुसलमान है। जैसे-जैसे इन केन्द्रों से दूरी बढ़ती गई है, वैसे-वैसे प्रचार में भी कमी हुई है। हाँ, बंगाल में फिर वही परिस्थिति है जो पंजाब में। इसका सबसे बड़ा कारण है बंगाल में बौद्धों का प्रभाव। मुसलमान आक्रमण के समय से कुछ पहले ही बंगाल में आर्य-संस्कृति की छाप पड़ी थी। आक्रमण के समय वह वज्रयानियों का केन्द्र हो रहा था। वर्ण-व्यवस्था का शैथिल्य, वज्रयानियों और तांत्रिकों का अनाचार, हिन्दू-संस्कृति के केन्द्र से दूरी—इन बातों ने बंगाल के धर्म-परिवर्तन में सहायता दी। फल हम देख ही रहे हैं। दक्षिण में इस्लाम धर्म का अधिक प्रचार नहीं हुआ, गोलकुंडा-बीजापुर और अब हैदराबाद निज़ाम के रूप में इस्लाम शक्ति के कुछ केन्द्र अवश्य स्थापित हो गये। इसीलिए हिन्दू-मुस्लिम-समस्या विशेषतः उत्तर भारत की समस्या है।

हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के आक्रमण से बहुत पहले ही राजशक्ति क्षत्रियों के हाथ में थी और उसमें ब्राह्मण का वह

प्रभुत्व नहीं रहा था जो पाँच-छः शताब्दियों पहले था। फलतः राजशक्ति और धर्मशक्ति भिन्न-भिन्न हाथों में थी। राजशक्ति का पतन हुआ, परन्तु धर्मशक्ति जाग उठी। सारे उत्तर भारत में एक बार फिर स्मृति-ग्रंथ टटोले जाने लगे, नई परिस्थिति के अनुसार नई व्यवस्थाएँ दी जाने लगीं, चातुवर्ण्य-संगठन पर अधिक बल दिया गया, परदे और बालविवाह की प्रथा चली— "अष्ट वर्षाः भवेत गौरी...।" विदेशी धर्म के लिए यह व्यवस्था की गई कि वह मलेच्छ धर्म है। मलेच्छ का स्पर्श भी पाप है। खाने-पीने, व्यवहार, शादी-ब्याह सभी लौकिक सम्बन्धों में उससे पूर्णतः असहयोग किया जाय। यह असहयोग शतशः सफल हुआ। आज भी हिन्दी प्रदेश में, जो हिन्दू संस्कृति का केन्द्र है, मुसलमानों की संख्या ३३ प्रतिशत से अधिक नहीं है। यदि हम यह ध्यान में रखें कि यही प्रदेश ७००-८०० वर्ष इस्लाम धर्म-प्रचार और राजशक्ति का केन्द्र रहा है तो हमें इस असहयोग की चमत्कारिक सफलता में विश्वास हो जायगा। आज भी हिन्दू के लिए मलेच्छ से प्रत्येक प्रकार का सम्बन्ध वर्जित है। असह-योग चल रहा है। उससे जातिभेद, संकीर्ण दृष्टिकोण, पुराण-प्रियता आदि कितनी ही दोषपूर्ण बातें चल पड़ीं, परन्तु हिन्दू सभ्यता और संस्कृति जीवित रह सकी। हिन्दुओं ने राजशक्ति के केन्द्र की ओर केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देखा, आध्यात्म और परलोक के लिए उनकी दृष्टि धर्मशक्ति के केन्द्र काशी पर ही रही जहाँ से जटिल परिस्थितियों के सम्बन्ध में व्यवस्थाएँ बराबर मिलती रहीं।

फलतः अंग्रेजी प्रभुत्व के पहले तक हिन्दू मुस्लिम समस्या का रूप ही दूसरा था। तब समस्या संस्कृति-सम्बन्धी थी, धर्म-सम्बन्धी थी। संस्कृति का मेल तो असंभव था। हिन्दुओं के असहयोग के कारण परस्पर का सामाजिक आदान-प्रदान बहुत

कुछ बंद ही था। व्यवस्थावृद्ध पंडित चट्टान की तरह दृढ़ थे। धर्मक्षेत्र में संतों, सूफ़ियों और अकबर जैसे कुछ सहिष्णु मुसलमानों ने एक प्रकार के सामंजस्य, न हो सके तो गठबन्धन, की चेष्टा की। प्रयत्न असफल रहे। अंग्रेज़ों के आने से वर्तमान काल तक संस्कृति और धर्म के क्षेत्रों में यही परिस्थिति चली आ रही है। व्यक्तिगत रूप से कुछ हिन्दू, कुछ मुसलमान पास पास भले ही आ जाएँ, उनके समाज, संस्कृति और धर्म-सम्बन्धी-संस्कार अब भी दूर-दूर हैं। मुसलमान-हृदय मदीने के लिए तड़पता है, हिन्दू काशी में मरना चाहता है। मुसलमान ईसा, मूसा, रुस्तम, हारूँरशीद, शीराज़ की शराब, गुलो-बुलबुल, लैलामजनूं और शीरीं फ़रहाद की दुनिया में रहता है। हिन्दू राम, कृष्ण, कर्ण, विक्रमाजीत, कन्हैया के माखन, सीता-शकुंतला के संसार में निवास करता है। अंग्रेज़ प्रभुओं की चालों और हिन्दू-संगठन और मुसलमानी तबलीग़ के आन्दोलनों ने दोनों को और दूर कर रखा है। आज राम-रहीम का गठबन्धन असंभव है।

५४. एकतन्त्र और प्रजातन्त्र

(१) वाल्मीकि के काव्य में "अराजक राष्ट्र" का वर्णन (२) मनु, व्यास और कालिदास में स्वराष्ट्र और राजा (३) बुद्ध के समय के प्रजातन्त्र (४) प्रजातन्त्र की भावना के ह्रास का इतिहास (५) वर्तमान प्रजातन्त्र-सिद्धान्त पश्चिम से आया है (६) क्या प्रजातन्त्र सम्भव है? क्या एकतन्त्र को ही इस प्रकार नहीं गढ़ा जा सकता जिससे वह "बहु सख्यक जनता" को सुख दे सके (७) रूसो का एक सिद्धान्त-वाक्य और उसका अर्थ।

राजसत्ता के एकतंत्र-रूप की स्थापना कब से चली आती है,

इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु मनुष्य ने पहले-पहल राज्य-संचालन का यही ढंग खोज निकाला था। उसने राजा को दैवी शक्तियों से समन्वित माना। वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि था। संस्कृत-साहित्य में दो ही प्रकार के राज्यों की कल्पना मिलती है—एक अराजक राज्य, एक राजा द्वारा शासित राज्य। अराजक राज का वर्णन वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है—'अराजक राज्य विनाश को प्राप्त हो जाता है।' अराजक जनपद में मेघ दिव्यजल से पृथ्वी को नहीं सींचते। अराजक जनपद में बीज की मूठ खेतों में नहीं बिखेरी जाती। अराजक देश में पुत्र पिता के, स्त्री पति के वशीभूत नहीं रहते। अराजक राष्ट्र में न धन रहता है, न स्त्री। सत्य अराजक स्थान में कहाँ रह सकता है? अराजक देश में मनुष्य सभा नहीं कर पाते, प्रसन्न होकर उद्यान और घर नहीं बनवा सकते। अराजक देश में यज्ञ करने वाले ब्राह्मण व्रत ग्रहण करके सत्रों में नहीं बैठ पाते। अराजक देश में महाशील धनी ब्राह्मण भी महायज्ञों में रत्नों से पूर्ण पूरी दक्षिणा नहीं पाते। अराजक देश में राष्ट्र की वृद्धि करने वाले नट और नर्तकों से युक्त समाज और उत्सव नहीं हो पाते। अराजक देश में व्यवहार करने वालों के मनोरथ पूरे नहीं होते। कथाप्रिय लोग कथा कहने वालों के साथ प्रेम नहीं रखते। अराजक देश में सायंकाल के समय कुमारियाँ स्वर्ण के अलंकार पहन कर उद्यानों में क्रीड़ा के लिये नहीं जा पातीं। अराजक देश में धनी लोग, जो कृषि और गोरक्षा से जीविका करते हैं, सुरक्षित रह कर घर के किवाड़ खोल कर नहीं सो सकते। अराजक देश में, शीघ्रगामी वाहन और यानों पर स्त्री-पुरुष बन में घूमने नहीं जाते। अराजक देश में साठ वर्ष के जवान हाथी घन्टे बाँध कर राजमार्गों पर झूमते हुए नहीं निकलते। अराजक देश में बाण चलाने का अभ्यास करने वाले

योद्धाओं का टंकार घोष नहीं सुनाई पड़ता। अराजक देश में दूर की यात्रा करने वाले वणिक् बहुत-सी पण्य-सामग्री लेकर कुशल-पूर्वक मार्गों में नहीं चल सकते। अराजक देश में आत्मा से आत्मा का ध्यान करने वाले, अकेले विचारने वाले, जहाँ साँझ हो, वहीं बसेरा करने वाले मुनि कुशल से नहीं रह पाते। अराजक देश में योग और क्षेम का नाश हो जाता है। अराजक राष्ट्र की सेना शत्रुओं से युद्ध नहीं करती। अराजक देश में अलंकृत मनुष्य प्रसन्न अश्वों और रथों पर चढ़ कर नहीं चल सकते। अराजक देश में शास्त्र-विशारद मनुष्य बनों और उपबनों में शास्त्र की चिंता करते हुए एक दूसरे से नहीं मिलते। अराजक देश में जितेन्द्रिय पुरुष माला, मिष्ठान्न और दक्षिणा से देवताओं की पूजा नहीं कर सकते। अराजक देश में राजकुमार लोग चंदन और अगुरु से देह सजा कर बसन्त में धान की तरह सुशोभित नहीं होते। जैसे बिना जल के नदी, बिना घास के बन और बिना गोपाल के गाएँ होती हैं, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र होता है। जल में मछलियों के समान एक दूसरे को हड़पने लगते हैं। बर्णाश्रम की मर्यादाएँ जिन्होंने तोड़ दी हैं, उन्हें पहले राजदंड दिया जाता था, वे नास्तिक लोग निडर होकर अराजक राष्ट्र में प्रभावशाली बन जाते हैं। जिस प्रकार शरीर के हित-अहित की प्रवर्तक आँख है, उसी प्रकार राष्ट्र में जो सत्य और धर्म है, उसका प्रवर्त्तक राजा है। राजा सत्य और धर्म है, राजा कुलीनों का कुल है। राजा माता-पिता और राजा ही हितकारी है। यदि साधु-असाधुओं का प्रथक विभाग करने वाला राजा इस लोक में नहीं होता, तो जैसे दिन अन्धकार में विलीन हो जाता, वैसे ही सब कुछ तम में डूब जाता।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू मनीषी अराजकता की कितनी घृणा से देखते थे और उनकी स्वराष्ट्र-विषयक कल्पना कितनी उच्च थी। व्यास ने कहा

ही है—मृतं राष्ट्रमराजकम् (अराजक राष्ट्र मृत है) कालिदास के समय तक राजा का यह महत्व बना था। "राजा प्रकृति रंजनात्" "राज्ञां प्रजापालनमेवधर्मः" "स पिता पितरस्तेषां केवल जन्महेतवः" "धर्म संरक्षणार्थैव प्रवृत्तिः स्वराष्ट्र और राजा विषयक उक्तियों को दुहराया है। हिन्दू समाज में अब तक राम-राज्य की भावना कर रही हैं अभी ३०० वर्ष हुए तुलसीदास ने "सुराज" और "राजा" की महिमा स्थापना की है।

'सुखी प्रजा जिमि पाय सुराजा'
'बाढ़ प्रजा जस पाय सुराजा'
'पालिय प्रजा करम मन बानी'
'जनु सुराज मङ्गल चहुँ ओरा'
'जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ'

और हिन्दू-कल्पना बार-बार उसकी ओर मुड़ रही है। परन्तु यह न समझना होगा कि प्रजातंत्र की सत्ता भारत में रही ही नहीं। सिकंदर ने जब भारतवर्ष पर आक्रमण किया था तो पंजाब में कई प्रजातंत्र राष्ट्र थे। गौतम बुद्ध के समय में वैशाली भी ऐसा प्रजातंत्र-राष्ट्र था जिसमें राजपुत्रों का निर्वाचन होता है और कई सहस्र निर्वाचित राज्यपुत्र मिल कर शासन करते थे। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू राजनीति में राज-तंत्र की ही महत्ता अधिक थी। परन्तु राजा के लिए स्वेच्छाचार का कोई स्थान नहीं था, अतः हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू राजा आजकल के स्वेच्छाचारी "डिक्टेटरों" से भिन्न थे।

प्रजातंत्र के जिस रूप को हम आज जानते-बूझते हैं, वह पश्चिम से आया है। सामंती युग के बाद राजशक्ति सामंतों और राजाओं के हाथ से निकल कर जनता के हाथ में आ गई, ठीक बात कहें तो जनता के एक विशेष वर्ग के हाथ में जिसे हम

अमीर-वर्ग कह सकते हैं। एक ओर फ्रान्सीसी क्रांति के दार्शनिकों, कवियों और रूसी जैसे महान लेखकों ने "साम्य, स्वतंत्रता और बंधुत्व" की आवाज़ उठाई, दूसरी ओर मशीनों के स्वामीत्व ने एक महाजनी सत्ताधार-वर्ग खड़ा कर दिया। धीरे-धीरे एकतन्त्र शासकों के हाथ से शक्ति निकल कर इन महाजनों या अमीरों के हाथ में पहुँच गई जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वत्ताधिकार था। इन्होंने लार्ड्स और कामन्स सभाओं द्वारा जनता पर शासन किया. जनता के लिये क़ानून बनाये, अपने तन्त्र को प्रजातन्त्र के नाम से चलाया। आज संसार में प्रजातन्त्र के नाम से कितने ही तंत्र चल रहे हैं परन्तु उनका रूप भिन्न-भिन्न है। इनमें चाहे जो कुछ हो, प्रजातन्त्र के पैग़म्बर वैन्थम (Benthem) का यह सिद्धांत कि "The greatest good of the greatest number" या "बहुसंख्यक जनता को अत्यधिक सुख पहुँच सके, ऐसा शासन हो" चालू नहीं है। शक्ति एक सीमित वर्ग के हाथ में है जो, जैसे इङ्गलैंड और अमेरिका में, व्यापारी वर्ग है और जर्मन और जापान में फौजी वर्ग। जनता के सुख-दुख के साधनों पर नियन्त्रण रखता हुआ यह वर्ग-विशेष अपने हित अहित पर ही अधिक ध्यान देता है। इसे ही सबसे अधिक सुख है। करोड़ों-करोड़ों जन इसी वर्ग-विशेष के बोझ को ढोकर मर रहे हैं। आज संसार भर जो युद्ध चल रहे है, उनमें क्या सचमुच प्रजा की सम्मति है? क्या जनता का हित-अहित सोच कर ही ये युद्ध उठाये गये हैं? ऐसा तो नहीं हैं। साधारण मनुष्य प्रजनन-कार्य, गृह, कुटुम्ब, खेल-तमाशे, बेटी-पोतों, उत्सवों-त्यौहारों और इसी प्रकार के कामों में आनन्द लेता है। उसका क्षेत्र निर्माण का है। विध्वंस से उसे कोई मतलब नहीं। परन्तु राष्ट्रनीतियों का आधार ही विध्वंस है। वहाँ "मत्स्य-न्याय" सम्पूर्ण रूप में चरितार्थ रहता है।

क्या प्रजातन्त्र सम्भव है ? और एकतन्त्र को ही क्या इस प्रकार नहीं बनाया जा सकता है कि उससे "बहुसंख्यक जनता को अत्यधिक सुख मिले ?"

प्रजातन्त्र के आदि गुरु रूसो का एक सिद्धान्त-वाक्य हमारे सामने है—"सच्चा प्रजातन्त्र कभी रहा ही नहीं, क्योंकि यह प्रकृति के विरुद्ध है कि जनता की बहु संख्या, अल्प संख्या पर शासन करें।" सच तो यह है कि आज के प्रजातन्त्रवादी इसी सिद्धान्त-वाक्य के सत्य पर चल रहे हैं। वास्तव में जनता के हाथ में शक्ति उस समय तक आ ही नहीं सकती जब तक वह उच्चशिक्षा प्राप्त न हो और उसमें नागरिक भावों का समुचित विकास नहीं हो गया हो। "राजशक्ति जनता के हाथ में हो" इसका अर्थ यह है कि राज्य के जायदाद, व्यवसाय और उपज भी जनता के हाथ में हों ? परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जहाँ जनतन्त्र के सिद्धान्त सबसे व्यापक रूप में लागू होते हैं, वहाँ भी जनता के अज्ञान और रूढ़िवादिता के कारण शक्ति वर्गों और दलों के हाथ में सीमित है और समय-समय पर वह उनके हाथ से भी निकल कर व्यक्ति-विशेष के हाथ में आ जाती है।

५५. आज अशान्ति क्यों ?

(१) भूमिका (२) अशान्ति के कुछ कारण—अनेक क्षेत्रों में असंतुलन (३) आर्थिक क्षेत्र में असंतुलन का इतिहास, (४) भौतिकवाद की प्रधानता और उससे हानि (५) पुराण-प्रितता—धर्म के नाम पर वर्गवाद (६) नवीन ज्ञान का अनुपयोग या दुरुपयोग (७) उपसंहार।

आज मनुष्य ने वैज्ञानिक अनुसंधानों में इतनी उन्नति कर ली है और सुख के इतने नये साधन उत्पन्न कर लिए हैं कि

हममें से बहुत से वर्तमान परिस्थितियों को देखकर आश्चर्य-चकित होकर कह उठते हैं—आखिर यह अशान्ति क्यों ? मनुष्य ने यातायात के साधनों को इतना विकसित कर लिया है कि आज इस सम्बन्ध की पौराणिक कथाएँ पीछे छूट गई हैं। उसने विद्युत को वश में कर लिया है, उसे गृहसेविका और गृह-परिचालिका ही बना लिया है। रोगों से लड़ने के लिये उसके पास ऐसे-ऐसे शस्त्र हैं, ऐसी-ऐसी औषधियाँ हैं कि बेचारे चरक-सुश्रुत और धनवन्तरि होते तो धन्य हो जाते। सारा संसार एक बड़े कुटुम्ब की भाँति हो गया है। फिर दुःख क्यों ? अशान्ति क्यों ?

मूल रूप में अशान्ति के कुछ थोड़े ही कारण हैं। सबसे प्रधान कारण है अनेक क्षेत्रों में असंतुलन हम सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र को लेंगे। १९वीं शताब्दी में विज्ञान ने मशीनों का आविष्कार किया। उनको पहले कोयले से चलाया गया, फिर विद्युत से। हाथ की कताई-बुनाई, चीरा-फाड़ी का युग गया। सब उद्योग-धन्धे मशीनों के द्वारा होने लगे। इस उन्नति ने जहाँ एक ओर उद्योग-व्यवसायों को केन्द्रीय बना दिया, वहाँ एक ऐसे दल को भी जन्म दिया जिसने मशीनें शीघ्र ही अपने हाथ में कर लीं। यह पूँजीपतियों का दल है। पहले व्यावसायिक शक्ति ही इस दल के हाथ में गई फिर धीरे-धीरे आर्थिक, सामरिक और राष्ट्रीय नीतियाँ भी इसके हाथ में चली गईं। इस दल ने राष्ट्रीयता की भावना को नया रूप दिया। नये बाज़ार ढूँढ़े जाने लगे। पहले प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार ही माल तैयार करता था। अब वही अधिक माल तैयार करता था। यह माल कहाँ खपाया जाय ? फल यह हुआ अनेक दुर्बल देशों को सभ्य बनाने के दावे के साथ हज़म कर लिया गया। उनको राजनैतिक दृष्टि से पंगु कर दिया गया और उनके उद्योग-धंधे

नष्ट करके उनका शोषण करना ही परराष्ट्र नीति के नाम से पुकारा जाने लगा। आज ऐशिया और अफ्रीका का एक बड़ा भाग गोरी जातियों की सम्पत्ति है। यही नहीं, यूरोप और अमरीका के छोटे-छोटे राष्ट्र भी आर्थिक दृष्टि से बड़े राष्ट्रों के गुलाम हैं जो उन्हें अपने माल के लिए बाज़ार बनाये हुए हैं। बाज़ारों के लिए प्रतिस्पर्द्धा ने उपनिवेशों के लिए प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न कर दी है और सब बड़े-बड़े राष्ट्र परस्पर शत्रु हो रहे हैं। मशीनें ख़ाली नहीं बैठ सकतीं। उन्हें काम चाहिए। इसका मतलब है कि माल बनायें। वह कहाँ खपे? जो राष्ट्र बाज़ारों और उपनिवेशों की दौड़ में पिछड़ गये वे उन राष्ट्रों से ईर्ष्या करते हैं जो पहले पहुँच गये। इसका फल होता है युद्ध। तब ठीक बँटवारा नहीं हुआ तो अब अस्त्र-शस्त्र फ़ैसला करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान ने जिन मशीनों को वरदान रूप उत्पन्न किया था, वे पूँजीवाद को जन्म दे चुकी हैं और पराधीनता, प्रतिस्पर्द्धा और युद्ध के दानव मुक्त हो गये हैं। क्षुद्र राष्ट्रीयता की भावना के मूल में भी यही मशीनें हैं।

परन्तु इन मशीनों से बाहर ही अशांति नहीं हुई है, स्वयम् घर में भी अशांति हो गई है। घरेलू उद्योग-धंधे नष्ट हो गए हैं जिसने करोड़ों की रोटियों पर चोट की है। ग्राम नगर का गुलाम है। मशीनों के मालिक पूँजीपति और मशीनों को चलाने वाले वर्ग मज़दूरों में तनातनी है। वर्ग-संघर्ष बड़े वेग से चल रहा है। मशीनों की सभ्यता ख़तरे में है।

दूसरा कारण है भौतिकवाद की प्रधानता। अध्यात्म के नाम मात्र से लोग चिढ़ते हैं। जिस सभ्यता में अर्थ ही सब कुछ हो गया है, वहाँ आत्मा-परमात्मा की बात कौन चलाए? "कस्त्वं कोऽहम्" ऊँचे दर्जे के प्रश्न हैं, इसे आज का भौतिकवादी मनुष्य नहीं मानता, परन्तु वह माने या न माने, इतना ज़रूर है

आज पेट भरा नहीं है, अतः ये आज के प्रश्न नहीं रह गए। अर्थ-संघर्ष ने नैतिकता को समाप्त कर दिया। जीना सब चाहते हैं परन्तु जीने के साधन सब के पास एक समान प्रस्तुत नहीं। अतः छीना-झपटी है। इस ले-दे में मानवता के लिए स्थान कहाँ, सहृदयता के लिए जगह कहाँ ? उपनिषदों ने कहा है—

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येः आत्मा
> सम्यक् ज्ञानेन् ब्रह्मचर्येण नित्यम्

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है। आत्मतत्त्व का दर्शन भले ही नहीं हो, इसमें कुछ सन्देह नहीं, सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और निर्विकार रहने से शांति अवश्य मिलती है। इस कलियुग सत्य कहाँ रह गया, तप कहाँ रह गया, सात्विक ज्ञान किसे प्राप्त है और निर्विकार कौन रह सकता है। विज्ञान ने मनुष्य को सृष्टि के रहस्य से परिचित कराया, परन्तु ज्ञान के साथ उदय हुई अश्रद्धा। श्रद्धा आत्म-विश्वास को जन्म देती है। अश्रद्धा से आत्म-विश्वास की हानि होती है। फलतः आज हम श्रद्धा और विश्वास से दूर जा पड़े हैं और अशांति के मरुस्थल में मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं।

तीसरा कारण है हमारी पुराण-प्रियता। समय बदल गया है, मनुष्य नहीं बदला है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं, वर्गहीन चेतना के अंश मात्र है, परन्तु समाज और धर्म के नाम पर वर्ग चल रहे हैं। रोमन केथोलिक, प्रोटेस्टेंट, हिन्दू, पारसी, मुसलमान, बौद्ध, जैन—ऐसे कितने ही असंख्य सम्प्रदाय अपनी डेढ़-डेढ़ ईंट की मस्जिदें अलग-अलग खड़ी किए हैं। विज्ञान मनुष्य-मनुष्य को पास लाता है, पुराने धर्मसंस्कार उन्हें अलग-अलग कर देते हैं। धर्म के नाम पर

साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, हत्याएँ होती है। सच बात तो यह है ज्ञान आगे बढ़ गया है, हृदय पीछे छूट गया है। उसने न जाने कितने उपद्रव मचा रखे हैं। यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ पहुँचा नहीं। ज्ञान के वितरण में विषमता है। संसार की अस्सी नब्बे प्रतिशत जनता लगभग "निरक्षर भट्टाचार्य" है। फिर शांति कहाँ से हो ? विज्ञान ने सांसारिक सुखों के साधनों में वृद्धि कर दी है। उसे धर्म का विरोधी समझा जाता है। प्राचीन विश्वास दूर हो गए हैं ? नए विश्वासों ने जन्म नहीं लिया है। यह अनिश्चितता का युग है। अविश्वास का युग है। जिन आध्यात्मिक गुणों को हमारे पूर्वज उपादेय समझते थे, ग्राह्य समझते थे, उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अतिथि सेवा, दुख-कातरता ये सब आध्यात्मिक गुण लोप हो गए हैं। आज न संतोष है, न शांति। जहाँ सब लोग अधिक से अधिक सांसारिक सुखों के साधन में लगेंगे, वहाँ दुख और अशांति ही होनी चाहिये, सुख कहाँ ?

चौथा कारण है नवीन ज्ञान का अनुपयोग या दुरुपयोग। विज्ञान के सुखों को हम स्वीकार करते हैं परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें अग्राह्य है। हम भौतिकवादी बनते हैं, परन्तु धर्म के ढोंगों के ऊपर नहीं उठ पाते। हम मनोविज्ञान के पंडित हैं परन्तु हमने स्वयम् अपने को न समझने का हठ कर लिया है। हम रह रहे हैं विज्ञान की २०वीं शताब्दी में और सोच रहे हैं अठारहवीं शताब्दी का बात। वही रूढ़िवादिता, वही धर्मांधता, वही संकीर्णता। यह "कथनी-करनी", ज्ञान-कर्म का असामञ्जस्य हमारे वर्तमान दुखों को कई गुना बढ़ा रहा है। नए ज्ञान के प्रकाश ने जिस सत्य को उद्घाटित किया है उसकी ओर हम देखना भी नहीं चाहते। विचारों की असहिष्णुता तो इस युग की

खास चीज़ है। विचारों की विभिन्नता विकास का द्योतक है, परन्तु हमारे यहाँ मतभेद झगड़े उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिये, राजनैतिक क्षेत्र में एकतन्त्रवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद की कई कल्पनाएँ--कितने ही विचार चल रहे हैं परन्तु उन विचारों को एक-एक दल पकड़ कर, अपने स्वार्थ से मिला कर बैठ गया है। उसे लेकर वह अन्य दल को जिहाद (धार्मिक युद्ध) के लिए ललकारता है। जहाँ जनता का राज्य कहा जाता है, वहाँ भी शक्ति जनता के हाथ में नहीं है, परन्तु जनता के कथित प्रतिनिधि सभ्यता के विकास का ठेका अपने ऊपर लेकर डिक्टेटरों को ललकारते हैं। राष्ट्र-राष्ट्र, जाति-जाति, वर्ग-वर्ग अपना दल समेट-समेट कर बैठते हैं और दूसरे दल को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। जनता का अरबों-पद्मों रुपया सामरिक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में लग जाता है। यह निःसन्देह ही कभी युद्ध का रूप पकड़ सकता है। फूस तैयार है। चिनगारी चाहिये।

---

५६. समाज पर कविता का प्रभाव

(१) भूमिका (२) किसी समाज पर कविता का कितना प्रभाव है, यह आँकना कठिन है (३) हमारे समाज में कवि की प्रतिष्ठा और उसका प्रभाव (४) इस प्रभाव का रूप—रसोद्रेक और रसानुभूति द्वारा भावों का परिमार्जन (५) हमारे कवियों की कविता और उसका जन-समाज पर निश्चित प्रभाव (६) उपसंहार ।

समाज पर कविता का प्रभाव आँकना बड़ा कठिन कार्य है। निश्चय ही यह वैसा काम नहीं है जैसा जन-संख्या के आँकड़े तैयार करना। समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है, कितना प्रभाव पड़ सकता है, किन परिस्थितियों में प्रभाव अधिक पड़ता है, किनमें कम, इन महत्वपूर्ण बातों का अनुसंधान नहीं हुआ है। ऐसी दशा में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वस्तु-स्थिति की एक रूपरेखा मात्र बनाई जा सकती है।

समाज व्यक्तियों का समूह है। प्रत्येक समाज के व्यक्ति पाठ्य-पुस्तकों में और मनोरंजन के रूप में कविता पढ़ते भी हैं। अतः व्यक्तियों पर और उनके द्वारा समाज पर कविता का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। परन्तु कठिनाई यह है कि उस प्रभाव की दिशा क्या है, मात्रा क्या है, कहाँ उस प्रभाव को ढूँढ़ा जाये। अपने साहित्य और देश की बात तो हम समझते हैं और उससे

हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र हैं कि हमारे देश की की जनता भाव प्रवण है, अधिक भौतिक नहीं है, उस पर काव्य का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है, अब भी पड़ता है। परन्तु व्यापक रूप से यह कहना कठिन है कि विलायती समाज पर भी कविता का प्रभाव पड़ता है क्योंकि वहाँ कविता की अपेक्षा उपन्यास-कहानियाँ अधिक पढ़ी जाती हैं। विलायती समाज इतना भाव-प्रवण भी नहीं है जितना हमारा समाज।

हमारे समाज में कवि और काव्य की प्रतिष्ठा इतिहास-पूर्वकाल से चली आती है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य और गीता जैसे श्रेष्ठ दर्शन-ग्रन्थ कविता के रूप में ही हमारे सामने आये। हमारी धर्मप्राण जनता में आज भी इन ग्रन्थों का इतना महत्त्व है जितना अन्य ग्रन्थों का नहीं। वास्तव में जनता का एक बड़ा भाग काव्य के रूप में किसी समय में इन्हीं ग्रन्थों को जानता-मानता था। परन्तु यह कहना कठिन नहीं है कि इन ग्रन्थों का प्रभाव समाज पर काव्य-तत्त्वों के कारण नहीं पड़ा, वरन् इनके विषय के कारण। हमारे मनीषियों में अपनी धर्मभावना और तत्त्वचिन्ता को काव्य के माध्यम में प्रगट किया और जनता ने उन्हें स्वीकार किया। पुराण और महाकाब्यों में रस की मात्रा भी पर्याप्त थी और उसमें जनता को आकर्षित करने की शक्ति थी। साधारण जनता तक यही दो अधिक पहुँचे और उनके काव्य-तत्त्व ने भी समाज पर उतना ही प्रभाव डाला जितना धर्म-तत्त्व ने। जैसे समय बीतता गया, समाज ने उसके काव्य-तत्त्व और धर्मचिन्तन को आत्मसात कर लिया। आज समाज रामायण और महाभारत की कथा से बहुत कुछ पा गया है, परन्तु राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान और भरत के आदर्श और कृष्ण-सुदामा की मित्रता जैसे आदर्शों के प्रति श्रद्धा और उन आदर्शों को

जीवन में उतारने की भावना के सिवा निश्चित रूप से और क्या मिला है, यह कहना कठिन है। हाँ, रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति मिली है; अवतारपूजा मिली है; पूर्वजों के गौरवगान से जो बल मिलता है वह बल मिला है, परन्तु इन सबको कविता के रस से किस प्रकार सम्बन्धित किया जाय।

कविता की एक ही विशेषता है जो उतनी मात्रा में साहित्य के और किसी भी अंग में नहीं है। वह विशेषता है रसोद्रेक और रसानुभूति द्वारा भावों का परिमार्जन। कविता जब जिह्वा से उतर कर आत्मा के साथ हिलमिल जाती है तब वह भाव-संसार में क्रान्ति कर देती है। कठोर हृदय कोमल हो जाता है। चट्टान से रस के स्रोत बहने लगते हैं। भवभूति के उत्तर रामचरित के पाठ के बाद किसका हृदय द्रवित न होगा ? सूरदास के बालक कृष्ण के बाल-विनोद से परिचित पाठक प्रत्येक बालक के प्रति वात्सल्यभाव रखेगा; उसके उठने-बैठने, गिरने-पड़ने का ध्यान रखेगा। बालक का हास उसके हृदयतन्त्री के तारों को झंकार देगा। उसका कष्ट उसे रुला देगा। यही काव्य की सार्थकता है। आज भी आल्हा-ऊदल की युद्धवार्त्ता भारतीय हृदय को गर्व, गौरव और उत्साह से भर देती है। अल्हैत के स्वर के साथ वीरभाव आँखों में झूलने लगता है। कम-से-कम कबीर, सूरदास, तुलसीदास और जगनिक के काव्य के सम्बन्ध में यह अवश्य कह सकते हैं कि उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से भारतीय समाज की अनुभूति और धारणा को विकसित किया है और आज दिन भी समाज पर उनका अमिट प्रभाव है। समाज की वैराग्य-भावना, दरिद्रता में उच्चता की कल्पना, संसार की नश्वरता, वात्सल्य और शृङ्गार, भक्ति, आदर्श प्रेम और वीर-भावना आज भी इन्हीं कवियों के सहारे खड़ी है।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं काव्य के प्रभाव की परीक्षा

२२

अभी नहीं हुई है। अब हम यह भी नहीं समझते कि व्यक्ति के निर्माण में काव्य का कितना हाथ रह सकता है और हम किस प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण में कविता से सहारा ले सकते हैं। समाज तो अभी दूर है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कविता ने सहस्रों को ऊपर उठाया है, सहस्रों को जीवन-ज्योति प्रदान की है, परन्तु कविता के विषय का इसमें कितना महत्त्व रहा है, कविता की आत्म-रस-का कितना हाथ था, यह आँकना नहीं हो सका है।

५७. भक्ति और समाज

(१) भूमिका (२) भक्ति की परिभाषा —भक्ति वैयक्तिक साधना है (३) भक्ति में सामाजिक गुणों का संग्रह—शील, सदाचार, सन्तोष, अनासक्ति, परहित साधन, मिष्ठ भाषण, भावहीनता, समबुद्धि (४) वैष्णव भक्ति-धारा का समाज पर प्रभाव—सहिष्णुता, अहिंसा, आंतरिक स्वच्छता पर बल (५) भक्ति-साहित्य पर लांच्छन और उसका उत्तर (६) उपसंहार ।

हमारे देश में लगभग १००० वर्ष तक भक्ति की धारा अनेक आवर्त्तों विवर्त्तों में होकर बही है और उसका और समाज का सम्बन्ध इतना अधिक रहा है कि यह असम्भव है कि उसने समाज पर प्रभाव न डाला हो। यहाँ भक्ति और समाज के सम्बन्ध को जानना ही उद्देश्य है, अतः इस ऐतिहासिक भूमिका को सामने रखने की आवश्यकता भी है। यदि भक्ति और समाज के सम्बन्ध में कहीं निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकेगा तो हमारे ही देश में कहा जा सकेगा जहाँ दस शताब्दियों तक भक्तों और उनके प्रभाव की परम्परा चली आती रही है।

मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है। वह उपासक के साथ

इष्टदेव का ऐसा सम्बन्ध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के बिना स्वत: स्थापित करता है। समाज में मनुष्य-मनुष्य का कोई-न-कोई सम्बन्ध है। भक्ति के क्षेत्र में प्रारम्भिकरूप से इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक भक्त भक्ति की साधना अपने ढंग से करता है और अपनी साधना में वह जितना सफल होता जाता है उतना ही वह समाज से दूर होता जाता है और भगवान के निकट पहुँचता जाता है। परन्तु इस वैयक्तिक साधना से समाज का दूर का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं, यही देखना है। इसके लिए पहले हमें भक्ति की मूलगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना होगा।

भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह भगवत्-कृपा का अधिकारी हो। तुलसी की भाँति वह भी सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?

श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें सतसुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगे ॥
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहि दोख कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्त लहौंगो ॥

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणों का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संतस्वभाव के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति परहित-साधन, मिष्ठभाषण, मानहीनता, समबुद्धि। यही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर

समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई। क्या भक्तों के इन उपादेय गुणों ने समाज के प्रतिदिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज को पहुँच जाते हैं?

वास्तव में वैष्णवभक्ति की धारा ने समाज को कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि वैष्णव धर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कम से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव-धर्म ने ही किया। यदि बुद्धि के समय में उठी हुई यह अहिंसा की लहर वैष्णवधर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती आज हम महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों को एकदम असफल या अव्यवहारिक पाते। वैष्णवधर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वर-विश्वास से दृढ़ किया, उसने भक्ति द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया, उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज में सम्बन्ध जोड़ने बैठते हैं तो अजीब-अजीब बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई सम्बन्ध भी है? भक्त समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय, आत्मप्रतारण और अंधविश्वास का साहित्य है? भक्तों ने ईश्वरावतार का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का गुलाम बनाये रखा? उन्होंने पाखंड और परलोकवाद को आश्रय दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्कार पर बल देकर समाजत्व की उपेक्षा कराई। भक्तकाव्य पलायवादी साहित्य है। इस प्रकार के भ्रामक विचार आज हममें घर किये हुए हैं। बस, विचारों को ही सब कुछ मान बैठने वाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ

और संन्यास आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और सन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और इस पर प्रभाव डालते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्म-क्षेत्र बनाये हुए थे। संतों (कबीर, दादू, नानक प्रभृति निर्गुणवादी भक्तों) ने तो अपना अपना व्यवसाय और लौकिक व्यवहार भी पूर्णतया बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य, गृहस्थ, रहे। कृष्णभक्तों का सम्बन्ध बड़े बड़े मन्दिरों से थे जहाँ जनता उनके गान-कीर्तन-उपदेश को सुनने के लिए प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुतः मन्दिर ही मध्ययुग में समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं से धर्म-ज्ञान के संदेश मिलते थे। इस प्रकार राजशक्ति खोकर हिन्दू जाति और हिन्दू समाज वृन्दावन-मथुरा के कृष्ण-मन्दिरों, अयोध्या के राम-मन्दिरों और काशी के मन्दिरों एवं पंडितों के निवासस्थानों में केन्द्रित हो गये थे। इन्हीं केन्द्रों से भक्ति का संदेश समाज तक पहुँचा और उसने समाज को आध्यात्मिक और नैतिक कितने ही अमूल्य संदेश दिये एवं उसकी स्थिति को डाँवाडोल होने से बचा लिया।

५८. नाटक और समाज

(१) नाटक और समाज का अनन्याश्रिय सम्बन्ध (२) नाटक के आरम्भ और विकास का इतिहास समाज के विकास का ही इतिहास है (३) भारतीय समाज पर संस्कृत नाटक का प्रभाव—साहित्य की विशेषताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण नाटक समाज से दूर हो गया (४) नाटक और समाज के तीन प्रकार के सम्बन्ध—मनोरंजन, प्रचार, सुधार (५) व्यक्ति पर नाटक का प्रभाव।

नाटक और समाज का अनन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज के बिना नाटक की अवस्थिति असम्भव है और नाटक समाज

के सदस्यों के सामने आये बिना नाटक नहीं बन सकता। साहित्य का कोई अंग समाज पर इतना आश्रित नहीं है जितना नाटक। उपन्यास, कविता, कहानी इनका समाज से कोई इस प्रकार का सीधा सम्बन्ध नहीं है जितना रंगमंच के द्वारा नाटक का। उपन्यास, कविता और कहानी शब्द-काव्य या पाठ्य-काव्य के अंतर्गत आते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। इसके लिए प्रेक्षक के रूप में समाज की उपस्थिति आवश्यक है। नाटककार समाज को सम्बोधन करता है, उसकी ही भाषा की प्रयोग करता है, प्रत्येक प्रकार यही चेष्टा करता है कि प्रेक्षक के लिए वह सुगम हो, उसके साहित्य के रक्त, मांस, मज्जा सब चारों ओर के सामाजिक उपादानों से इकट्ठे किए जाते हैं। यही नहीं, उसके पात्र नाट्य करते हुए अपने को प्रेक्षकों से अभिन्न सिद्ध कर दें, तभी वह सफल कहलाता है।

इस बात को नाटककारों और नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने बहुत पहले से समझ लिया था। वस्तुतः नाटक के आरम्भ और विकास का इतिहास समाज के विकास का ही इतिहास है। प्रारम्भिक नाटक उस समय लिखे गये जब समाज धर्म पर आश्रित था और उन्होंने समाज में धर्म-भावना के प्रचार का काम किया। यात्रा, स्वांग, रामलीला आदि के रूप में हमारे यहाँ धार्मिक भावना को प्रदर्शित एवं दृढ़ करने वाले नाटक आज भी हमारे बीच में चल रहे हैं। समाज को उन्होंने कितना प्रभावित किया है, यह उनकी लोक-प्रियता से जाना जा सकता है। सच तो यह कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में नाट्य का जन्म धर्मकृत्यों के अवसरों पर ही हुआ और उपरांत उन्होंने समाज के नीति और धर्म-सम्बन्धी भावों पर बड़ा प्रभाव डाला।

परन्तु कुछ दिनों बाद नाटक का महत्व केवल शास्त्रीय ही रह गया। जनता में धर्म-प्राण स्वांग, यात्रा प्रभृति चीजें चलती

रहीं, परन्तु ऊपर की जनता में नाटक साहित्य की वस्तु हो गया। परन्तु उस समय भी उसका अभिनय होता था और वह उच्च वर्गीय-जनता को, जो प्रेक्षकों के रूप में उपस्थिति होती थी, प्रभावित करता था। यह अवश्य है कि उसका क्षेत्र सीमित हो गया था। उसमें साहित्य की ऊँची विशेषताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी और वह अधिक प्रभावोत्पादक भी हो गया। मध्ययुग में यूरोप में एकबार फिर नाटक और जनता का सम्बन्ध स्थापित हुआ और जनता को शेक्सपियर जैसा बड़ा कलाकार मिला। तबसे अब तक मौलियर और इब्सन प्रभृति पाश्चात्य नाटककारों के माध्यम से नाटक साहित्य के ऊँचे भावों की रक्षा करते हुए भी साधारण जनता की ओर ही अग्रसर होता गया है। आज नाटक बहुत कुछ समाज की अत्यन्त निकट की वस्तु है। सिनेमा के रूप में उसका प्रभाव लक्ष-लक्ष मनुष्यों पर पड़ा रहा है और समाज का मनोरंजन ही नहीं, बनना और बिगड़ना भी उसके हाथ में है।

यदि हम अब तक के नाटक और समाज के सम्बन्ध का विश्लेषण करें तो हमें तीन प्रकार के सम्बन्ध दिखलाई पड़ेंगे। पहला सम्बन्ध मनोरंजन का है। यही सम्बन्ध सबसे महत्त्वपूर्ण है। नाटक को समाज ने मुख्यतः सदैव ही मनोरंजन के रूप में देखा है, धर्म-प्रचार, समाज-सुधार आदि गौण रहे हैं। आज भी प्रेक्षक नाट्य-भवन में केवल मनोरंजन के उद्देश्य से जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि नाटककार केवल शुद्ध मनोरंजन तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखे। इसी से बहुत पहले से नाटक और समाज का एक दूसरे प्रकार का भी सम्बन्ध रहा है। वह है धर्म, नीति अथवा आदर्श के प्रचार का। अधिकांश प्राचीन नाटकों की सामग्री धर्म अथवा नीति के क्षेत्रों से ली गई है। आधुनिक काल में इब्सन, बर्नार्ड शॉ, मौलियर जैसे नाटक-

कारों ने समाज के प्रति विरोध की भावना को नाटक का विषय बनाकर नाटक और समाज का एक तीसरा सम्बन्ध स्थापित किया है। वह सम्बन्ध है समाज की आलोचना द्वारा उसके सुधार का प्रयत्न। यही कारण है कि आज के नाटक बुद्धि-प्रधान और व्यंगात्मक हैं। उनका उद्देश्य ही समाज की वस्तु-स्थिति को अस्वीकार करके उसके मर्म पर चोट करना होता है। परन्तु धीरे-धीरे नाटक समाज से भी आगे बढ़ा है, उसने राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक समस्याओं को अपना विषय बनाया है। आज उसके हाथ में क्रान्ति के अस्त्र शस्त्र पहुँच गये हैं और समाज के द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगा है। आज का नाटककार समाज का विरोधी, विद्रोही और क्रान्ति-द्रष्टा है। वही समाज को विकास के प्रगतिशील पथ पर बढ़ा रहा है। इस तरह जहाँ कभी समाज के धर्म, नीति और आचार-सम्बन्धी विचार नाटक को अनुप्राणित करते थे, नाटक केवल उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम होता था, वहाँ आज नाटक के विचार और भाव समाज में क्रान्ति के बीज बोकर उसे परिवर्तन के पथ पर बढ़ने के लिए विवश करते हैं। आज साहित्य के विभिन्न अंगों में न कोई इतना प्रगतिशील है जितना नाटक। न कोई इतना प्रभावशाली ही है।

समाज पर नाटक के प्रभाव के आँकने से पहले हमें पहले व्यक्ति पर नाटक के प्रभाव को आँकना होगा। समाज व्यक्तियों का ही समूह है। प्रेक्षक भी व्यक्ति ही है। उसी के द्वारा नाटक समाज पर प्रभाव डालता है। हमें देखना है कि साधारण रूप से यह प्रक्रिया कैसे होती है। प्राचीन नाटककार व्यक्ति तक ही सीमित रहते। वे समाज के बात कम सोचते थे। अरस्तू ने अधिक से अधिक "Purgution" की बात सोची है। हमारे नाट्याचार्यों ने भी रसाभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। अरस्तू

के विचार के नाटक मनुष्य के मूल भावों की अभिव्यंजना के द्वारा उसके मनोविकारों को अप्रत्यक्ष रूप से बाहर निकलने का मौक़ा देता है और फिर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में प्रेक्षक अधिक सभ्य और सहनशील हो जाता है। हमारे यहाँ भी नाटक से भावनाओं के परिष्कार की बात सोची गई थी। इसीलिए आदर्शवाद की प्रधानता थी।

५६. विवाह-बन्धन

(१) विवाह-बन्धन का अर्थ है यौन-व्यवहार पर प्रतिबंध (२) इस बंधन के मूल में है महत्व और अधिकार की लालसा (३) विवाह-बंधन का इतिहास और वर्तमान रूप (४) विवाह—धार्मिक संस्कार के रूप में (५) विवाह-बंधन को स्वीकार करने की आवश्यकता—विवाह के बिना कुटुम्ब की सामाजिक संस्था की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती (६) आधुनिक काल में विवाह के प्रति विरोध और स्वतन्त्र यौन-व्यापार का आग्रह तथा उसकी अनुपादेयता (७) उपसंहार।

विवाह-बन्धन के पीछे परिवार बना कर रहने की भावना काम कर रही है। इसी भावना ने इस संस्कार को जन्म दिया है। पहले मनुष्य गोष्ठी या दलों में घूमा करता था और यौनव्यापार अबाध था। किसी भी पुरुष का किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाता। इस प्रकार परिवार की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। वर्तमान समय में संसार में कहीं भी ऐसी स्थिति नहीं है। सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार की मनुष्य-जातियों में यौनव्यव-हार पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

मनुष्य में अपनेपन या महत्व और अधिकार की लालसा अत्यन्त प्रबल है। इसी ने स्त्री जाति के प्रति सन्देह तथा उन पर आधिपत्य का भाव पुरुषों में उत्पन्न किया। सन्तान के

प्रति वात्सल्य की भावना ने भी यौन-सम्बन्ध को सीमित करने की ही प्रेरणा दी। भ्रातृस्नेह, पारस्परिक सद्भाव व सहयोग, आहार-विहार की सुविधा कुछ इन्हीं मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों ने विवाह को जन्म दिया। पहले "मत्स्य न्याय" से काम लिया जाता, जो बलवान होता, वह कितनी ही स्त्रियाँ रख सकता, दुर्बल अपनी स्त्री के संरक्षण में असमर्थ होता। परन्तु इस प्रकार नित्यप्रति अशांति, कलह और द्वन्द्व का साम्राज्य था। अतः मानसिक विकास के साथ-साथ मनुष्य ने परिस्थितियों को पहचान कर उनके निराकरण के लिए स्त्री और पुरुष के यौनसम्बन्ध को विधि निषेधों द्वारा बाँधना ही उचित समझा।

इस समय विवाह का कोई सर्वमान्य रूप प्रचलित नहीं है और इसी लिए परिवार की संस्था भी भिन्न-भिन्न तरह की है। मुख्यतः तीन प्रकार के परिवार प्रचलित हैं—स्त्री-पुरुष के एक-विवाह-मूलक, पुरुष के बहुविवाह-मूलक और स्त्री के बहुविवाह-मूलक। इनमें पहले दो का ही अधिक प्रचार है। हमारे यहाँ पहले प्रकार के विवाह की ही महिमा गाई गई है और उसी पर कुटुम्ब और परिवार खड़े किए गए हैं। एक-पत्नी-व्रत और एक पतिव्रत के प्रशंसा-गीतों से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। निःसन्देह इस ऊँचे आदर्श ने अनेक उज्ज्वल चरित्रों की सृष्टि की है और दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाया है।

धीरे-धीरे विवाह एक धार्मिक विधान या संस्कार हो गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि समाज ने उसकी महत्ता स्वीकार कर ली और उसे अपनी स्थिति बनाए रखने के उद्देश्य से उच्छृङ्खल यौनाकर्षण होने से बचा लिया है। अब विवाह का सम्बन्ध दो स्त्री-पुरुषों से होते हुए भी समाज या गोष्ठी के साक्षी होने की आवश्यकता है। विवाह के समय वर और वधूपक्ष के बन्धु-बान्धव इकट्ठे होते हैं और धर्म-मंत्रों और पारिवारिक या

कौटुम्बिक विधि-विधानों के साथ गाजे-बाजे के साथ विवाह सम्पन्न होता है। विवाह-सम्पादन में सम्प्रदान, पाणिग्रहण, माला अथवा अंगूठी का विनिमय, कङ्कण को बांधना-खोलना, एक साथ भोजन करना, वर-वधू का परस्पर ताम्बूल ग्रहण इस प्रकार के अनेक मांगलिक व्यवहारों का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में मांगलिक कृत्य वरवधू के पारस्परिक सहयोग के द्योतक हैं। गृहप्रवेश के समय हरे शाखा-पत्र, जल भरे कलश, मत्स्यादि प्रदर्शन आदि लोकाचार भी इसी भावना से व्यवहार में आते हैं। अनेक लोकाचारों से पति-पत्नी को स्मरण कराया जाता है कि विवाह का उद्देश्य सन्तानोपादन है—नववधू की गोद में शिशु देना, मखाने बरसाने, धान्य, दूब, फल खिलाने तथा पीपल की पूजा और प्रदक्षिणा वंशवृद्धि की कामना ही सूचित करती है, इन लोकाचारों और धार्मिक कृत्यों के पश्चात् पति-पत्नी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में महत्वपूर्ण कहा गया है क्योंकि ब्रह्मचारी और सन्यासी सब अन्न-वस्त्र के लिए गृहस्थ के ही आश्रित हैं। प्रजनन अथवा प्रजावृद्धि भी इसी आश्रम द्वारा होती है। अतः इस आश्रम में स्त्री-पुरुष को प्रवेश कराने वाले संस्कार को धार्मिक रूप मिल जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

समाज ने विवाह-बंधन को इस लिये स्वीकार किया है कि इससे उसका आधार दृढ़ हो जाता है और उसमें व्यवस्थापूर्ण मर्यादा की प्रतिष्ठा हो जाती है। समाज का आधार परिवार या कुटुम्ब है, कुटुम्ब स्त्री-पुरुष और उनके बच्चों का समूह है। जब तक स्त्री-पुरुष में यह समझौता नहीं होता कि वे परस्पर ही यौन-सम्बन्ध करेंगे और साथ रहकर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का बोझ उठायेंगे, तब तक परिवार की कोई भित्ति ही स्थिर नहीं होती, समाज का अस्तित्व ही असंभव है। यदि हम राष्ट्र, राज्य या

किसी भी राजनैतिक इकाई का विश्लेषण करें तो हमें शीघ्र ही यह पता चल जायगा कि समाज ही उनका आधार है। समाज टूट जाने पर मनुष्यमात्र घुमक्कड़ हो जायेंगे, वे अधिक से अधिक दल के रूप में रह सकेंगे। अबाध यौनसंगम उन्हें शीघ्र ही कलहप्रिय, उच्छृङ्खल और बलहीन बना देगा। आज हम जितना साहित्य, कला-कौशल, स्थापत्य, संक्षेप में सभ्यता और संस्कृति के जितने भी चमत्कार देखते हैं, वे इसी लिए सम्भव हैं कि समाज की निश्चित भित्ति का आधार पाकर ही मनुष्य को इतना अवकाश मिला है कि वह विधि-विधानों की सृष्टि कर सके, अवकाश के क्षणों को अपनी आशाकांक्षाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में लगाये। उसने धीरे-धीरे ज्ञान-विज्ञान, धर्म, नीति, समाजशास्त्र, साहित्य, कला के ऊँचे-ऊँचे महल खड़े कर लिये हैं जिन्हें देख कर हम आश्चर्य से स्तब्ध हो जाते हैं, परन्तु हम इनकी नींव नहीं देख पाते। नींव है समाज; और समाज का आधार है विवाह-बंधन।

परन्तु आज इस विज्ञान और स्वतन्त्रता के युग में नई-नई आवाज़ें उठ रही हैं। नये-नये आदर्श हमारे सामने आ रहे हैं। कहा जा रहा है कि हमने युगों से नारी को अप्राकृतिक बंधन में बाँध लिया है। कवि के शब्दों में—

"मुक्त करो नारी को
सजनि, सखी, प्यारी को"
"मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति
युग-युग से रच शत-शत नैतिक बन्धन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशुतन।
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित

नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रूढ़ि-नीतियों का गत निर्मम शासन !!"

अब सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ इतने उच्च शिखर पर पहुँच गई हैं, तब मनुष्य के पशु को स्वतंत्र करने की बात चली है। यौन-सम्बन्ध पशुकर्म से कुछ भी भिन्न नहीं रहे, उसका नियंत्रण नहीं रहे। सन्तानोत्पादन से उसका संबंध न हो। सन्ताननिरोध के वैज्ञानिक साधनों से काम लिया जाय। स्त्री-पुरुषों को स्वतंत्रता हो कि वे परस्पर कुछ दिनों तक या जब तक वे विच्छेद न चाहें यौनसंगम चलता रहे। सन्तानविरोध के कारण या तो सन्तान उत्पन्न ही नहीं होगी, उत्पन्न हो तो उसका लालन-पालन राष्ट्र के जिम्मे—भविष्य के नागरिक पालन-पोषण की जिम्मेवारी राष्ट्र की ही रहे। इस प्रकार यह यांत्रिक सभ्यता मनुष्य के अन्यतम सम्बन्ध को यंत्रवत् बनाकर जड़ कर देना चाहती है।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि आज हम नर-नारी के सम्बन्ध में जिस स्वतंत्रता की कल्पना कर रहे हैं, कभी आदिम अवस्था में हम उसमें से गुजर चुके हैं। यह तब की बात है जब मनुष्य गोष्ठों अथवा दलों में रहते थे और परिवार की संस्था विकसित नहीं हुई थी। अब भी आदम-जातियों में जो विवाह-पद्धति हैं वह हमें अद्भुत और अविकसित लगेगी। सहस्रों वर्षों के अनुभव के बाद आज हम विवाह को अत्युच्च सामाजिक संस्कार का रूप देने में सफल हुए। तब आदिम अवस्था की ओर लौटने की आवाज उठाई जा रही है। वास्तव में विवाह का उद्देश्य ही यह रहा है कि मनुष्य की अत्यन्त स्वाभाविक काम-लिप्सा को नियंत्रित एवं संयमित करे। केवल इसी तरह जाति की रक्षा हो सकती थी और पारस्परिक जीवन सहयोगपूर्ण और निरापद् हो सकता था। जिस प्रकार मनुष्य-समाज ने अपनी-अपनी बुद्धि और आचरण से जांच कर प्रत्येक कार्य की पूर्ति के

नियम बनाये हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष की कामवासना की पूर्ति के भी नियम बने हैं जो भिन्न-भिन्न देशों और वातावरण के प्रयोग के बाद सुगम तथा लाभदायक प्रमाणित हुए हैं। प्रारम्भिक समय में विवाह का कारण स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण होता था और इस आकर्षण के शिथिल हो जाने के साथ विवाह-बंधन भी टूट जाता था। परन्तु जब मनुष्य अधिक सभ्य हो गया और चरवाही का काम करने लगा तब उसने पशुओं और बच्चों की देखरेख के लिये स्त्री पर प्रभुत्व किया और उसकी सन्तान का भार भी स्वयम् ग्रहण किया। इस अवस्था में अधिकांश तरुण अपनी स्त्री की प्राप्ति कन्याहरण की प्रथा द्वारा करते थे जिसमें सदैव रक्तपात होते थे। बाद में स्त्री मौल लेने की प्रथा चली जिससे स्त्री की मर्यादा घट गई और वह पुरुष की दासी मात्र समझी जाने लगी। जहाँ अर्थ ही सब कुछ रहा, वहाँ बहुपतित्व की प्रथा अवश्य बढ़ जायगी जिसका अर्थ है कि एक पति एक से अधिक स्त्रियों से वैवाहिक संसर्ग रखेगा। हमारी हिन्दू जाति में कुलीनता की प्रतिष्ठा अधिक थी, अतः "कन्या विवाह द्वारा अपने से ऊँचे कुल में जाय", इस विचार ने बहु पत्नित्व को प्रोत्साहन दिया। बहु-पत्नित्व से एक पत्नीव्रत तक पहुँचने का इतिहास बड़ा लम्बा है। प्रेम, स्त्रियों के वैयक्तिक गुण एवं उनमें व्यक्तित्व के सामूहिक विकास, आर्थिक असंतुलन, प्रथम पत्नी और उसकी सन्तान के अपेक्षकृत अधिक अधिकार आदि अनेक कारणों ने बहुपत्नित्व की प्रथा के स्थान पर सभ्य जातियों में एकपत्नीव्रत की स्थापना की। एकपत्नीव्रत में स्त्री-पुरुष की मर्यादा बराबर है, परन्तु यह पश्चिमी देशों में राजनैतिक परिस्थितियों के स्वरूप शीघ्र ही मानी गई, पूर्वीय देशों में घर में पत्नी का सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा होने पर सामाजिक और राजनैतिक अधिकार उसे प्राप्त नहीं है। हमारे यहाँ भी यह

आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है कि स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हों। अभी अनेक बातों के लिये वह पुरुष के अधीन है।

जो हो, प्रश्न अभी बना है। इस स्त्री-स्वातंत्र्य के आन्दोलन की समाप्ति कहाँ हो? क्या तलाक़ की प्रथा को उतना व्यापक रूप दे देने से स्त्री की प्रतिष्ठा बढ़ेगी जितना व्यापक रूप उसे योरुप में मिल चुका है? स्त्री-पुरुष में कोई रजिस्ट्रार के पास जाकर कह सकता है—मैं फ़लाँ के साथ-साथ रहना नहीं चाहती, या चाहता—और विवाह विच्छेद! दोनों किसी भी दूसरे स्त्री-पुरुष से विवाह-सम्बन्ध करने के लिए स्वतंत्र हो गये। जहाँ इस प्रकार का स्वेच्छाकार है, वहाँ समाज किस भित्ति पर टिकेगा? मातृत्व की उच्चता और पूनता की भावना नष्ट हो जाने पर क्या यौनसम्बन्ध के आनन्द के आधार पर ही स्त्री की प्रतिष्ठा हो सकेगी? क्या मातृत्व ने ही वात्सल्य, गृह, कलाकौशल, स्त्री-पुरुष के आजन्म सहयोग और प्रेम जैसी उपयोगी संस्थाओं और प्रवृत्तियों को जन्म नहीं दिया है। विवाह-बंधन के मूलोच्छेदन के बाद समाज में नारी की मर्यादा कहाँ रहेगी?

६०. हिन्दू-समाज में नारी का स्थान

(१) भूमिका (२) हिन्दू स्मृति-ग्रन्थों और धर्म ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण (३) हिन्दू समाज में नारी के स्थान की उच्चता (४) हिन्दू नारी और कुटुम्ब (५) हिन्दू स्मृति-ग्रन्थों में मातृत्व के गौरव की रक्षा वर्तमान समय में कुछ कुरीतियों के कारण स्त्री चरित्र दूषित हो गया, अतः चरित्र की महत्ता पर स्थित नारी का स्थान गिर गया (७) वर्तमान नारी-स्वातंत्र्य के आन्दोलन और उनकी विद्रूपता।

संसार के किसी भी समाज में नारी का स्थान इतना ऊँचा नहीं है, जितना हिन्दू-समाज में। वैदिक-साहित्य के सूत्र ग्रन्थों का एक सारस्वत अनुवाक इस प्रकार है—

यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमंयशः ॥

अर्थात् महाभाग्यशीला नारी जो भूत और भविष्य की जननी है जिस उत्तम यश का पात्र है उसकी यशोगाथा को आज हम गाते हैं। इसके बाद बीस ऋचाएँ वेदिमंडप में गाई जाती हैं और विवाह सम्पन्न होना है। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है—"यो भर्ता सा स्मृतांगना" (जो पति है, वही अभिन्न रूप से पत्नी है)। "जहाँ स्त्रियों का पूजन होता है, वहाँ देवता बसते हैं। जहाँ उसका आदर नहीं होता, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल जाती हैं।" "अनेक कल्याणों की भाजन स्त्रियाँ पूजा के योग्य हैं, ये घर की ज्योति हैं, प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति के लिए उन्हें बनाया है। स्त्रियाँ घरों में साक्षात् लक्ष्मी हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।"

जिस जाति ने संसार पर राज्य किया है और जिसके यशोगीत इतिहास और पुराणों में गूँज रहे हैं, हिन्दुओं की उस आर्यजाति के कुल-धर्म में नारी का महत्त्व पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया था। उसे जाया माना गया है। "यही जाया का जायत्व है कि पुरुष उसमें पुनः जन्म ग्रहण करता है।" स्त्री माता और धात्री बन कर ही सफल है। "अपत्य, धर्मकाव्य, सुश्रुषा, उत्तम आनन्द तथा अपने पर्व पुरुपों की स्वर्गगति सब कुछ स्त्री के आधीन है।" "संतति को जन्म देना, उत्पन्न हुए पुत्रादिक का पालन करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण स्त्री है।" स्त्री के लिए पति और कुटुम्ब ही सब कुछ है। "पति सेवा ही उनका (स्त्रियों का) गुरुकुलवास है, और गृहकार्यों में दक्षतापूर्वक योग ही उनकी अग्नि-परिचर्या है।" "स्त्रियों के लिए प्रथक् यज्ञ, व्रत या उपवास का विधान नहीं है। पति की शुश्रुषा से ही वे स्वर्ग में उच्च स्थान पाती हैं।" "स्त्रियों के उच्च पद के कारण ही विवाह को सबसे बड़ा वैदिक संस्कार

माना गया है क्योंकि उसके द्वारा ही कुटुम्ब में भावी सन्तान की माता की प्रतिष्ठा होती है। प्रजा का जन्म देना (मातृत्व) ही स्त्री-जीवन की सार्थकता है। "उसका नित्य भरण-पोषण करना" और उसे प्रसन्न करना पति का कर्तव्य है। "स्त्री की प्रसन्नता से सारा परिवार प्रसन्न रहता है। उसके असन्तोष से कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दू-समाज में नारी का स्थान कुटुम्ब है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसका क्षेत्र भी संकीर्ण है या उसकी शक्तियों को कुटुम्ब में सीमित रखकर हम बराबर अन्याय करते आये हैं। मनु ने कहा है कि कौमार अवस्था में स्त्री की रक्षा पिता करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र, इसलिए स्त्री का अपना तंत्र नहीं होता। इस बात को लेकर कितने ही लोग हिन्दू-समाज के नारी के प्रति किये गये अपमान की बात उठाते हैं। परन्तु यह तो एक सामान्य लोक-व्यवहार की बात है जिसका सम्बन्ध सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों से जोड़ना ठीक नहीं। स्त्री की प्रतिदिन की लोकयात्रा को निश्चित बनाने की दृष्टि से ही इस प्रकार का आयोजन किया गया है। यदि यह कहा जाय कि मनु का यह आदेश "कि जो पुरुष यत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करता है, वह अपनी सन्तान, चरित्र, परिवार, धर्म और अपने आपकी रक्षा करता है" स्त्री-पारतन्त्र्य का सूचक है, आचार-विषयक नियमन मात्र नहीं हैं, तो इसे क्या कहा जाय! जहाँ लक्ष्य उत्तम प्रजा होगी, वहाँ चरित्र का महत्त्व रहेगा ही; परन्तु यही चरित्र-विषयक कठोरता स्त्री के पद को ऊँचा बना देगी। स्त्री राष्ट्र की प्रजा की माता है, अतः वह राष्ट्र की माता है। इससे ऊँचा पद उसे कहाँ मिलेगा ?

मातृत्व के इसी गौरव को दृष्टि में रखकर आर्यजाति ने स्त्री

के दाय के सम्बन्ध में विशेष विभाजन नहीं किया। पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है, पत्नी को नहीं। हिन्दू कुटुम्ब में माता का जो स्थान है, जो इसे जानते हैं, वे अवश्य इस वस्तु-स्थिति को दोष-पूर्ण नहीं कहेंगे। आधुनिकों को यहाँ भी बर्बरता के दर्शन होंगे। वास्तव में, यदि हिन्दू समाज में नारी का स्थान ढूँढ़ना हो तो उसे व्यवहारिक जीवन और ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्रों में ढूँढ़ा जाय, दाय-भाग में वह नहीं मिलेगा।

मध्ययुग में अवश्य नारी-प्रतिष्ठा की कमी रही है। इसका कारण था कई ऐसी कुरीतियों का प्रवेश जिन्होंने स्त्री को अपने स्वर्ग से नीचे गिरा दिया। बहु-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह—इन्होंने कुटुम्ब धर्म को दूषित कर दिया। धीरे-धीरे हमारी गृहदेवियों का चरित्र नीचे गिरने लगा। इसे देखकर व्यवस्थाकारों ने नारी के विषय में सतर्कता और कठोरता का व्यवहार ही ठीक समझा। तुलसी जैसे संत भी नारी के लिए यह कह गये हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी

परन्तु जिन कुरीतियों ने स्त्री-चरित्र को दूषित कर दिया था, वे अब बनी हैं; और सुधारकों के इतने प्रयत्न पर भी इन्हीं के कारण नारी-महत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो रही है। यही नहीं, वर्तमान काल में नारी-जागरण के आन्दोलनों ने स्त्री-प्रतिष्ठा को जितना ऊँचा उठाया है, उससे अधिक नवीन विचारधारा ने उसे नीचे भी गिरा दिया है। चरित्र की स्वतन्त्रता की भावना ने नारी को विलासभोग की क्रीड़ा-भूमि बना डाला है और हिन्दू नवयुवक स्त्री के प्रति एकमात्र यौनभावना से ही आकर्षित होने लगे हैं। हमारे यहाँ यौनाकर्षण को विशेष महत्व नहीं मिला था, विवाह

और चरित्र की स्वतन्त्रता ने इसे ही प्रधानता दे दी है। हिन्दू संस्कृति में यौनसम्बन्ध का अन्त पुण्यमय मातृत्व में होता है। नए समाज में प्रजानिरोध का प्रचार हो रहा है। स्त्री की स्वतन्त्रता तब तक नहीं बनी रह सकती जब तक वह स्वेच्छापूर्वक जीवन-यापन न कर सके, प्रजनन के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र न हो। नई युवती के लिए प्रजानिरोध के वैज्ञानिक ढंग जानना आवश्यक हो गया है। परन्तु नवीनता और मौलिकता के उत्साह में हम यही भूल जाते हैं कि स्त्री प्रतिष्ठा का मूलाधार मातृत्त्व है। मातृत्व के नाश से कालांतर में नारी-प्रतिष्ठा का नाश हो जायगा। जहाँ नारी का यौवन विषय-विलास की क्रीड़ा-भूमि मान लिया गया, जहाँ उसे मातृत्व का भय और मोह नहीं रहा, वहाँ क्या गर्हित दुराचार न हो सकेंगे! मातृत्व की उपेक्षा से स्वर्ग की दैवी गृहिणी नरक की वेश्या बन जाती है। आज का हिन्दू-समाज नारी की सत्ता को ऊपर उठाने चला है, परन्तु पश्चिम के नए सिद्धान्त उसे एक बार फिर गर्त में ढकेल रहे हैं।

६१. हमारा शिक्षित समाज और जनसमुदाय

(१) भूमिका (२) हमारे समाज के जन-समुदाय की विशेषताएँ—धर्म प्राणता, प्राचीन विचारों पर श्रद्धापूर्वक विश्वास, चातुर्वर्ण्य, अवतारवाद, कर्म-सिद्धान्त की मान्यता (३) शिक्षित समुदाय की विशेषताएँ—अविश्वास, तर्कमूलक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नास्तिकता, आचार-विचार का अनियमन (४) भाषा, साहित्य, आशाकांक्षाओं का विरोध (५) जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विरोध (६) साहित्य के भीतर से जन-समुदाय और शिक्षित समाज का सम्बन्ध (७) उपसंहार।

हमारे देश के कोई सहस्रों वर्षों के इतिहास में कोई भी समय ऐसा नहीं रहा है जब शिक्षित समाज और जनसमुदाय में इतना अंतर हो जितना आज है। जनता की भाषा, व्यवहार, विश्वास, साहित्य, शिक्षित समाज की भाषा, व्यवहार, विश्वास और

साहित्य से दूर ही नहीं, अपितु विरोध में जा पड़े हैं। निकट भविष्य में दोनों के पास-पास आने की सम्भावना भी नहीं है।

जनसमुदाय अब भी धर्मप्राण है। वह मध्ययुग के पौराणिक धर्म पर चल रहा है। अवतारवाद पर उसकी अटूट आस्था है। राम और कृष्ण, विष्णु और शिव, देवी-देवताओं और अवतारों पर उसे श्रद्धा है। साधारण हिन्दू अब भी पंचदेवोपासक है। मध्ययुग के सांस्कृतिक संघर्ष के कारण निर्गुण-पंथियों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे, वे अब भी अपने-अपने अखाड़े लेकर चल रहे हैं; हिन्दू आचार-विचारों ने उनमें घर कर लिया है और उनका मूर्ति-उपासना और कर्मकांड का विरोध शिथिल हो गया है। इस समय अनेक दलों, सम्प्रदायों और वर्गों में विभाजित होने पर भी हिन्दूधर्म अविभाजित हैं, चातुर्वर्ण्य संस्था, अवतारवाद और कर्मसिद्धान्त लगभग सभी दलों, सम्प्रदायों और वर्गों को मान्य हैं। जनसमुदाय हिन्दू धर्म के इसी व्यावहारिक रूप से परिचित है, ऋषियों और मनीषियों के ऊँचे सिद्धान्त उस तक नहीं पहुँचे हैं।

अब शिक्षित समुदाय की बात लीजिये। यहाँ शिक्षित समुदाय का अर्थ अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त समाज से है। यह समाज सब ले देकर किसी तरह मानने भर के लिए पौराणिक धर्म का मानता अवश्य चला आता है, परन्तु उसमें श्रद्धा, विश्वास, गम्भीर आंतरिक प्रेरणा का अभाव है। यही नहीं, शिक्षित समाज में धीरे-धीरे ऐसा वर्ग भी पैदा हो गया है जो पौराणिक मत को विज्ञान की कसौटी पर कसने चला है। वह धीरे-धीरे नास्तिक श्रद्धालु, विज्ञान-भक्त होता जा रहा है। जो पश्चिम मानता-जानता है, वही उसके लिए सत्य है। वेद गडरियों के गीत हैं। उपनिषदों में पराजित जाति की रहस्यवादिता है। धर्म शास्त्र अर्धसभ्य सभाज के लिए बने थे, आज के पूर्ण सभ्य समाज की

दृष्टि से बहुत पीछे हैं। चातुर्वर्ण्य की संस्था में भी उसे विश्वास नहीं है। नई परिस्थितियों ने आश्रम-व्यवस्था को तोड़ ही दिया है। अब दो ही आश्रम रह गए हैं—ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम। ब्रह्मचर्य आश्रम भी विडम्बना मात्र है। जहाँ विद्याध्ययन के पीछे कोई महान आदर्श नहीं, क्लर्क बनने भर की साधना है; जहाँ शरीर, हृदय और मन के संयम का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है, वहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम तो नहीं है, लीक पीटना भर है, बहुधा तो गृहस्थाश्रम और पठन-पाठन साथ-साथ चलता रहता है, विशेष कर उच्चशिक्षा के क्षेत्रों में। इसीलिये शिक्षित समाज की समझ में आश्रमों की व्यवस्था आती ही नहीं। दिन दफ़्तर में, रात होटल में, मौत हस्पताल में—नई सामाजिक व्यवस्था का कुछ ऐसा रूप है। कर्मसिद्धांत जनसमुदाय की भाँति ही शिक्षित समुदाय को भी पकड़े हुए हैं। शिक्षित समाज भी भाग्यवादी है। परन्तु उसके भाग्यवाद का कारण भिन्न है। जनसमुदाय ईश्वर-विश्वासी है, परिस्थितियों के वैषम्य को वह भाग्य पर मँढ़ देता है। शिक्षित समाज के भाग्यवाद का आधार है नौकरीदेवी की कृपा-अकृपा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जन-समुदाय और शिक्षित समाज की मूल भावनाओं में कितना विरोध है।

इस विरोध के कारण ही न हमारा साहित्य जनसमुदाय को अनुप्राणित कर सकता है, न हम अपने व्यवहार द्वारा ही उनके निकट आ पाते हैं। भाषा की बात लीजिये। आज खड़ी बोली हिन्दी हमारे प्रदेश की सामान्य भाषा है, परन्तु जनसमुदाय का एक बहुत छोटा भाग जो आगरा-दिल्ली-बरेली में रहता है इसे प्रतिदिन की बोलचाल में काम लाता है। वह छोटा समुदाय भी काम-काजी खड़ी बोली बोलता है, नगरों में बोलचाल के लिये खड़ी बोली का जो रूप प्रयोग में आता है और साहित्य-रचना के

लिए संस्कृतगर्भित, शैली-सम्पन्न जिस खड़ी का व्यवहार हम करते हैं, उसका जनसमुदाय के दैनिक व्यवहार में कोई स्थान नहीं हैं। जनसमुदाय की कल्पना, उपमा-उत्प्रेक्षाएँ, रूपक हमारे साहित्य की कल्पनाओं, उपमा-उत्प्रेक्षाओं और रूपकों से भिन्न हैं। साहित्य अपनी सामग्री लोक-जीवन से न लेकर देशी-विदेशी साहित्य, प्राचीन साहित्यिक परम्परा, और उच्चवर्गीय चेतनता से ग्रहण करता है। फलतः, हमारा साहित्य न जनता के भावों की प्रतिध्वनि है, न जनता उसमें रस ले सकती है। गाँवों की जनता आल्हा-ऊदल, यात्रा-नौटंकी, रास-स्वांग, लोकगीत और लोक-कथा-साहित्य से शक्ति ग्रहण करती है। उसे प्रतिदिन के जीवन से ही शक्ति मिलती है। शिक्षित समाज का प्रतिदिन का जीवन मशीन की तरह नीरस है, अतः उसकी कल्पना अहर्निशि उत्तेजित रहती है और वह उसी से शक्ति ग्रहण करता है या कभी-कभी अतीत की ओर मुड़कर उसकी संस्कृति और उसके साहित्य में रस लेने की चेष्टा करता है।

शिक्षित-समाज और जन-समुदायों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण की यह विभिन्नता कई शताब्दियों से चली आती है। कदाचित् भक्तिकाल में जनता और शिक्षित-समाज सबसे अधिक निकट आये थे। जन-समुदाय ने कबीर, दादू, नानक जैसे कवि हमें दिये। वही जनता की भाषा, जनता के जीवन से ली गई उपमा-उत्प्रेक्षाएँ। तुलसी, जायसी, सूरदास प्रभृति कवि शिक्षित-समाज के सदस्य थे परन्तु भाषा और साहित्यिक परम्परा को छोड़कर भावना, विश्वास और व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से वे जन-समुदाय के हो गये थे। उनकी कविता जनता के लिए कंठहार सिद्ध हुई। कबीर और तुलसी आज जन-समुदाय की श्रद्धा में जीवित हैं। रीतिकाल में जन-साधारण और शिक्षित-समाज में भाषा और भावना की दृष्टि से महान अन्तर पड़ गया

था। बिहारी की सतसई जो हो, जन-समुदाय की वस्तु नहीं है। उसे शिक्षित-समाज का साहित्य ही कहा जायगा। जनता कर्म-प्रधान थी, भक्ति-भावनाश्रत थी; ऐश्वर्य और विलास उसमें कहाँ। परन्तु रीतिकाल के साहित्य में ऐश्वर्य और विलास के सिवा और क्या है। फल यह हुआ कि जनता भक्तों के साहित्य से ही चिपटी रही। केशव, बिहारी और पद्माकर उसके हृदय तक न पहुँन सके। अंग्रेज़ी सत्ता के स्थापन के साथ यह खाई और बड़ी हो गई। मध्यवर्ग एक विदेशी देश की सभ्यता, भाषा और साहित्य से परिचित हुआ और उसने इन्हें अपने जीवन में उतारना आरम्भ किया। फल यह हुआ कि वह जन-जीवन और जन-भावना से दूर जा पड़ा। आज उसके साहित्य के एक बड़े भाग को जनता नहीं समझती, यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। प्रसाद के नाटक, छायावादी काव्य, निराला और जैनेन्द्र की उपन्यास-कला और भाषा की बात जाने दीजिये—विषय और भावना की दृष्टि से जनता के लिए अबूझ हैं, कबीर की उलटबासियाँ हैं। अब शिक्षित-समाज में पुकार हुई है—भाषा सरल करो। परन्तु भाषा की सरलता ही शिक्षित-समाज के साहित्य को जनता तक नहीं पहुँचा देगी। जिस होटल-कोर्टशिप की समस्याओं से "तीन वर्ष" और "त्यागपत्र" भरे पड़े हैं वह जनता की समस्या नहीं है, वास्तव में वह अभी किसी तरह शिक्षित-समाज के लिए भी समस्या नहीं है। महादेवी का काव्य जिस अदृश्य, अव्यक्त सत्ता के प्रति प्रेम-मिलन और विरह के स्वर उठाता है, वह जन-समुदाय के लिए कबीर के निर्गुण से भी अधिक जटिल है। सच तो यह है शिक्षित-समाज अभी बहुत समय के लिए जन-समुदाय से दूर जा पड़ा है। श्रेयस्कर न हो, वांच्छनीय न हो, परन्तु परिस्थिति है यही। 'हिन्दुस्तानी भाषा में जनता के लिए लिखो"—इस चिल्लाहट से कुछ आता-जाता

नहीं। हमारे विषय काल्पनिक हैं, अवास्तव हैं या जन-समुदाय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वहीन हैं। साफ़ कहना उचित तो नहीं है परन्तु सच यह है कि हमने जीवन और उसके उत्तरदायित्व से मुँह मोड़कर कल्पना, साहित्यिक पम्परा और विदेशी प्रभाव के सहारे एक बहुत बड़ा जंजाल खड़ा कर लिया है जिसे हम मध्यवर्ग की शिक्षित जनता का साहित्य कहते हैं। उसे देखकर जन-समुदाय की आँखों में चकाचौंध भले ही हो जाये, परन्तु वह उसके गले के नीचे नहीं उतर पाता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं जन-समुदाय और शिक्षित-समाज अभी बहुत दिनों के लिए परस्पर दूर हैं। जब रोटी की समस्या उठती है तो वे पास आ जाते हैं, पास आये बिना रह ही नहीं सकते, परन्तु वैसे छत्तीस हैं, तिरेसठ नहीं। कब शिक्षित-समाज जनता के समीप आयेगा, किस प्रकार आयेगा, क्या जन-समुदाय ऊपर उठेगा या शिक्षित-समाज नीचे उतरेगा, ये समस्याएँ आज हमारे सामने हैं। ये बड़े प्रश्न हैं। साथ ही कठिन प्रश्न हैं। हम निरुत्तर हैं। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, ३६ करोड़ जनता में १ करोड़ या आधे करोड़ जनता की भाषा, भावना, विचार-धारा और कल्पना की खपत नहीं हो सकती। यह बात निश्चित है। हम उस स्वर्णदिवस की कल्पना कर सकते हैं जब शिक्षित-समाज और जन-समुदाय एक ही भावना, विचार-धारा और कल्पना से स्पंदित होंगे। वह दिन निश्चय ही महान होगा। हमें उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिये और उसे समीप लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

—:o:—

६२. विज्ञान से संसार का हित-अहित

(१) भूमिका (२) विज्ञान से मौलिक सुविधाओं का जन्म और उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि (३) स्थान और समय की दूरी की कमी (४) जीवन-रक्षा के अनेक सुगम साधनों का आविष्कार (५) विज्ञान-द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की वृद्धि और तज्जन्य असंतोष (६) मनोरंजन और शिक्षा के क्षेत्रों में क्रांति (७) सामरिक विज्ञान से मानव-जाति के लोप हो जाने ही का भय हो गया है (८) मशीनों के राज्य से मनुष्य की उपयोगिता और उसकी शक्तियों का ह्रास (९) क्यों हम विज्ञान का सदुपयोग न करें ? (१०) उपसंहार।

कोई १५० वर्ष हुए विज्ञान ने संसार में प्रवेश किया था। तब से अब तक वैज्ञानिक अनुसंधानों में बराबर उन्नति होती गई और अब प्रति वर्ष सैकड़ों अनुसंधान हमारे सामने आते हैं। पिछले ३०-३५ वर्षों में विज्ञान हमारे प्रत्येक दिन के जीवन में आ घुसा है और अब हम उसे किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते। ऐसी दशा में यह सोचना अनुचित नहीं होगा कि हमने विज्ञान से क्या पाया है, उससे संसार का कितना हित-अहित हुआ है।

जो बात हमें सबसे पहले दिखलाई देती है, वह यह है कि विज्ञान ने संसार के चेहरे को ही बदल दिया है। बड़ी-बड़ी स्फटिक या कोलतार की सड़कें, दो दो मील लम्बे पुल, गगनचुम्बी

अट्टालिकाएँ, बिजली का जगमगाता प्रकाश, नल के द्वारा पानी पाने की सुगमता! सचमुच संसार बदल गया है। देवर्षि नारद अबकी बार पृथ्वी की यात्रा करेंगे तो उसे पहचान नहीं सकेंगे। बाहर ही नहीं, घर भी बदल गया है। पहले चिराग़ थे। अब बिजली है। उससे प्रकाश मिलेगा, गर्मी मिलेगी, अंगीठी गर्म कीजिये, पंखा चला कर हवा लीजिये। घर में सैकड़ों चीज़ें ऐसी मिलेंगी जिन्हें हम अपने सुख के लिए अनिवार्य समझते हैं, परन्तु वैज्ञानिक साधनों के अभाव में उनमें से कुछ का अस्तित्व भी असम्भव था। दूसरी यदि होतीं भी तो उनका रूप इतना सुन्दर न होता और उत्पादन के वैज्ञानिक साधनों के अभाव में वे सर्वसाधारण को सुलभ भी नहीं होतीं। आज हम सोचते हैं कि ये चीज़ें हमारे पास नहीं होतीं तो जीवन भारी हो जाता। स्पष्ट है कि विज्ञान ने हमारे सुख के साधनों में वृद्धि की है और उन्हें सुलभ भी बना दिया है।

विज्ञान ने स्थान की दूरी कम कर दी है। मोटर हैं, लारियाँ हैं, रेलें हैं, हवाई जहाज़ हैं, पानी का जहाज़ है। इन तीव्रगामी यानों ने हमारी यात्रा को छोटा कर दिया है। थोड़े से पैसों में आराम से बैठकर २००-४०० मील की यात्रा ८-१० घंटों में कर लेना सर्वसाधारण के लिए सुगम है। वायुयान तो ३००-४०० मील प्रति घंटे के हिसाब से उड़ते हैं। अब सारा संसार एक बड़ा कुटुम्ब हो गया है। स्थल, जल और आकाश के बीच में यातायात और यात्रा के जाल बिछे हुए हैं। अब कोई स्थान दूर नहीं रहा। मिनटों में अपने सन्देश को इङ्गलैंड पहुँचा दीजिये और उत्तर में किसी परिचित की आवाज़ सुन लीजिये। अब ऐसा आविष्कार भी हो गया है जिससे घर बैठे सात समुद्र पार की बात ही नहीं सुनी जा सके, सूरत भी दिखलाई दे। समय के अन्तर में भी कमी हो गई है। जो काम कल महीनों में होता था, आज घंटे में

होता है। घर बैठे दूसरे दिन या उसी दिन शाम को हम देश-विदेश के क्षण-क्षण के समाचार पढ़ लेते हैं। इतना ही नहीं, रेडियो द्वारा हम प्रत्येक समय, प्रत्येक जगह उपस्थित हैं। स्विच घुमाने की देर है। यह न्यूयार्क बोल रहा है, यह मास्को है, यह लंदन, यह दिल्ली। प्रधान मन्त्री एटली भाषण दे रहे हैं वाशिङ्गटन में और उनके साथी मन्त्री मण्डल के लोग लन्दन में उसे सुन रहे हैं और हम यहाँ सुन रहे हैं।

यही नहीं, विज्ञान ने जीवन-रक्षा के अनेक साधनों को भी सुगम कर दिया है। उसके द्वारा चिकित्साशास्त्र में क्रान्ति हो गई है। कितने ही रोगों की औषधियाँ जान ली गई हैं, कितने ही रोगों को चीरफाड़ (सर्जरी) के द्वारा ठीक किया जा सकता है। ऐक्सरे द्वारा सारे शरीर का वेध किया जा सकता है और रोग कहाँ है, यह देखा जा सकता है। पहले जर्राही में बड़ा कष्ट होता था, अब ऐसे-ऐसे रासायनिकों का प्रयोग होता है जिसके लेप से मांस सुन्न पड़ जाता है और आवश्यक चीराफाड़ी इस प्रकार हो सकती है कि रोगी को इतना भी पता नहीं चले कि सुई चुभ गई है।

जीवन-यापन के साधन भी बहुत-से निकल आये हैं और प्रतिदिन की साधारण आवश्यकताएँ जिन चीजों से पूर्ण होती थीं वह भी सुलभ हैं। सीने के लिए सुई, उजाला करने के लिए दियासलाई, लिखने के लिए पेन्सिल और निब और कागज़ से लेकर कुर्सी, मेज़, बिजली के पंखे और बरफ़ तक प्रत्येक वस्तु मशीन से बनकर हमारे सामने हैं। जहाँ देखो वहाँ "कल"। यह "कलयुग" है। कपड़ा, दियासलाई, शक्कर, कागज़, पेन्सिल—किसके लिए बड़ी-बड़ी मशीनों की आवश्यकता नहीं है ? किसके लिए बिजली और कोयला नहीं चाहिए ? इन मशीनों के सहारे

बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे खड़े हैं और करोड़ों आदमी विज्ञान के इन चमत्कारों पर पल रहे हैं।

मनोरंजन के पहले साधन अब समाप्त-प्राय हैं। आज विज्ञान ने हमें नये मनोरंजन दिये हैं। सिनेमा ने नाटकों और थियेटरों का स्थान हड़प लिया है। ग्रामोफ़ोन है, रेडियो है, कार्निवॉल है, सैरबीन है, अब कुछ दिनों में "टेलीविज़न" भी सर्वसुलभ होने वाला है जिससे सर्व-साधारण "दिव्यचक्षु" हो जायगा। हमारे प्राचीन ऋषि सर्वज्ञ थे। योग के सहारे वे सब लोकों की घटनाओं को जान लेने थे। कल हममें से प्रत्येक ऐसा कर सकेगा।

सच तो यह है कि विज्ञान ने हमारे संसार में क्रांति उपस्थित कर दी है। शिक्षा के क्षेत्र में रेडियो और चलचित्रों का प्रयोग होने लगा है, एक पुस्तक की सहस्रों-सहस्रों प्रतियाँ घंटे भर में तैयार हो कर दूर-दूर वितरित हो सकती हैं, समाचार पत्रों ने सारे संसार को एक सूत्र में बाँध लिया है। आज अंधविश्वासों पर बार-बार आघात हो रहा है और विज्ञान के आलोक में हमारे धर्मों और दर्शनों ने अत्यन्त अभिनव रूप धारण कर लिया है। हम प्रत्येक समस्या को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं, और इस तरह सत्य के अधिक निकट पहुँच रहे हैं।

परन्तु क्या विज्ञान में हित ही हित है, अहित कुछ भी नहीं? अहित है उसके ग़लत प्रयोग में। विज्ञान ने जीवन के बनाये रखने और उसके उत्तरोत्तर विकास के लिए साधन इकट्ठे किए, परन्तु अभागा मनुष्य उनको पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने विज्ञान का दुरुपयोग किया। विज्ञान ने आत्मरक्षा के लिए बन्दूक़-रिवाल्वर बनाये। मनुष्य एक दूसरे पर उसका प्रयोग करने लगा। आज मशीनगनों और बमों का राज है। बन्दर के हाथ में चाकू आ जाने से उसकी नाक कब तक सलामत रहेगी? कुछ

ऐसी ही बात विज्ञान के सम्बन्ध में हुई है। शुद्ध वैज्ञानिकों के हाथ से निकल कर विज्ञान के आविष्कार व्यवसायियों के हाथ में पहुँचे और उन्होंने अपनी चाँदी की। फलस्वरूप आज हम बवण्डर उमड़ता देखते हैं। नोबिल ने जिस समय डाइनमाइट का आविष्कार किया था उस समय उसका लक्ष्य केवल ऐसे विस्फोटक की प्राप्ति था जिसके द्वारा पहाड़ उड़ाए जा सकें और उनमें सुगमतापूर्वक रेलें बिछाई जा सकें, नहरें खोदी जा सकें, खाइयाँ बनाने में जिसका प्रयोग हो, परन्तु मृत्यु से पहले ही उसने अपने अविष्कार का अत्यन्त गर्हित प्रयोग देख लिया। जिस प्रिय आविष्कार तक पहुँचने में मनुष्य जाति के इस हित चिंतक को अपने प्रिय पुत्र के प्राणों से हाथ धोना पड़े, उसी आविष्कार की सहायता से गाँव के गाँव उजाड़ दिये गये। पिछले महायुद्ध से पहले वायुयान कुतूहल की वस्तु था। वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए ही उसका प्रयोग होता था। बाद को जहाँ यातायात के साधनों और आवागमन को सुगम बना कर उसने शांति के समय क्रांति उत्पन्न की, वहाँ आज उसी के कारण संसार में कोई कोना भी ऐसा नहीं रहा जिनमें मनुष्य अपना सिर छिपा कर पड़ा रहे। वर्तमान युद्ध में वायुयान ने इन्द्र के बज्र का काम किया है। उसके मँडारते ही नगर खण्डर हो गए हैं और महानकलाकारों का वर्षों का परिश्रम धूल! धीरे-धीरे मनुष्य ने जाना कि विज्ञान ने उसे अत्यन्त भयानक परिस्थिति में डाल दिया है। उसने विज्ञान की ही शरण ली। अब "सामरिक विज्ञान" विज्ञान का एक प्रधान-अंग है। सहस्रों वैज्ञानिक राक्षस की पूजा में लगे हैं प्रतिदिन नए-नए भयानक शास्त्रों का आविष्कार हो रहा है। ऐसी-ऐसी गैसें निकल गई हैं जो क्षण भर में असंख्य प्राणियों को मौत के घाट उतार देती हैं आज मनुष्य भयभीत है। दानव मुक्त हो गया है। अब

तक सहस्रों वर्षों के अनिवरत परिश्रम के बाद मनुष्य ने अपना कहने योग्य जो कुछ संग्रह किया था, उसे विज्ञान के दुरुपयोग ने संकट में डाल दिया है।

यह भी कहा जा रहा है कि वर्तमान सभ्यता के रोगों के मूल में मशीनें हैं जिनका आविष्कार विज्ञान ने ही किया है और जिन्होंने आज मनुष्य को बेकार कर दिया है। जहाँ पहले किसी एक व्यवसाय में सहस्रों मनुष्यों के पेट पलते थे, वहाँ आज एक दो आदमी मशीन के सहारे सहस्रों मनुष्यों का काम करके उनकी रोटी काट लेते हैं। इसीसे बेकारी की भीषण समस्या आज संसार के सामने मुँह फैलाए खड़ी है। यही नहीं, जब माल अधिक तैयार हो जाता है, तो बेचा कहाँ जाय, खपे कहाँ? तब आवश्यकता पड़ती है कि उन देशों को गुलाम बनाया जाय जिनमें विज्ञान का बल नहीं है और उनमें अपने देश का माल खपाया जाय। जो देश इस तरह मशीनों के सहारे माल बना-बना कर उपनिवेशों में खपाते हैं, उनमें प्रतियोगिता रहती है। प्रत्येक देश चाहता है उसका माल अधिक खपे, उसका देश अधिक धनी हो। फलस्वरूप युद्ध होते हैं। इस दृष्टिकोण से विज्ञान ने गुलाम मनुष्यों की संख्या में इतनी वृद्धि की है कि संसार की ८०-६० प्रतिशत जनसंख्या किसी न किसी प्रकार मशीनों की गुलाम है। परन्तु यहाँ भी दोष विज्ञान का नहीं उसके दुरुपयोग का है। क्या उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण नहीं हो सकता? क्या यह आवश्यक है उससे अधिक माल बनाया जाय जितना देश को आवश्यक है? क्या वास्तव में दोष मशीनों का है, मनुष्य के कुसंस्कारों और उसके अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का नहीं?

कुछ लोग यह कहते हैं कि विज्ञान ने भौतिक सुखों की वृद्धि करके मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है और आज

दशा यह है कि कोई भी मनुष्य सुखी नहीं है यह दृष्टिकोण भी ठीक नहीं .है। या कोई बात नहीं कि मनुष्य की शांति और सुख के लिये यह आवश्यक हो कि उसकी आवश्यकताएँ सीमित रहे जहाँ आवश्यकताएँ थोड़ी हैं, वहाँ भी मनुष्य संतोष से नहीं रहता। दुःख का विषय यह है कि सुख के साधनों के वितरण में संतुलन नहीं है, वैषम्य है। इससे ईर्ष्या द्वेष, स्पर्धा एक शब्द में अशांति का जन्म होता है। राष्ट्रीय नियंत्रण से असंतुलन दूर किया जा सकता है। विज्ञान तो मनुष्य को सुख और शांति के ही उपहार लाया है, परन्तु मनुष्य ने उन पर विष चढ़ा दिया है यह भी दोष दिया जाता है कि भौतिक सुखों की इच्छा से भौतिक वाद का जन्म हुआ है और मनुष्य ने ईश्वर आत्मा, श्रद्धा, विश्वास जैसे दैवी गुणों को भुला दिया है। आज अविश्वास और अश्रद्धा का राज है। लोग "चार्वाक-पंथी" हो रहे हैं। धर्म की मिट्टी पलीद है। परन्तु दोष फिर ग़लत दृष्टिकोण का है। विज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वहाँ अश्रद्धा नहीं रहती, श्रद्धा ही रहती है। महान वैज्ञानिक तो आस्तिक ही होते हैं।

संसार सतत प्रगतिशील है। आज हम वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर एक दूसरे का गला काटने के लिए निकले हैं। इसीसे हम कहते हैं दोष हमारा नहीं, विज्ञान का है। धीरे-धीरे जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पूर्ण विकास हो जायगा और धर्म दर्शन, समाज-नीति और राष्ट्रनीति जब विज्ञान की ज्योति में शुद्ध होकर ग्रहीत होंगी तब विज्ञान से हित ही हित होगा, अहित नहीं।

६३. कालगति और लोकमत

(१) काल की दुर्धर्ष सत्ता और व्यास (२) काल की सतत प्रवहमानता (३) महानपुरुष काल और लोकजीवन के प्रवाह

पर शासन करते हैं, यह भी निश्चित बात है (४) गांधी जी का उदाहरण।

काल की गति विचित्र है वह मनुष्य की बुद्धि के परे है। परन्तु काल की दुर्धर्ष सत्ता से हम सब परिचित हैं। महाभारत में महर्षि व्यास लिखते हैं—

काल मूलमिदं सर्वं जगद्बीज धनञ्जय।
काल एवं समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
स एव बलवान भूत्वा पुनर्भवति दुर्बल॥

अर्थात् काल सब की जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वश में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। महाभारत युद्ध में इस बलवान काल की महिमा महर्षि ने अपनी आँखों से देखी थी। धृतराष्ट्र, व्यास, कृष्ण, भीष्म—सभी ने युद्ध रोकने का प्रयत्न किया परन्तु काल बली के आगे किसी की न चली। महाभारत वास्तव में कालचक्र के उत्थान और पतन का इतिहास है जो कौरवों पांडवों और वृष्णि वंशों के स्त्री-पुरुषों के रक्त से लिखा गया है। काल की गति कोई बाधा नहीं मानती—

न च दैव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिर काल नियन्तुमिति मे मतिः॥

कोई प्राणी कितना भी प्रयत्न करे दैव के मार्ग को रोक नहीं सकता। उसके आगे मनुष्य का प्रयत्न निष्फल है।

काल कभी एक जगह नहीं ठहरता। कहावत है—समय किसी के लिये नहीं रुकता। वह सतत प्रवाहशील है। मनुष्य के आचार-विचार, परिस्थितियां, सभ्यता और समाज, काल के साथ-साथ बदलते रहते हैं। काल के वेगशाली प्रवाह में कोई भी मत स्थिर नहीं रह सकता।

काल या समय है प्रवहमान। लोक-जीवन भी प्रवहवान है। वह भी कभी एक-सा नहीं रहता। मनुष्य आते हैं, मनुष्य जाते हैं। महान-पुरुष काल पर छाप छोड़ जाते हैं, काल लोक-जीवन पर अपनी छाप छोड़ता हुआ आगे बढ़ जाता है और लोक-जीवन को भी अपने साथ बहा ले जाता है। फलतः, लोकमत भी कभी निश्चित नहीं रहता। जो परिस्थितियाँ उसके निर्माण में भाग लेती हैं, वे बराबर बदलती रहती हैं। इसी से वह भी बदलता रहता है। कल राजतंत्र को महान समझा जाता था। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि था। आज प्रजातन्त्र का बोलबाला है। राजा का स्थान कहीं भी नहीं रहा। कल सभ्यता, साहित्य और संस्कृति जिन मापदंडों से नापी जाती थीं, वे आज पिछले बुर्जुआ (सामंती) युग की चीजें हैं। प्रत्येक युग अपने लिए नये आचार-विचार, नये विश्वास, नई धारणाएँ लेकर अवतीर्ण होता है। इन्हें ही हम लोकमत कहते हैं। कालांतर में यही जीर्ण हो जाते हैं। नया युग नये आचार-विचार, नये विश्वास, नई धारणाएँ लाता है। कालगति और लोकमत में यही सम्बन्ध है।

परन्तु इस कालगति और लोकमत के निर्माण में क्या मनुष्य का हाथ कुछ भी नहीं है? क्या हम कुछ नहीं करते, सब कुछ काल ही हमसे कराता है? क्या लोकमत की प्रतिष्ठा में व्यक्ति-विशेष का हाथ नहीं होता? यदि हम कुछ भी नहीं करते, यदि काल और लोकजीवन के वेगवान प्रवाह में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं तो यह बड़े दुःख की बात है। परन्तु महान पुरुष काल और लोक जीवन पर शासन करते हैं, यह भी निश्चित बात है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना, राजा ही काल को बनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥

यहाँ राजा का अर्थ महान व्यक्ति लिया जा सकता है। इस प्रकार काल भी महान व्यक्ति की इच्छा और निष्ठा के आगे झुक जाता है। काल और लोकमत की प्रवहमान गति में दुर्बल आत्माओं का कोई विशेष स्थान नहीं है, वे बह जाती हैं, धारा में उनके पैर उखड़ जाते हैं। परन्तु जो दुर्दमनीय इच्छाशक्ति-सम्पन्न हैं, जिनमें दृढ़ कर्मनिष्ठा है, वे काल की गति को मोड़ देते हैं और लोकमत को बदल देते हैं। व्यक्ति, काल और लोक-जीवन का यही सम्बन्ध है।

उदाहरण के लिए हम गाँधी जी को लेते हैं। गाँधी जी कालगति की उपज हैं परंतु आज वे लोकमत पर शासन कर रहे हैं, वास्तव में इस युग के लोकमत का निर्माण करने में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उनका हाथ अधिक है। गाँधी जी के प्रवेश से पहले भारत के राजनैतिक और सामाजिक वायुमंडल में प्राणवायु का लगभग अभाव था। थोड़े से अंग्रेजी पढ़े सज्जन कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में लिए हुये थे और मध्य वर्ग की बहुत थोड़ी जनता तक कांग्रेस की पहुँच थी। गाँधी जी के साथ साधारण जनता ने अपने स्थान को पहचान और कांग्रेस में प्रवेश किया जिससे दोनों की शक्तियाँ विकसित हुईं। स्वयम् गाँधी जी अंग्रेजी सभ्यता और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठतम विभूतियों के प्रतिनिधि हैं। जिस अहिंसा के संदेश को देश ने लोकमत के रूप में ग्रहण किया है, वह उनके लिये व्यक्तिगत साधना है।

६४. शिक्षा और जीवन

(१) भूमिका (२) शिक्षा का इतिहास (३) मध्ययुग में शिक्षा

का धर्म से विच्छेद (४) आज शिक्षा जीवन-यापन के ही लिये हो गई है (५) शिक्षा के तीन उद्देश्य—आचरण निर्माण, ज्ञान-साधन, जीविकोपार्जन (६) आधुनिक शिक्षा की आवाज है—"जीविकोपार्जन के लिये पढ़ो" (७) परिस्थिति की दैन्यता (८) प्राचीन शिक्षा में "ब्रह्मचारी" का आदर्श और नवीन शिक्षा का थोथा पंडित।

शिक्षा और जीवन का कोई-न-कोई संबंध सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, परंतु अब भी हमने इनके विषय में कोई सर्वमान्य सिद्धांत स्थिर नहीं कर सके हैं। शिक्षा और जीवन में किस प्रकार का संबंध हो, कितना संबंध हो ? प्राचीनों ने इस समस्या को समझा था, परंतु उनके सामने उस प्रकार की कठिन समस्याएँ नहीं थीं, जितनी हमारे सामने हैं। अतः उन्होंने समस्या को जिस प्रकार हल किया है, हमारे लिए यह उपादेय नहीं कि हम भी उसे उसी प्रकार हल करें।

पहले शिक्षा का रूप धार्मिक था। अर्थ-साधन से उसका कोई विशेष संबंध न था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन—इनका विषय धर्म और दर्शन है। साधारण मनुष्य को इन ग्रंथों का ज्ञान अप्राप्य था। उनके जीवन-यापन में इनसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती थी, हाँ धर्म-भावना के क्षेत्र में इन ग्रंथों की सामग्री से उनका परिचित होना आवश्यक था। इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि इन्हें स्वयम् पढ़े। अतः ब्राह्मण कवि की योजना हुई जो इन पुस्तकों की सामग्री को अक्षुण्य बनाये रखता इन्हें कंठस्थ करके और जनता तक पहुँचाता। धर्म-सम्बन्धी तर्क कुतर्क, अध्ययन-अध्यापन और तत्त्वचिंतन उसी तक सीमित। राजा जनक और विश्वमित्र जैसे क्षत्रिय भी इन पर अधिकार कर लेते थे, परन्तु तब वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाते थे। साधारण जनता की शिक्षा उन्हें लौकिक जीवन के लिए ही तैयार करती थी। पता नहीं, राज्य से इस प्रकार की शिक्षा की कोई

व्यवस्था होती थी या नहीं, परन्तु कदाचित् यह कलाकौशल-व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा पिता से पुत्र को मिलती थी या गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा। राज्य की ओर से इसकी व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण जीवन और शिक्षा में, जहाँ तक ब्राह्मणेतर वर्णों का सम्बन्ध था, कोई खाई नहीं थी। चरित्र-बल पर अधिक बल दिया जाता है, विशेष कर क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण में।

मध्ययुग में संसार भर में शिक्षा का धर्म से विच्छेद हो गया। सामन्ती राज्यों और साम्राज्यों का ऐश्वर्य शिखर पर था। काम चलाने के लिए नौकरी पेशा वर्ग की आवश्यकता पड़ती थी। धर्म का महत्त्व उतना अधिक नहीं रहा था जितना पहले था यद्यपि राज्य और धर्म का अभी सम्पूर्णतः अलगाव भी नहीं हुआ था। राज्य धर्म शिक्षा का प्रबन्ध करते थे और प्रोत्साहन देते। भारतवर्ष में मुसलमान राजाओं और सम्राटों में मुसलमान धर्म की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया, खानक़ाहों और मकतबों को आर्थिक चिन्ता से मुक्त किया, परन्तु हिन्दू धर्म की शिक्षा पंडितों, हिन्दू राजाओं के आश्रमों और काशी जैसे विद्या-केन्द्रों में दान के आश्रय में ही चलती रही। हिन्दू भी नौकरी के लिए फ़ारसी-अरबी पढ़ते थे। नौकरी ही जहाँ ध्येय हो, वहाँ शिक्षा से आचरण का कोई सम्बन्ध न होना चाहिए। यही हुआ। मध्ययुग में शिक्षा का सम्बन्ध रोटी से हो गया और चरित्र-निर्माण से दृष्टि हटा ली गई। नौकरी की चाह में ब्राह्मणों और कायस्थों के एक बड़े दल ने मुसलमान भाषा, साहित्य और संस्कृति से अपने आपको रंग लिया।

यह परिस्थिति बहुत कुछ अभी तक चली जा रही है। परन्तु भेद भी है। अब भी नौकरी के लिए ही शिक्षा चलती है, परन्तु कला-कौशल और व्यवसायों की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। कार्य-

विभाजन की जिस भावना पर वर्णाश्रम की संस्था टिकी हुई थी, उसका लोप हो चुका है। इसी से से कला-कौशल और व्यवसायों की शिक्षा सरकारी और अर्ध सरकारी हो गई है। शिक्षा में धर्म, संस्कृति और चरित्र-निमाण का कोई स्थान नहीं। ज्ञानप्राप्ति ही ध्येय हो। यह बात भी नहीं। थोड़ी शिक्षा का अन्त नौकरी है तो उच्च शिक्षा का ध्येय भी राजकर्मचारी, शिक्षक या डाक्टर पैदा करना ही है।

. साधारणत: शिक्षा के तीन उद्देश्य हो सकते हैं—आचरण-निर्माण, ज्ञानसाधन, जीविकोपार्जन। आज आचरण या चरित्र-निर्माण का शिक्षा में कोई स्थान नहीं; धर्म का शिक्षा से विच्छेद हो गया है और धार्मिक शिक्षा से ही चरित्र का निर्माण सम्भव था। इसीलिए अनेक शिक्षितों का यह प्रतिदिन का कार्य हो गया है कि दूसरों को छलें, आत्म-प्रताडन द्वारा प्रसन्न हों और दुराचार को विहित सिद्ध करें। शिक्षा और आचरण ने इस भेद ने अत्यन्त विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। ज्ञान-साधन के रूप में शिक्षा की प्राप्ति केवल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है, वह भी अर्थोपाजन से असंबंधित नहीं है। जितनी उच्चशिक्षा, जितनी अधिक ज्ञान-साधना, उतना अधिक रुपया मिलेगा। इस प्रकार ज्ञानशाधन में आदर्श वैश्य का रह गया है, नितान्त व्यवसायिक; ब्राह्मण का आदर्श आज ढूँढ़े नहीं मिलेगा। प्रधानता "जीविकोपार्जन के लिए पढ़ो" वर्ग की है। आज सारी शिक्षा व्यवस्था अर्थ की दौड़ रही है। उसका सीधा सम्बन्ध न आत्मा की पुष्टि से हैं, न देह की पुष्टि से न मन की पुष्टि से—रुपये और रुपये द्वारा खरीदे हुए सांसारिक सुखों और ऐश्चर्यों से है।

स्पष्ट है कि आज शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीविकोपार्जन से है परन्तु क्या जीविकोपार्जन ही जीवन है? शिक्षा-शास्त्रियों का वर्ग ऊँचे ऊँचे आदेश सामने रखता है—स्वस्थ, उन्नतमन; ज्ञानी,

चरित्रबल से युक्त नागरिक का निर्माण हमारी शिक्षा का ध्येय हो, परन्तु जब वह व्यवस्था करने लगता है तो हॉकी-क्रिकिट-टेनिस, पाठ्यपुस्तकों और परीक्षाओं तक ही बँध कर रह जाता है! आज जाना कठिन हो गया है। सब चीजें मँहगी है। नौकरी पर गुजारा करना होता है। अतः जीवन रोटी के युद्ध में ही कट जाता है। स्वास्थ्य, ज्ञानवृद्धि, और चरित्रबल की बात अकाशकुसुम की कल्पना के समान है! जब तक रोटी की समस्या का ठीक-ठीक हल नहीं हो जाता, जब तक राजनैतिक शक्तियाँ जनता के हाथ में नहीं आतीं, तब तक न अर्थ का समविभाजन संभव है, न रोटी की समस्या ही हल होती है। तब तक स्वस्थ, उन्नतमनः, ज्ञानी, चरित्रबल से युक्त नागरिक कल्पना के हिंडोल में ही झूलता रहेगा।

हमारे यहाँ जिस 'ब्रह्मचारी' की कल्पना हुई थी, उसे सत्य बनाया गया था। प्राचीन ब्रह्मचारी में चाहे नागरिक भाव उत्पन्न न हुए हों, परन्तु वह स्वस्थ, उन्नतमनः और चरित्र बल से बली होता था। यह तब सम्भव था जब उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए राज्य से प्रबन्ध होता था या गुरुकुल आश्रम में रह कर वह निःशुक्ल ही नहीं, भोजन की चिन्ता से भी मुक्त, ज्ञान और धर्माचरण की शिक्षा प्राप्त करता था। अब शिक्षा और पैसे का अटूर सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। शिक्षकों को प्रत्येक पहली को सौ, दो सौ, चार सौ, आठ सौ पाने से मतलब। विद्यार्थी स्वयम् तो किसी योग्य नहीं होता, उसके जननी-जनक को प्रत्येक पहली को आठ, दस, पन्द्रह रुपये शिक्षक के चरणों में "पत्र-पुष्प" के रूप में रख देना होते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी का यह व्यावसायिक सम्बन्ध शिक्षा-भवन तक ही बना रहा, सत्संग के और सब द्वार उसके लिये बंद है। गुरुपत्नी उसके लिये भोजन की थाली परोस कर नहीं बैठती। फलतः, विद्यार्थी शिक्षावन से

कोरा ज्ञान, ज्ञान भी कहा थोथा पांडित्य-प्रदर्शन मात्र लेकर लौटता है, आचरण सीखने का न उसे अवकाश होता है, न शिक्षक ही मिलते हैं। उच्च शिक्षा पाने के लिये जा युवक दूर दूर विश्वविद्यालयों में जाते हैं, वे अपने कुटुम्ब के नितप्रति के व्यवहारों को भूल जाते हैं और आचरण विषयक शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। इस वे समाज में रहते हुए भी प्रत्येक पीढ़ी में उससे दूर होते जाते हैं। हमारे प्राचीन-कवियों ने जिस ब्रह्मचर्य को तप माना है।

न तपस्तपइत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता-भवेद्यस्तु स देवो नतु मानुषः॥

और शिक्षा का केन्द्र बनाया है, उसका तो आज की शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं। आज की शिक्षा में केवल थोथी बुद्धि का पांडित्य प्रदर्शन है, न ज्ञान की गरिमा है, न आचरण की उज्ज्वलता, न आत्म-बल की प्रेरणा। आज जा शिक्षा हमें मिल रही है, उसे जीवन की शिक्षा से क्या सम्बन्ध ? वह तो किताबी शिक्षा है। किताबी शिक्षा प्राप्त युवक जब जीवन के सामने आता है तो अपने हथियार डाल देता और श्री ए० माधवैया के शब्दों में प्रार्थना करता है—

'हे ईश्वर ! हम तुझसे बुद्धि नहीं माँगते, क्योंकि तेरी दया से हमें बुद्धि मिली ही है। हमारी सब से बड़ी कमी है बुद्धि के अनुरूप काम करने की शक्ति का अभाव।

हे दयामय ! हमें कर्मवीर बना है, जिससे कि हम अपने सिद्धान्तों को काम में ला सकें।"

वास्तव में, जो शिक्षा हमें "कर्मवीर" नहीं बनाती, जीवन से लोहा लेने के लिए तैयार नहीं करती, जा हमें स्वप्नद्रष्टा, अकर्मण्य और अव्यवहारिक बना देती है, जिसके सहारे हम अपने पैरों

पर खड़ा नहीं हो सकते, वह शिक्षा और जो कुछ भी हैं सच्ची शिक्षा नहीं है।

६५. उपन्यास पाठ से हानि-लाभ

(१) मनोरंजन (२) जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति (३) आनन्द-मूलक साहित्य से ठोस हानि-लाभ की आशा नहीं की जानी चाहिये (४) उपन्यास-पाठ से कुछ अन्य लाभ—रसानुभूति, सहानुभूति का विस्तार, संवेदना का तीव्र और कोमल हो जाना, मानव-चरित्र का परिचय (५) उपन्यास-पाठ से हानियाँ—समय और शक्ति का दुरुपयोग, एक ऐसे वातावरण में रहने लगना जो जीवन से मेल नहीं खाता, अपरिपक्व भावुक हृदयों का चारित्रिक पतन संभव है (६) उपसंहार।

साधारणत: उपन्यास पढ़ने का उद्देश्य मनोरंजन होता है। "एक राजा था, एक रानी थी, वे नि:सन्तान थे"—दादी-नानी बच्चों की इस प्रकार की कहानियाँ सुनाई करती हैं। इनका उद्देश्य होता है कौतूहल की उत्पत्ति और फिर कुतूहली-वृत्ति की तृप्ति। जब कहानी शुरू कर दी जाती है तो सुनने वाला चाहे बच्चा हो या प्रौढ़, सुनाने वाले से यही आशा की जाती है कि वह बराबर घटनाओं की श्रृंखला बाँधता चलेगा। और सुनने वाले की कुतूहलवृत्ति को जाग्रत रखेगा। 'आगे क्या होता है, देखें !" कहानी सुनने वाला यही चाहता है। उसके लिए कब, क्यों, कैसे आते ही नहीं। इसी सतत जाग्रत जिज्ञासा और उसकी बराबर तृप्ति के कारण श्रोता का मन कहानी में लग जाता है। अत: मनोरंजन के मूल में श्रोता की "आगे क्या? फिर क्या है?" यह जिज्ञासावृत्ति ही है।

मनोरंजनकारी होना स्वत: एक बड़ा गुण है। जब हम दिन भर के परिश्रम से थक जाते हैं या किसी वैज्ञानिक वार्त्ता से

हमारा मन उचट जाता है तो हम उपन्यास उठाते हैं और उसे पढ़ डालते हैं। थोड़ी ही देर में हम तन्मयता से उपन्यास पढ़ने में लग जाते हैं और जब हम उपन्यास समाप्त कर चुकते हैं तो हममें नयी स्फूर्ति जागी मिलती है। ताश, शतरंज, केरम आदि कितने ही घरेलू मनोरंजन हैं। उपन्यास भी इसी श्रेणी की वस्तु है—कम-से-कम जहाँ तक मनोरंजन का प्रश्न है, वहाँ तक। उससे हमारी कुतूहलवृत्ति भी शान्ति पाती है।

परन्तु उपन्यास की मनोरंजकता को हानि-लाभ की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। शुद्ध हानि-लाभ की दृष्टि से विचार करें तो उपन्यास ही क्या समस्त आनन्दमूलक साहित्य तुच्छ निकलेगा। पंजाब में प्रेमचंद गये तो एक पंजाबी सज्जन ने उन्हें बताया कि उसने उनकी एक कहानी पढ़ कर, अपना आचरण उसके नायक के अनुकूल बनाकर, सहस्रों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, अपवाद हैं। उपन्यास या कहानी पढ़कर कोई बड़ा व्यवसायी नहीं हो जाता। उपन्यास या कविता के पाठ से लाभ ही क्या है? श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से मेघदूत पढ़ने से इतना ही लाभ हो जाता है कि हम निश्चयपूर्वक जान जाते हैं कि आषाढ़ का पहला दिन कालिदास के समय में ही निश्चित अवधि पर आता था। परन्तु यहाँ हमें इस तरह की उपयोगिता पर विचार नहीं करना है। हमें यह देखना है कि उपन्यास पाठ से पाठक की बुद्धि को क्या मिलता है, हृदय क्या पाता है। सब से पहला लाभ है रस की अनुभूति। उपन्यास के रसपूर्ण स्थल रसानुभूति प्रदान करने में उतने ही सफल होते हैं जितने महाकाव्य के रसपूर्ण प्रसंग। वह आनन्द जो हमें रस की अनुभूति से मिलता है मनोरंजन की श्रेणी का नहीं है—उसे "ब्रह्मानन्द सहोदर"

कहा गया है। दूसरा लाभ है सहानुभूति का विस्तार। उपन्यास में हम बहुत से ऐसे श्रेणी के लोगों से परिचित होते हैं जिनसे हम जीवन में परिचय प्राप्त नहीं करते। हम देखते हैं कि उनमें भी वही प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं जो हममें काम कर रही हैं। प्राचीन महाकाव्यों और नाटकों में राजा-महाराजा विषय बनाये जाते थे। ग्रीक नाटक में इन विशेष व्यक्तियों के जीवन को दुखान्त बनाकर जनता की संवेदना तीव्र की जाती थी। आज के उपन्यास और नाटकों के विषय हैं क्षुद्र, उपेक्षित ! उनका जीवन दुखान्त ही दिखाया जाय, इस पर भी कलाकार को कोई आग्रह नहीं है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में हमारी सहानुभूति अपने ही भाँति के दूसरे इतर वर्ग के प्राणियों को स्पर्श करती है। इससे यह लाभ होता है कि हमारी मनोवृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं और हम प्रतिदिन के जीवन में अधिक सहनशील हो जाते हैं। चौथा लाभ है कि उपन्यास के द्वारा हम मानव चरित्र से परिचित हो जाते हैं। प्रेमचन्द की दृष्टि में "मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" भावी उपन्यास की रूपरेखा का अनुमान लगाते हुए वे कहते हैं—"यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा चाहें किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाइ का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास हो।" इस प्रकार उपन्यास पढ़ कर हम मानव के मूल मनोविज्ञान, मनुष्य-मनुष्य की विभिन्नता और साम्य और उज्ज्वल चरित्रों के विश्लेषण से ही लाभ नहीं उठा सकेंगे, हमें उनसे वह बल, उत्साह, शिक्षा और समर्थन मिलेगा, जो जीवन-चरित्र पढ़ने से मिलता है।

उपन्यास पढ़ने से ही हानियाँ भी हैं परन्तु वास्तव में प्रत्येक

अच्छी वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है और हानि की आशंका हो सकती है। उपन्यास के विषय में भी यही बात लागू है। सच तो यह है कि ऊँचे दरजे के उपन्यास पढ़ने से कोई भी हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है। हानि का प्रश्न उसी समय उठता है जब दूसरी और तीसरी श्रेणी के उपन्यासों के पठन-पाठन की बात आती है। सबसे बड़ी हानि है कि पाठक एक ऐसे वातावरण में रहने लगता है जो जीवन से मेल नहीं खाता और जहाँ जीवन में उसे उपन्यास में पढ़ी बातों के विरुद्ध अनुभव हुए, वह एकदम हताश हो जाता है। संतोष का विषय है कि आज का उपन्यासकार जीवन के अधिक निकट आ गया है। वह सब कल्पना ही नहीं लिखता। ऐयारी, तिलिस्मी, जासूसी उपन्यासों का चक्र चला गया। अब भी ऐसे उपन्यास पढ़े जाते हैं; परन्तु मनोरंजन को छोड़ कर उनसे कोई लाभ ही नहीं हैं। कभी-कभी ऐसे कुतूहल-मूलक घटना-वैचित्र्य प्रधान उपन्यासों के पढ़ने की चाट लग जाती है। यह निःसन्देह हानि-कारक है। इसमें समय का अपव्यय और शुक्तियाँ का ह्रास अवश्यभावी है। उपन्यास जीवन का चित्र है उसका प्रभाव पाठक के हृदय पर सीधा पड़ता है। अतः, उपन्यासों के चुनाव के सम्बन्ध में भी सतर्क रहना चाहिये। कच्ची आयु के युवती-युवक ऐसे उपन्यास पढ़ सकते हैं जो उन्हें नाश के पथ पर बढ़ा दें, उनकी वासनाओं को प्रदीप्त कर दें अथवा उनमें रोमांस की प्रवृत्ति जगा दें। जीवन में विलास भी है, वासना भी है, रोमांस भी है। उपन्यासकार से हम यह नहीं कह सकते कि वह नैतिकता को ओढ़ कर जीवन के इन अंगों का तिलांजलि ही दे दें। परन्तु यह भी सत्य है कि कभी-कभी ऐसे उपन्यास ऐसे बालकों के हाथ में पड़ जाते हैं जिनके संस्कार अभी बन नहीं पाये हैं और जिनकी बुद्धि परिष्कृत नहीं है। फल यह होता है

कि वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं अथवा अकाल-परिपक्व होकर नाश को प्राप्त होते हैं। यह अभिभावकों का काम है कि वह अपने बालकों के लिए उपयुक्त उपन्यास चुन लें। यहाँ दोष उपन्यास का नहीं, दोष चुनाव का है।

हमारे समाज में उपन्यास-कहानी की उपयोगिता अब भी स्वीकृत नहीं हुई है। अच्छे उपन्यास की सबसे बड़ी सार्थकता यही समझी जाती है कि वह पाठ्य-पुस्तक बन जाये। छोटी कक्षाओं में तो उपन्यास का पठन-पाठन होता ही नहीं, बड़ी कक्षाओं में भी विद्यार्थी का अध्ययन एक दो उपन्यासों से बाहर नहीं जा पाता। घर में अभिभावक लोग उपन्यास देख कर इस प्रकार चौंकते हैं जैसे बिच्छू ने काट लिया। कारण यह है कि वे स्वयम् ऊँची श्रेणी के उपन्यास साहित्य से परिचित नहीं है और "किस्सा साढ़े तीनयार" और "सिंहासन बत्तीसी" के युग में पल कर आधुनिक उपन्यास की सार्थकता—विशेष कर जहाँ तक उनके बालकों का सम्बन्ध है—उनकी समझ में किसी भी प्रकार नहीं आती। फलस्वरूप बालक मनोरंजक के लिए ऐसे उपन्यास पर हाथ डालता है जिसके विषय के सम्बन्ध में उसे पता नहीं। वह उसे अपने अभिभावक से चुरा कर पढ़ता है और बिगड़ता है। इस बात में भी बहुत कुछ सत्य है कि हमारी अपनी भाषा में ऐसे उपन्यास ही बहुत कम हैं जो बालकों को दिये जा सके। जो हो, परिस्थिति को सँभालना होगा। अभिभावकों को उपन्यास की उपादेयता स्वीकार करनी होगी और अच्छे उपन्यासों को चुन कर उन्हें बालकों को देना होगा जिससे उनके समय और शक्ति का अनुचित व्यय न हो।

६६. पुस्तकों का आनन्द

(१) भूमिका (२) पुस्तकों के आनन्द को हम "पुस्तक रस"

कह सकते हैं (३) पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्ति ("दर्शन") का आनन्द (४) पुस्तकों द्वारा विभिन्न प्रकार का रसानुभूति की प्राप्ति (५) रसधर्मी साहित्य में ज्ञानमूलक आनन्द—वाल्मीकि के ग्रंथ का उदाहरण (६) पुस्तकों के आनन्द का वर्गीकरण और उपसंहार।

पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो "आनन्द देने वाली पुस्तकों" से उपन्यास, कथा-कहानी, यात्रा-चमत्कार से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें समझ लेगा, और कहेगा—"इसमें झूठ क्या है। पुस्तकों से बड़ा आनन्द मिलता है। हमने चंद्रकांता पढ़ी, भूतनाथ पढ़ा। कैसा जी लगता था। वाह!" उसकी पुस्तक-सम्बन्धी धारणा कथा-कहानियों तक ही चक्कर लगा पाती है। परन्तु किस्से-कहानियाँ पुस्तक भांडार का केवल एक भाग मात्र हैं।

सच तो यह है कि कितने ही मनुष्यों को चन्द्रकान्ता और भूतनाथ में कोई रस नहीं मिलता, परन्तु रामायण, महाभारत या लीलावती में वह इस प्रकार लग जाते हैं जैसे इनमें उन्हें बड़ा आनन्द आ रहा हो। इसलिए यह स्पष्ट है कि पुस्तकों का आनन्द कथा-कहानी तक ही सीमित नहीं है। वह व्यापक वस्तु है। यदि हम स्वतंत्र होते तो यह कह सकते थे कि इस व्यापक वस्तु को हम रसश्रेणी में रखेंगे और "पुस्तक रस" कह कर पुकारेंगे। यही रस साहित्य के नव रसों से पहले आयेगा क्योंकि इसके बिना तो उन नौ रसों तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। साहित्य के सब रस पुस्तक रस के बाद आते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमने पुस्तकों के आनन्द को अब तक कोई नाम दिया, इससे हमारी अकृतज्ञता ही सूचित होती है, परन्तु नाम हो या नहीं हो, पुस्तकों का आनन्द नूतन वस्तु नहीं है। हमारे पूर्वज उससे भली भाँति परिचित थे, साक्षी वे वृहद हस्तप्रतियाँ है जो ताड़पात्रों पर बड़े परिश्रम से लिखी गई हैं। ईसा से तीन सहस्र वर्ष पहले का जो साहित्य हमारे सामने

आज भी उपस्थित है, उसके मूल में यही पुस्तकों का आनन्द है। "पुस्तकें" क्या हैं ? लिपिबद्ध ज्ञान या रसानुभूति। यह ज्ञान और रसानुभूति लिपिवद्ध न होकर कंठगत भी हो सकती थी। सहस्रों वर्षों तक वह इसी रूप में रही। अंत में ताम्रपत्र, तालपत्र या ताड़पत्र पर हमारे सामने आई। अब पुरानी पोथियों के रूप में हमारे पास हैं। आज तो मुद्रणयंत्र के अविष्कार के कारण नितप्रति सहस्र-सहस्र पुस्तकें हमारे सामने आती हैं और खप भी जाती हैं। लोग खरीदते हैं। पढ़ते हैं। आनन्द लेते हैं।

मनुष्य की एक मौलिक वृति, अभिन्न वृति है विज्ञासा। इस विज्ञासा के फलस्वरूप वह जानना चाहता है। जब वह उस चीज़ को जान लेता है जिसे पहले नहीं जानता था तो तृप्ति का आनन्द भी उसे मिलता है—ज्ञानप्राप्ति का आनन्द। दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष आदि की पुस्तकों के अध्ययन के पीछे इसी ज्ञान-प्राप्ति के आनन्द का बल है। यह "दर्शन" का आनन्द है। वाजश्रवा ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। पुत्र नचिकेता ने पूछा—पितः, मुझे किसे दे रहे हो। उसके बारबार पूछने पर पिता ने चिढ़ कर कहा—मैं तुम्हें यम को दे रहा हूँ। नचिकेता यम के पास चला गया। यम से उसने ब्रह्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह से फुसलाया। उसके उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये, परन्तु निचकेता अटल रहा, पूछता रहा—मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षण-भंगुर है या नित्य तत्त्व वाला है ? "नान्यो-वरत्तुल्य एतस्य कश्चित् (यही बताओ, यह बर सर्वातीत है)। जो दर्शन, विज्ञान और शास्त्रों के अध्ययन में आनन्द लेते हैं, उन्हें जिज्ञासा की तृप्ति के रूप में यही बरदान मिलता है।

परन्तु ज्ञान ही सब कुछ नहीं है, जीवन में अनुभूति का भी

स्थान है। पुस्तकों का एक वर्ग रसानुभूति प्रदान करता है। साहित्य, ·काव्य, नाटक, कथोपकथन, उपन्यास, कहानी—ये रसानुभूति के विभिन्न रूप हैं। पुस्तकों का यह वर्ग आनन्द के लिए ही पढ़ा जाता है, ज्ञान अपेक्षित नहीं है। इसके लिए आचार्यों ने नवरस और रसराज शृंगार की व्यवस्था की है। हम तटस्थ भाव से पात्रों में उन सब रसों की उपस्थिति देखते हैं जो हमारे अनुभूत हैं और हम उन्हें आनन्द के रूप में ग्रहण करते हैं। जहाँ पात्र नहीं हैं, जैसे गीतिकाव्य में वहाँ लेखक ही पात्र है या पाठक ही पात्र है क्योंकि वहाँ साधारणीकरण के नियम द्वारा पाठक और पाठ्य अभिन्न हो जाते हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि रसधर्मी ग्रंथों में ज्ञानमूलक आनन्द एकदम नहीं मिलता है जो ज्ञानधर्मी ग्रंथों का विषय है। बाल्मीकि रामायण की ही बात लीजिये। परन्तु उसमें महान पात्रों के जीवन के परिचय का भी आनन्द मिलेगा जिससे पाठक क्षण भर के लिये उस वातावरण से कहीं ऊँचा उठ जायगा जिसमें वह स्वयम् घिरा हुआ है। यही नहीं, उसे धर्म की उस अत्यन्त ऊँची भूमि से परिचित होने का आनन्द भी मिलेगा जिस पर बाल्मीकि ने कथा को प्रतिष्ठित किया है। रामायण प्रारम्भ में बाल्मीकि पूछते हैं—चारित्र्येण च को युक्तः (चरित्र से युक्त कौन है ?') उत्तर मिलता है—राम (रामो विग्रहवान् धर्मः) जिनके सम्बन्ध में बाल्मीकि ने ही लिखा है—

यथामृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन च ॥

धर्म की उच्चतम भूमि पर उठकर इस महान चरित्र से परिचिता होना भी आनन्द है। तुलसी के रामचरितमानस में रामधर्म य रामभक्ति का ही आनन्द लिया जा सकता है कथा-संगठन का

अपना स्वतः ही आनन्द है जो निश्चय ही बौद्धिक है। प्रेमचंद या गोर्की के उपन्यासों में एक अत्यन्त परिचित जीवन से पुनः परिचित होने का आनन्द मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुस्तकों का आनन्द मुख्यतः दो प्रकार का है—ज्ञानमूलक आनन्द, रसानुभूतिमूलक आनन्द। किसी पुस्तक में इनमें से कोई एक है, किसी में दोनों का मिश्रण है। कहीं ज्ञानमूलक आनन्द की मात्रा अधिक है, कहीं रसानुभूतिमूलक आनन्द की मात्रा अधिक है। उपयोगी साहित्य में ज्ञानमूलक आनन्द की प्रधानता है, शुद्ध साहित्य में रसानुभूतिमूलक आनन्द की। परन्तु सम्प्रति अनेक वैज्ञानिक पुस्तकें ऐसी लिखी गई हैं जिन्हें पढ़ने से "रोमांच" का आनन्द मिलता है। हमारे ऋषियों ने भी ज्ञान को रससिक्त करके ही जनता के सामने रखा था। संसार की अव्यक्त, अनिर्वचनीय मूलसत्ता को आज का विज्ञान स्वीकार करता है, उसी को भारतीय दर्शन शास्त्र में "अश्वत्थ" की कल्पना से सुगम कर लिया गया है—

> अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने;
> षटकंध शाखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने।
> फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे,
> पल्लवत फूलत नवल नित संसार-विटप नमामहे।

इस प्रकार ज्ञान को रससिक्त करने और मन के साथ-साथ हृदय को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न बराबर चला आया है। इसी तरह रसधर्मी ग्रंथों में बौद्धिक तत्त्व की मात्रा कम-अधिक रहती ही है।

इन दोनों प्रकार के आनन्दों में भी एकता ढूँढ़ी जा सकती है। उपनिषद में कहा है—यो वै भूमा तत सुखम् नाल्पे सुखमास्ति (भूमा में सुख है; थोड़े भी सुख नहीं है)। आनन्दधर्मी साहित्य

के मूल में यही भूमा भाव है। उससे मस्तिष्क या हृदय का विस्तार होता है। मस्तिष्क का विषय है ज्ञान, हृदय का विषय है रस। वैज्ञानिक साहित्य से ज्ञान की वृद्धि होती है, प्रज्ञा को विस्तार मिलता है। हृदयधर्मी साहित्य में सहानुभूति का विस्तार होता है। दोनों के मूल में एक ही भाव है जो आनन्द का कारण है। हम अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर दूसरी वस्तु से परिचय प्राप्त करते हैं और उससे हृदय-मन का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

६७. आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान का प्रभाव

(१) "आधुनिक सभ्यता" का अर्थ क्या है?—यूरोपीय सभ्यता (२) पश्चिमी सभ्यता की विशेषता—ऐहिकता की प्रधानता। आधुनिक विज्ञान इसी सभ्यता की देन है, अतः उसने भौतिक सुविधाओं की ही वृद्धि की है (३) विज्ञान ने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल की उपेक्षा की है फलतः हमारे हृदय और मन की शक्तियों का विकास ही नहीं हुआ है (४) नैतिकता, सहृदयता और मानवता के ह्रास से भयंकर असंतोष का जन्म (५) "भस्मासुर" और विज्ञान (६) आज विज्ञान सभ्यता का गला घोट रहा है (७) उपसंहार।

सभ्यता का देश, काल और संस्कृति से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है, अतः देश, काल और संस्कृति की परम्परा से परे किसी भी एक सार्वभौमिक सभ्यता की बात ही भूल है। आज हमारे संसार में कितने ही प्रकार की सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न देशों में चल रही हैं। एक देश में भी कहीं-कहीं कई सभ्यताएँ हैं, आहार-विहार, पारस्परिक व्यवहार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण के कई ऊँचे-नीचे धरातल हैं। इसलिए एक बचन में आधुनिक सभ्यता का कोई अर्थ नहीं होता। भूलवश या प्रमादवश

योरीपीय सभ्यता को ही आधुनिक सभ्यता कह दिया जाता है। आज संसार के एक बहुत बड़े भूभाग पर योरोपीय जाति के लोग शासक के रूप में इस सभ्यता का झंडा ऊँचा उठाये हुए हैं। जहाँ-जहाँ वे गए हैं, वहाँ-वहाँ की सभ्यताओं को इस नई सभ्यता से मुड़भेड़ ले पड़ी है, अंत में शासितों की पराजित भावना के कारण इस विदेशी सभ्यता की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया है और शासितों का एक वर्ग इसे ही अपनी सभ्यता मान कर अपनी धरोहर समझ रहा है।

इस पश्चिमी सभ्यता की मूल बात है ऐहिकता की प्रधानता। यहाँ परलोक की ओर दृष्टि नहीं है, इसी लोक से जो सध सके वह साधा जाये। धर्म को जीवन-व्यवहार से अलग रखा जाता है। इसी से कलाओं के प्रति इस सभ्यता का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सौन्दर्य-मूलक है। पिछले १५०-२०० वर्षों में इसने विज्ञान का सहारा लेकर, नवीन-नवीन आविष्कारों के बल पर मनुष्य के ऐहिक सुखों के साधनों में वृद्धि की हैं और उन्हें लोक-सुलभ कर दिया है। इन वर्षों में आविष्कारों की संख्या प्रति वर्ष शतशः रही है। इनके द्वारा जीवन-यापन के नए ढंग खुले, आहार-विहार के नए मार्ग मिले, यातायात और आवागमन में अत्यन्त चमत्कारिक सुविधा हुई। यदि पूर्वपुरातन काल के महर्षि नारद एक बार पर्यटन करते हुए फिर इस भगवती बसुन्धरा पर उतर आयें तो आज के नगरों की चहल-पहल को राक्षसों का मायाजाल समझें। विज्ञान ने महान् अवकाश को रेलों, तारों, हवाई जहाजों और पानी में चलने वाले स्टीमरों के द्वारा बाँध दिया है और समय (काल) पर नियंत्रण किया है। आज देश-देश एक सूत्र से मिल गये हैं। मनुष्य के जीवन के वर्ष तो नहीं बढ़ पाये हैं, परन्तु सुविधा मिले, तो वह उतना काम कर सकता है जितना विज्ञान-पूर्व

संसार का मनुष्य अपने दस जीवनों में भी न कर पाता। विज्ञान ने मनुष्य की भौतिक, आधिभौतिक और दैहिक दुःख-शृंखला को बहुत कुछ शिथिल कर दिया है और सम्भव है कि भविष्य में कभी वह समय आये जब न रोग-शोक के कहीं दर्शन हों, न अकाल मृत्यु के। पश्चिमी सभ्यता इस सब के लिये हमारे धन्यवाद की पात्र है। पिछली ही शताब्दी की साधना ने मनुष्य को बीसियों शताब्दियों आगे बढ़ाया है—यदि आगे बढ़ना यही है कि भौतिक सुखों और सुविधाओं के अधिकाधिक साधन इकट्ठे हो जायें। उसकी नियत पर भी संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उसने इन आविष्कारों के फल को सर्वसुलभ कर दिया है, किसी एक वर्ग के हाथ में ये उनके ही होकर नहीं रह गए।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, पश्चिमी सभ्यता की मूल बात है ऐहिकता। इसीसे ऐहिक सुख की साधना के लिए ही विज्ञान का प्रयोग किया गया। ऊँचे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल को ऊसर ही छोड़ दिया गया। फल यह हुआ कि भौतिक सुविधाएँ तो आज हमें इतनी प्राप्त हैं कि हम देवता हैं, परन्तु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल में राक्षसों के समकक्ष। बाहर से देवता, भीतर से राक्षस। देह की साधना और बुद्धि के कौशल ने हृदय और आत्मा को पंगु कर दिया है। हम जिस तेज़ी से विज्ञान के संसार में बढ़े, उस तेज़ी से न हमारी भावनाएँ परिष्कृत हुई, न आध्यात्मिक गुणों का विकास हुआ। फल जो है, वह हम आज के विश्वव्यापी महाभारत के रूप में देख ही चुके हैं।

आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान ने जो प्रभाव डाला है वह भौतिक सुविधाओं और सुखों तक ही सीमित है। मनुष्य प्रकृति पर विजयी हुआ है। अब वह तत्त्वों से सफलतापूर्वक लड़

सकता है। आज आधुनिक सभ्यता में पला हुआ मनुष्य अच्छा खा सकता है, अच्छा पहन सकता है। उसे हमारे पूर्वजों से कहीं अधिक आराम है। परन्तु साथ ही नैतिकता का ह्रास हुआ है, मनुष्य-जीवन की महानता की बात उड़ गई है, भयंकर वैज्ञानिक शस्त्रों की सहायता क्षण भर भी अश्रुत संहार का ताण्डव नृत्य हो सकता है और उनका प्रयोग करने वाला निर्द्वन्द्भाव से इस संहार को देख सकता है। जिन महावैज्ञानिकों के हाथ में नये आविष्कार पड़े उनके लिए मनुष्य-जीवन की अमूल्यता का कोई प्रश्न ही नहीं था, वे पश्चिमी सभ्यता की ही उपज थे जहाँ लौकिकता, दैनिक जीवन के संघर्ष, राष्ट्रीय और जातीय स्वार्थों का बोलबाला था। उन्होंने भयंकर हथियारों से अपने राष्ट्रों को सुसज्जित किया और उनके सहारे वे राष्ट्र दिग्विजय को निकल पड़े। कल तक उन्होंने यश, धन, आत्मतृप्ति सब कमाए। आज विज्ञान उनके हाथ से निकल गया है। वह अब सेवक नहीं, स्वामी है। वह नाश की ओर बढ़ रहा है। विज्ञान ने जिस सभ्यता को चमकाया, वह आज संकट में है। डुबकी मारने वाले बमबाज़, लड़ने वाले बमबाज़, बम, तोपें, ज़हरीली गैसें, पनडुब्बियें—इनके सामने आज सभ्य मनुष्य बेबस खड़ा है। भस्मासुर ने सहस्रों वर्षों तक तप किया। भोलानाथ भगवान शंकर ने प्रकट होकर कहा—वर माँग! उसने कहा—देवादि देव महादेव, मुझे यह वरदान दो कि मैं जिसके सिर पर हाथ धर दूँ, वह भस्म हो जाय। शंकर ने कहा—एवमस्तु! भस्मासुर उनके वरदान की सत्यता की परीक्षा करने के लिए उन्हीं की ओर दौड़ा। सहज प्रसन्न होने वाले भगवान आशुतोष ने बड़ी दौड़-धूप के बाद जान बचाई। आज विज्ञान भस्मासुर बन गया है। आधुनिक सभ्यता की कड़ी परीक्षा हो रही है।

पिछले दो दशाब्दों में विज्ञान की उन्नति ने आधुनिक सभ्यता को एकदम बर्बरता की ओर ढकेल दिया है। फल यह है कि आज हम प्रागैतिहासिक काल के जङ्गलियों की तरह गुफ़ाओं में रहने लगे हैं। हमने विज्ञान के श्रेष्ठतम आविष्कार (विद्युत) के होते हुए भी बमों के भय से अंधकार में रहना स्वीकार कर लिया। जिन चाँदनी रातों की प्रशंसा में कवियों और ऋषियों ने ग्रन्थ भर दिये हैं, वे आज हमें मृत्यु की संदेशवाहिका जान पड़ती हैं—शत्रु के बमबाज़ चाँदनी में अच्छा निशाना लगाते हैं। आज विज्ञान सभ्यता का गला घोट रहा है।

विज्ञान ने मनुष्यता के विकास को धक्का पहुँचाया है। अब समय आ गया है कि आधुनिक सभ्यता कह दे—इतना विज्ञान, और नहीं चाहिए। इतना विज्ञान रहे। इतना नष्ट हो जाये। आज विज्ञान और सभ्यता में जीवन के लिए दौड़ चल रही है। यदि विज्ञान विजयी हुआ तो सभ्यता का कोई ठिकाना नहीं। या तो सर्वनाश निश्चित है, या मनुष्य वर्वरों की तरह, इतिहास-पूर्व पुरुष की तरह खाइयाँ खोदकर, गुफाएँ बनाकर, निरंतर अंधकार में रहेगा। सभ्यता की उन्नति का अर्थ होना चाहिए पारस्परिक सहयोग की भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि, मानव-जीवन की श्रेष्ठता की स्वीकृति। वह तो हृदय की साधना है। विज्ञान में है केवल बुद्धि की साधना जो अंततः केवल स्वार्थ-साधना तक सीमित रह जाती है। जिस सभ्यता का केवल यही आदर्श रहा हो कि वहाँ केवल प्रकृति पर विजय प्राप्त हो, हृदय लुंठित पड़ा रहे, उस सभ्यता का अन्त पाशविकता में होगा, यह निश्चित है। आज मनुष्य भी अपनी बुद्धि की उपज मशीन की तरह एक मशीन मात्र रह गया है, आत्मा का तो नाम मत लीजिए, हृदय का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। योरोप के प्रसिद्ध विचारक श्री एच-जी-वेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Fate

of the Homo-Sapiens' में चेतावनी दी है। यदि मानवता की रक्षा करनी है तो बुद्धि, हृदय और मन का संतुलन चाहिए। आधुनिक सभ्यता का विकास एकांगी है। विज्ञान के प्रभाव में आकर उसने बुद्धि को पकड़ लिया, हृदय और मन की साधना को तिरस्कृत किया।

६८. भारत की आर्थिक उन्नति में कलों की उपयोगिता

(१) "कलों" सम्बन्धी दो विचार-धाराएँ (२) कलों-द्वारा उद्योगीकरण के बिना आर्थिक परतंत्रता (३) दूसरे देशों की बनी हुई चीज़ों के खरीदने से राष्ट्रीय धन और सम्मान की हानि (४) आर्थिक स्वतन्त्रताकी ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता जननी है, अतः राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के लिए "कलों" को अपनाने की आवश्यकता (५) कलों से कुछ हानि—व्यवसाय का केन्द्रीकरण, अनैतिकता का जन्म, बेकारी की वृद्धि, हस्तकौशल का नाश, जनता की प्रतिरोधशक्ति का ह्रास (६) केन्द्रीय उद्योगधन्धों (कलों) और घरेलू उद्योगधन्धों में पटरी बैठा सकने की संभावना (७) उपसंहार।

सम्प्रति हमारे देश में दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक विचारधारा कलों को एकदम अनुपयोगी समझती है, कम-से-कम यह नहीं चाहती है कि बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हों, उद्योग-धंधों के क्षेत्रों में मनुष्य का स्थान मशीनें ले लें, और व्यवसाय तथा उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण हो जाये। वह कहती है—भारतवर्ष ग्रामजीवी है। उसमें दरिद्रता का राज है। उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण से सहस्रों-मनुष्य जो अपनी जीविका छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों से चलाते हैं बेकार हो जायेंगे। वह देख रही है कि बड़ी-बड़ी कलों के कारण ही नगर सभ्यता के केन्द्र बन गये हैं परन्तु वे धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति की जड़ें खोखली कर रहे हैं। इसीसे वह प्राचीन भारत के गाँवों की संस्था को आदर्श समझ कर चलती है। दूसरी विचार-धारा पश्चिमी सभ्यता के

औद्योगिक आक्रमण से मोरचा लेना चाहती है। वह चाहती है कि अन्य राष्ट्रों की तरह हमारे यहाँ के जन-समाज के रहन-सहन के ढंग ऊँचे धरातल पर उठ जायें। उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में प्रत्येक देश को आत्म-निर्भर रहना आवश्यक है—नहीं तो, अन्य राष्ट्र उसे पंगु कर देंगी और समय आने वाले पर अर्थ-शास्त्र राजनीति शास्त्र का स्थान ले लेगा। उद्योग-धंधों के केन्द्रीकरण के बिना देश की आर्थिक शक्ति का प्रकाशन एवं नियमन असम्भव है।

सच तो यह है कि आज के वैज्ञानिक आविष्कारों के युग के कलों को अस्वीकार करना जैसे आत्महत्या करना है। हमारा देश कृषिव्यवसायी देश है, परन्तु कलों के समुचित उपयोग के बिना हमारा कितना ही कच्चा माल बाहर के देशों में चला जाता है जहाँ से पक्के माल के रूप में मँहगा होकर फिर हमारे द्वार पर लौटता है। यह परिस्थिति सचमुच ह्रासजनक है। इससे राष्ट्र के धन और शक्ति का अपव्यय होना नितांत आवश्यक बात हो जाती है। यदि किसी कारण से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दता बढ़ जाये या बाहर के राष्ट्र कच्चे माल को लेना अस्वीकार कर दें तो देश हाथ-हाथ रख कर बैठ जायगा।

दूसरी बात यह है कि कलों के द्वारा वस्तु का मूल कई गुना बढ़ जाता है। इससे राष्ट्रीय धन की हानि होती है जिस धन को भारतवर्ष में रहना होता—भले वह भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में रहता—वह धन विदेश के पूँजीपतियों के हाथ में चला जाता है और देश प्रतिवर्ष पिछले वर्ष से अधिक ग़रीब होता जाता है। राष्ट्रीय धन पर ही उसकी सेनाओं का विस्तार और आत्मरक्षा के साधनों की कमी-बेशी निर्भर होती है। इससे वे राष्ट्र जो कलों का उपयोग प्रचुर मात्रा में नहीं करते कालांतर में शोषित राष्ट्र हो जाते हैं और उनके धन से खड़ी की हुई विदेशी कल-

जीवी राष्ट्र की सेनाएँ उन्हें गुलाम बना लेती हैं। आज संसार में जो राजनैतिक उत्पात मचे हैं, उनके मूल में कलों का असंतुलित प्रयोग ही है। कृषि-जीवी देशों की लाश पर ही कल-जीवी राष्ट्रों के गिद्ध मँडरा रहे हैं और परस्पर रक्तपात की होली खेल रहे हैं।

जिन लोगों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रश्न का गहरा अध्ययन किया है उनका कहना है कि वास्तव में आर्थिक स्वतंत्रता ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता की जननी है। यह नितांत सत्य है कि प्रकृति ने प्राकृतिक धन का वितरण सब राष्ट्रों के लिए समान नहीं किया। इसीलिए यह भी सच है कि किसी छोटी मात्रा में प्रत्येक राष्ट्र को अवश्य ही किसी दूसरे राष्ट्र का मुख जोहना पड़ेगा। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि प्रतिदिन की आर्थिक व्यवस्था अपने हाथ में ही रहे, जहाँ तक हो सके राष्ट्र अपने ही पैरों पर खड़ा हो। इसे ही अंग्रेज़ी परिभाषा में "Policy of Economic Self-Sufficiency" (आर्थिक आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त) कहते हैं। एक समय था जब यातायात के साधन दुर्गम थे, मँहगे थे और रहन-सहन का ढंग सरल था। इससे नागरिकों की आवश्यकतायें भी कम थीं। प्रत्येक देश स्वयम् ही उन आवश्यकताओं को पूरा कर लेता है। दूसरा मार्ग ही न था। हमारे देश में प्रत्येक गाँव स्वतः एक आर्थिक इकाई होता था। विदेशी देशों में केवल हाथीदाँत, सोने, हीरे, ग़ुलामों आदि का व्यापार होता था जिनके गढ़ने के लिए कलों की आवश्यकता नहीं होती थी। धीरे-धीरे कलों ने जन्म लिया। वैज्ञानिक आविष्कारों ने कलों की उत्पादन-शक्ति और कलों से बनी हुई चीज़ की सुघड़ता और सस्तेपन को निरंतर विकसित किया। उन्हें दूर-दूर देशों में खपाया गया। राष्ट्रीय कला-कौशल नष्ट हो गये। देशी-विदेशी मशीनों से बनी चीज़ों ने उनका स्थान ले

लिया। अब जीवन एक अत्यन्त उलझी समस्या बन गया है। प्रतिदिन की आवश्यकताएँ कई गुनी बढ़ गई हैं। पहले तो आराम की चीजें ही आयात-निर्यात की सूची में आती थीं। अब प्रतिदिन की कितनी ही आवश्यक चीजों के लिये एक देश दूसरे देश का मुहताज है। कितने ही देश हैं जिनके व्यवसाय पेट्रोल पर खड़े हुए हैं, परन्तु उनमें पेट्रोल की एक बूँद भी नहीं निकलती। कितने ही देश खाद्य पदार्थ बहुतायत से पैदा करते हैं, परन्तु प्रतिदिन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशों के मुहताज हैं। अभी कुछ समय पहले तक हम स्वयम् कपड़े के लिए लंकाशायर का मुँह ताकते थे। आज कलों के वरदान से हमारे कपड़े के उद्योग-धंधे अत्यन्त दृढ़ हैं। हम पड़ोसी देशों के तन ढकने का दम भरते हैं।

इन तर्कों के बल पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारत की उन्नति के लिए आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये कलों की आवश्यकता है। हम यह जानते हैं कि कलों के दुरुपयोग का भी भय है। वह भय तीन प्रकार का है :

(१) हम कलों के द्वारा उत्पादन की व्यवस्था करके सहस्रों-सहस्रों लोगों को काम से वंचित रखते हैं। इससे राष्ट्र की शक्ति का ह्रास और अन्ततः आर्थिक हानि की भी सम्भावना है क्योंकि निर्धनों और बेकारों में मशीन से बने माल को खरीदने की शक्ति ही नहीं होती।

(२) हम कलों का इस प्रकार दुरुपयोग कर सकते हैं कि हम स्वयम् अन्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए भयावह हो उठे। पश्चिम के राष्ट्रों में यही तो हुआ है।

(३) उद्योग-धंधों को केन्द्रीकरण करने से कुछ दुर्बलताएँ भी आ जाती हैं। आज के सामरिक साधन अनंत हैं। उद्योग-

धन्धों के केन्द्रों को सहज ही नष्ट किया जा सकेगा और इससे राष्ट्र का अर्थनीति का महल एकदम भूशायी हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में प्रबल शत्रु से अंत तक मोरचा लेना कठिन ही नहीं, असम्भव होता। अब अपने घरेलू धन्धों के बल पर ही चीन ५ वर्ष तक जापान के बम बाजों के नीचे उन्नतशिर खड़ा रह सका है। कितने हो देश सोच रहे हैं कि उद्योग-धन्धों को शत-प्रतिशत नगरों तक केन्द्रित करना अच्छा नहीं हुआ। उससे जनता की प्रतिरोध-शक्ति का ह्रास हुआ है।

हम मानते हैं कि ये अच्छी चेतावनियाँ हैं परन्तु कलों को स्वीकार करते हुए भी इन कठिनाइयों का सामना किया जा सकता है जो इन प्रश्नों पर खड़ी हुई हैं। हम आत्मसंयम के नियम का पालन करते हुए उत्पादन को अपनी आवश्यकताओं तक ही सीमित क्यों न रखें? हम काम के घंटे इतने कम क्यों न रखें कि अधिक मनुष्यों को काम मिल सके? केन्द्रीयभत उद्योग-धंधों के साथ घरेलू उद्योग-धन्धों को भी इस प्रकार क्यों न साधा जाय कि केन्द्रीय स्थानों के नष्ट होने पर सारा राष्ट्र फिर एक बार उन्हीं पर अविचलित रह सके?

जो हो, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत की आर्थिक उन्नति के लिए कलों की उपयोगिता बनी हुई है। सिद्धान्त-रूप से हमारी विदेशी सरकार ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है। वह इस ओर प्रगतिशील भी हुई है कि बड़े-बड़े केन्द्रीय उद्योग-धंधों की स्थापना करे। परन्तु अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के कारण उसने पग-पग पर भारतवर्ष के औद्योगीकरण में बाधाएँ डाली हैं—टेरिफ, आयात-निर्यात पर कर, बोर्ड ऑफ इन्डस्ट्रीज, बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल, सैकड़ों पचड़े हैं। भारतवर्ष के पूँजीपति भी अभी कुछ समय से ही उद्योग-धंधों के क्षेत्र में उतरे हैं और वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं—उन्होंने अदम्य साहस से आर्थिक

स्वार्थों को ठुकराते हुए गवर्नमेन्ट की स्वार्थी नीति का सामना किया है। आज उन्हीं के बल पर टाटानगर, अहमदाबाद, बम्बई और कानपुर जैसे नगर खड़े हैं। देश ने आत्मनिर्भरता का पाठ इतनी तेज़ी से पढ़ लिया है कि हमें आश्चर्य होता है। दो महायुद्धों के बीच की चतुर्थशताब्दी में ही देश बहुत कम चीज़ों के लिए विदेशों का मुहताज रह गया है। स्वतंत्रता के वातावरण में कुछ क्या न हो जाता ? फिर भी हतोत्साह और निराश होने की कोई बात नहीं है। जिन परिस्थितियों के निर्माण में हमारा हाथ नहीं है वे परिस्थितियाँ ही देश को कलों के राजमार्ग पर बढ़ा रही हैं।

—:o:—